THE BOOK WAS DRENCHED

भारतीय ग्रन्थमाला—संख्या २८

विश्व-संघ की ओर

लेखक

'भारत में अंगरेज़ी राज्य', 'गीता और कुरान'

आदि के रचयिता

सुन्दरलाल

और

'भारतीय शासन', 'साम्राज्य और उनका पतन'

आदि के रचयिता

भगवानदास केला

—:o:—

दूसरा संस्करण] सन् १९५० ई० [मूल्य, तीन रुपए

प्रकाशक :—
भारतीय ग्रन्थमाला
दारागंज (प्रयाग)



मुद्रक :—
गयाप्रसाद तिवारी बी. कॉम.
नारायण प्रेस,
नारायण बिल्डिंग्स, प्रयाग।

महात्मा गांधी की सेवा में

पूज्य बापू !

विश्व-संघ या विश्व-राज की योजनाएँ आज हर राजकाजी विचारक की ज़बान पर हैं। टिकाऊ विश्व-शान्ति के लिए इस तरह के किसी-न-किसी संगठन की ज़रूरत सब महसूस कर रहे हैं। पर कोई भी टिकाऊ विश्व-संघ सब इनसानों की बराबरी, भाईचारे, प्रेम और अहिन्सा के सहारे ही कायम हो सकता है। आज दुनिया में इन ऊँचे सिद्धान्तों के आप सब से बड़े प्रतीक हैं। इसलिए यह छोटी सी किताब स्नेह, नम्रता और आदर के साथ आप के कर-कमलों में भेंट की जा रही है।

इलाहाबाद
ता० १६ जून १६४४

सुन्दरलाल
भगवानदास केला

निवेदन

(पहले संस्करण से)

इस समय के संसार की एक खास समस्या पर बहुत नम्रता के साथ हम यह छोटी सी पुस्तक प्रकाशित कर रहे हैं। यह पुस्तक अपने महान विषय की भूमिका सी ही है। हमारा उद्देश्य केवल इतना ही है कि देश के विचारशील लोग इस विषय की ओर ध्यान देने की कृपा करें।

इक्कीस वर्ष पहले की बात है! श्री भाई (अब संन्यासी) भवानीदयाल जी के सम्पादन में दक्षिण अफ्रीका से निकलने वाले "हिन्दी" के ता० २७ जुलाई १६२३ के 'राष्ट्रीय अंक' में हमने एक लेख लिखा था—'सार्वभौम साम्राज्य'। उस लेख में "क्या इस समस्त भूमंडल पर कभी एक साम्राज्य होगा?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हमने अपनी आशावादिता इन शब्दों में प्रकट की थी—"हाँ, आशा है। जिस इतिहास में विविध राष्ट्रों के जीवन-मरण का वृत्तान्त लिखा है, उसी में विवेकी पाठकों को सार्वभौम साम्राज्य की आशा मिल जायगी। इतिहास फिर पढ़िये, और इस दृष्टि से पढ़िये कि विविध साम्राज्यों का ह्रास और पतन क्यों हुआ, उन कारणों को खोज निकालिये। पुष्टि के सिद्धाँत निश्चित कीजिये। उनका पालन होने पर, स्वार्थ की नींव हटा कर अपने पराये, काले गोरे, स्वामी और दास का भेद दूर करके परमार्थ की नींव पर मनुष्य-जाति का सार्वभौम साम्राज्य अवश्य बन सकेगा।"

उस लेख के अंत में हमने कहा था—"यह स्वर्गीय भावों वाला साम्राज्य कब बनेगा, कैसे बनेगा, उसकी शासन-प्रणाली कैसी होगी; उसमें भौतिक सभ्यता कितनी कम, और आध्यात्मिक सभ्यता कितनी अधिक, होगी; भारतवर्ष का उसमें कैसा उत्तरदायित्वपूर्ण स्थान होगा इन महान प्रश्नों पर फिर कभी विचार होगा। यह स्मरण रहे कि मनुष्यों की कई पीढ़ियाँ निरन्तर उसका उद्योग करें, कवि उसके सम्बन्ध में काव्य-रचना करें, गवैये उसका गान करें, लेखक उसके लिये लेख लिखें, और हाँ, स्वप्न देखनेवाले उसका स्वप्न भी देखें। परमात्मा की कृपा से, मनुष्यों के संगठन सम्बन्धी इस उच्च अभिलाषा की पूर्ति अवश्य होगी। जो आज विचार है, कल कार्य-रूप में परिणत हो ज़ायगा। जो अब सूक्ष्म है, भविष्य में स्थूल रूप धारण कर सब को दर्शन देगा, और सब का हित साधन करेगा।"

ऊपर की पंक्तियों में सार्वभौम साम्राज्य के सम्बन्ध में कुछ ब्योरेवार विचार करने की बात कही गई थी। हमें समय-समय पर इस काम की याद आती रही। सन् १९४० में 'साम्राज्य, और उनका पतन' पुस्तक को छपाने के लिए संशोधित करते समय तो यह काम विशेष रूप से सामने आया, लेकिन उस समय भी न हो पाया। इस बीच, संसार के राजनैतिक वातावरण के एक गहरे परिवर्तन ने हमारा ध्यान अपनी तरफ खींच लिया।

संसार के साम्राज्य-सूत्रधारों ने अपनी स्वार्थपरता, हिन्सा और ज़बरदस्ती का जहाँ तहाँ ऐसा नंगा नाच दिखाया कि लोगों में 'साम्राज्य' शब्द के प्रति ही घृणा बढ़ने लगी, यहाँ तक कि साम्राज्यों के कुछ कर्ता-

धर्ता तक अपने आप को 'साम्राज्यवादी' कहने में संकोच करने लगे, वे अपने साम्राज्यों को 'स्वतंत्र राष्ट्रों का समूह', 'राष्ट्र-मंडल' या 'कामनवेल्थ' आदि कहने लगे। ऐसी हालत में, अपना भाव प्रकट करने के लिए हमें अपनी पुस्तक का नाम 'सार्वभौम साम्राज्य' रखना ठीक न जचा। हमने 'विश्व-राज्य' नाम का विचार किया। असल में संसार भर में जिस एक राज्य के होने की हम कल्पना करते हैं, उसकी शासनपद्धति संघ यानी फेडरेशन के रूप में ही होगी। उसमें दुनिया के सब देश, सब राज्य बराबरी के नाते से मिलेंगे। उसकी तरफ प्रगति हो रही है, चाहे उसकी रफ्तार कितनी ही धीमी हो, और चाहे उसमें कितनी ही बाधाएँ क्यों न हों। इस बात को साफ करने के लिए इस पुस्तक का नाम 'विश्व-संघ की ओर' रखना ही ठीक समझा गया। पुस्तक के अन्दर कहीं-कहीं 'विश्व-राज्य' शब्द का भी उपयोग किया गया है। दोनों शब्दों से, हमारा मतलब एक ही है।

समय-समय पर इस विषय का जो साहित्य हमारे सामने आया, उसे हमने पढ़ा, और उसकी ज़रूरी बातें नोट कीं। इस तरह की सामग्री में हमें प्रसिद्ध विद्वान लाला हरदयाल जी की 'हिन्ट्स फ़ार सेल्फ कल्चर' नाम की अंगरेज़ी पुस्तक के आखिरी तीन अध्याय बहुत अच्छे और उपयोगी मालूम हुए। इन अध्यायों के आवश्यक अंश नोट कर लिए गए थे। इस सब सामग्री का उपयोग करके पिछले वर्ष (१९४३) एक छोटी सी पुस्तक तैयार करने का निश्चय किया गया।

इसी समय सौभाग्य से हमारे चिर परिचित, हमारे साहित्य-कार्य को सराहने वाले और हमारी दो पुस्तकों—'अपराध चिकित्सा' और

'साम्राज्य और उनका पतन' के भूमिका-लेखक श्रद्धेय पंडित सुन्दरलाल जी जेल से छूटे। आप जेल में सख्त बीमार थे और बीमारी ही के कारण, छोड़े गये थे। धीरे-धीरे आपकी सेहत कुछ सुधरी, तब आप से इस पुस्तक की चर्चा की गई, और इस विषय में विचार-विनिमय किया जाने लगा। पंडित जी को इस विषय से बहुत प्रेम था। जहाँ तक आपका शरीर सहन कर सका, आपने इस पुस्तक के लिए समय दिया। आपके प्रेमपूर्ण सहयोग और सच्ची लगन का ही फल है कि यह पुस्तक इस रूप में तैयार हो सकी।

जिस विषय पर हमने इक्कीस वर्ष पहले कुछ लिखने का विचार किया था, उस पर अब हिन्दी संसार के एक सुप्रसिद्ध महानुभाव की बहुमूल्य सहायता से, प्रकाश डालने का साहस किया है। अपनी कमी और त्रुटियों के लिए हम क्षमा चाहते हैं। हमारा नम्र निवेदन है कि मानव हित की दृष्टि से यह विषय इतना महत्वपूर्ण और उपयोगी है कि इस पर भारतवर्ष की ही नहीं, संसार की सभी भाषाओं में बहुत सा साहित्य तैयार किये जाने की ज़रूरत है। हमें आशा है, दूसरे योग्य विद्वान और सहृदय लेखक इस ओर ध्यान देंगे और सत्-साहित्य के प्रेमी उन्हें पूरा-पूरा प्रोत्साहन देंगे।

विनीत

२० जून
१९४४

दूसरे संस्करण की बात

कुछ बातों को छोड़ कर यह संस्करण पहले की ही तरह है। मौजूदा हालत के विचार से, इसमें जो सुधार करना ज़रूरी मालूम हुआ, कर दिया गया है। खासकर महात्मा गांधी के शान्ति सम्बन्धी प्रयत्नों, दिसम्बर १९४९ के शान्ति सम्मेलन, संयुक्तराष्ट्र (यू. एन. ओ.), एशियाई सम्मेलन, और अफ्रीका की जागृति का विषय बढ़ाया गया है। परिशिष्ठ में संयुक्तराष्ट्र का संगठन और इससे सम्बन्धित संस्थाओं का भी परिचय दे दिया गया है। इस तरह इस पुस्तक को अधिक से अधिक उपयोगी बनाने की कोशिश की गई है। आशा है, पाठक इससे भरसक लाभ उठावेंगे, और ऐसे साहित्य का प्रचार करना तथा विश्व-संघ के लिए लोकमत तैयार करना अपना फ़र्ज़ समझेंगे।

७ अप्रेल १९५० ई०

लेखक

सहायक साहित्य

—:o:—

'हिन्ट्स फ़ार सेल्फ़-कल्चर' ... श्री हरदयाल एम० ए०

'ए लास्टिंग पीस' ... एम० गारनेट, और
एच० डब्ल्यू० कोपलर

'असेन्शयल यूनिटी आफ़् आल
रिलीज़न्स' ... डा० भगवानदास

'प्रिफेस टु पीस' ... नार्मन एंजल

'दि यू० एन० ओ० हैंडबुक' ... एन्ड्रू बोमड

राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति ... रामनारायण यादवेन्दु

आत्म निर्माण ... चन्द्रशेखर शास्त्री

चरित्र निर्माण ... ,, ,,

महात्मा गांधी की वसीयत ... मंज़रअली सोख्ता

विश्ववाणी, वीणा, मानवधर्म, मधुकर, प्रताप, शुभचिन्तक, लोकवाणी, हरिजन सेवक आदि पत्र पत्रिकाएँ।

विषय सूची

—:०:—

पहला खंड; अब तक की यात्रा

दूसरा खंड; रास्ते की बाधाएँ

तीसरा खंड; कहाँ पहुँचना है ?

—: ० :—

पहला खंड

अब तक की यात्रा

पहला अध्याय

विषय प्रवेश

मेरा हृदय भूत काल में है, शरीर वर्तमान काल में है, और मेरी आत्मा भविष्य में है। —*एक दार्शनिक*

विश्व राज्य, विश्व-संघ, विश्व-बन्धुत्व और विश्व-शान्ति की बातें लोगों को निरी कपोल कल्पना मालूम होती हैं। इस पीढ़ी के आदमी एक नहीं, दो महायुद्धों को देख चुके हैं महायुद्ध के समय आदमी की बुद्धि, शक्ति, धन और समय सब का उपयोग हिंसक और नाशकारी कामों में होता है। हम अपने भाई-बन्धु और मित्रों की मौत की खबरें सुनते हैं, और अपने भोजन वस्त्र तक के अभाव का अनुभव करते हैं। हजारों साल के घोर परिश्रम से बसाए हुए सुन्दर नगर, बाग, पुल और घाट बात की बात में श्मशान बन जाते हैं। दिन भर की मुसीबतें झेल कर जब हम रात को आराम करने जाते हैं, तब भी मन को शान्ति नहीं मिलती। हम यही सोचते रहे हैं कि न मालूम सबेरे का समाचारपत्र क्या खबर लाएगा; कल क्या होने वाला है। महायुद्ध इतने बड़े पैमाने पर है, तो इस की परछांईं भी लम्बी ही होने वाली

है; न जाने कितने वर्ष तक हमारा जीवन इसके असर में रहे। और, कहीं ऐसा न हो कि फिर अगले महायुद्ध की तैयारी होने लगे, फिर यही विध्वंस चक्र, फिर यही आसुरी लीला ! इस तरह लोगों को न दिन चैन, न रात चैन। बीते कल के दुख को हम भूले नहीं, आज का दुख हमारे सामने है, और आने वाला कल भी अपनी नई-नई चिन्ताओं का दृश्य उपस्थित कर रहा है। ऐसी हालत में हमारा विश्व-संघ कोरा आदर्श समझा जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु अगले पृष्ठों को पढ़ने से यह साफ हो जायगा कि हम इसे कोरी कल्पना या आदर्श नहीं समझते। हम विश्व-संघ को, यानी संसार के सब राज्यों के आपस में मिलजुल कर शासन करने को, मानव समाज की अब तक की प्रगति का स्वाभाविक, तर्कसंगत और अनिवार्य मानते हैं। परन्तु थोड़ी देर के लिए मान लो कि यह केवल एक कल्पना या स्वप्न ही है, तो भी क्या हर्ज है ! क्या कल्पनाओं और स्वप्नों का मानव जीवन में कोई मूल्य नहीं है ?

इमर्सन ने कहा है कि 'कल्पना शक्ति के बिना मानव समाज नष्ट हो जाता है।' दुनिया का हर बड़ा काम पहले कल्पना के रूप में ही जन्म लेता है। आज दिन समुद्र पर भारी-भारी जहाज तैरते हुए जाते हैं, इस की पहले कल्पना ही तो हुई थी। भाफ के जोर से चलने वाली रेल और मशीनें हजारों लाखों घोड़ों की ताकत से काम करती हैं, यह बात एक दिन केवल कल्पना ही तो थी। आदमी हवाई जहाज में बैठ कर पक्षियों की तरह उड रहा है, इसकी भी तो पहले कल्पना ही की गई थी। रेगिस्तान में पानी की नहर बहेगी, गरम जलवायु वाले स्थानों में सर्द मुल्कों की चीजें पैदा होंगी, आदमी हजारों मील दूर की चीज देखने का यंत्र बनायेगा, ये सब बातें पहले पहल कल्पना के संसार में ही थीं। हजारों मील का समाचार बेतार के तार से हमें मिनटों में मिल जायगा; नदी, पहाड़, और समुद्रों से परे दूर देशों के आदमियों की आपस में इस तरह बातचीत हो सकेगी, जैसे दो

आमने सामने खड़े हुए आदमियों की होती है। जिस आदमी को हमारी आंखे देख नहीं पातीं, उसका चित्र हमारे सामने आ जायगा, किसी भी प्राणी के शरीर के भीतर के अगों की हालत हमें मालूम हो जायगी और हम उसी बिना पर उसकी चिकित्सा कर सकेंगे—ये सभी बातें किसी न किसी समय कल्पना रूप में रह चुकी हैं। कहाँ तक गिनावें, पाठक तनिक विचार करें तो इसी तरह के जितने चाहें, उतने उदाहरण ले सकते हैं। आज दिन विश्व में जितनी मानवी क्रियाएँ हो रही हैं, वे कभी न होने पातीं, अगर कुछ लोग अपने मन में उनका चित्र न बनाते। उनकी कल्पनाओं ने ही संसार में कुछ का कुछ कर डाला है। जिन महानुभावों ने पहले पहल किसी महान विषय की कल्पना की, उन्हें पागल और शेखचिल्ली आदि की उपाधि मिली, परन्तु इतिहास गवाह है कि मानव समाज उन पागलों या शेखचिल्लियों का कितना ऋणी है।

यह ठीक है कि कुछ कल्पनाओं या विचारों के अमल में आने के लिए बहुत समय लगता है। किसी को कुछ दिन या महीने लगते हैं तो किसी को सैकड़ों या हजारों साल लग जाते हैं। परन्तु इससे क्या ! मानव समाज की आयु करोड़ों वर्ष की है और यह समाज अभी अनिश्चित काल तक रहने वाला है। इस लम्बे समय में हजार दो हजार वर्ष भी किस गिनती में हैं। निदान, कल्पना या विचार का बड़ा महत्व है, साधारण मनुष्य इसे जल्दी नहीं समझ पाता। स्वामी विवेकानन्द ने कहा—"अगर आप पहाड़ की गुफा में जाकर रहने लगेंगे तो भी आपकी विचार-धारा पर्वत के कुरकोटे को भेदकर बाहर निकल आवेगी। सम्भव है, वह धारा सैकड़ों वर्ष तक कोई आश्रम न पाकर सूक्ष्म और अदृष्ट रूप से संसार में घूमती रहे, लेकिन एक न एक दिन वह किसी मस्तिष्क में आश्रम लेगी ही ! तब उस विचार-धारा के अनुसार काम शुरु होगा। निष्कपटता, पवित्र विचार और शुद्ध भावना इन में असीम बल होता है।"

इसलिये यदि विश्व-संघ की चर्चा और इस विषय के आन्दोलन को कुछ सज्जन, जो अपने आपको व्यवहार-कुशल समझते हैं, कल्पना या स्वप्न मानते हैं, और 'अव्यावहारिक' कहते हैं तो इससे विश्व-संघ में श्रद्धा रखने वालों और उसके विनम्र सेवकों को न तो अप्रसन्न होने की जरूरत है, और न निराश होने की। किसी भी नई चीज के लिए आन्दोलन करने वालों को ऐसी बातों के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। वे यह जानते हैं कि "इस तरह के सभी आन्दोलनों को जिनसे हमारा सम्बन्ध है, अपने लक्ष्य तक पहुँचने से पहले कई हालतों में से होकर गुजरना पड़ता है। पहली हालत उपहास की है। उसके बाद आन्दोलन की गति के साथ साथ निन्दा की हालत आती है। इसके बाद प्रायः किसी अंश में स्वीकृति और उद्देश्यों के प्रति गलतफहमी की हालत आती है। इसके साथ साथ चेतावनियाँ दी जाती हैं कि अंधेरे में लम्बी-लम्बी कुदान न मारी जायँ। आखिरी हालत आन्दोलन के अधिकाँश रूप में स्वीकृति की है। और, तब आश्चर्य प्रकट किया जाता है कि यह आन्दोलन पहले क्यों नही स्वीकार किया गया। ये भिन्न-भिन्न स्थितियाँ एक दूसरे के साथ मिली हुई, चलती हैं, पर पहली और आखरी हालत में बहुत अन्तर होता है।"*

इससे ज़ाहिर है कि कल्पनाओं या स्वप्नों को फजूल समझ कर उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए, उनमें बहुत शक्ति होती है; उनका संसार के निर्माण में बड़ा भाग रहता है। हाँ, यह ज़रूरी है कि कल्पना करनेवाले, कल्पना से सहानुभूति रखनेवाले और उसके कार्य-रूप में परिणत होने की इच्छा रखनेवाले केवल कल्पना करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री न समझ बैठें, बल्कि उसकी साधना में तन मन से लग जायँ, विघ्न-बाधाओं से न घबराते हुए और हमेशा आशावादी रहते हुए उसे सिद्ध करने में लगे रहें। हमारी कल्पना और इच्छा के

* श्री० जार्ज यूल के एक भाषण से।

साथ दृढ़ संकल्प और पूर्ण विश्वास होना चाहिए। हमें अपने उद्देश्य-सिद्धि की ऐसी धुन होनी चाहिए कि दुनिया हमें उसके लिए पागल कह सके। ऐसा होने पर हमारी कल्पना अवश्य ही स्थूल रूप में आकर रहेगी, चाहे इस समय किसी को इसकी आशा हो या न हो।

जब कि कल्पनाओं और विचारों का इतना महत्व है, तो क्यों न हम उन्हें लिख कर रखें। जो बात हम चाहते हैं जिस काम के पूरा होने के हम इच्छुक हैं, उसका साफ़-साफ़ रूप हमारे मन में हुए बिना काम न चलेगा, और साफ़-साफ़ रूप देने के लिए उसका लिखा जाना बहुत उपयोगी और ज़रूरी है। लेख-बद्ध होने पर दूसरों को उस पर ब्योरेवार विचार करने का मौक़ा मिलेगा, वे उस में अपनी योग्यतानुसार आवश्यक संशोधन कर सकेंगे। साथ ही पाठकों के सामने कोई धुंधला चित्र न होकर एक सुनिश्चित योजना होगी, वे उसे हर समय मनन कर सकेंगे, और उसका दूसरों में प्रचार कर सकेंगे। जो बात आज मुट्ठी भर लोगों के ध्यान में है, वह अधिकाधिक जनता के सामने आएगी, पहले सैकड़ों या हज़ारों और पीछे लाखों और करोड़ों आदमियों की सहानुभूति प्राप्त करेगी, उनके सहयोग से उसका आन्दोलन अधिकाधिक व्यापक और विस्तृत होगा, और अन्त में उसका लक्ष्य पूरा होगा।

यहाँ तक हमने इस बात पर विचार किया है कि यदि विश्व-संघ केवल कल्पना का ही विषय हो तो भी उसका विवेचन और मनन करने की बहुत ज़रूरत है। परन्तु वास्तव में विश्व-संघ तर्कसिद्ध और मानवसमाज की प्रगति का अनिवार्य परिणाम है। मनुष्य शुरू से ही समाज-प्रेमी है, उसे दूसरों के साथ मिलकर रहने की आदत है। वह परिवार में रहा, उसने क़बीले और जातियाँ बनाईं, गाँव और शहर बसाए। उस ज़माने की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए उसने नगर-राज्यों से काम लिया। वह और आगे बढ़ा; राष्ट्र-राज्यों तक पहुँचा। उससे आगे कई-कई राष्ट्रों को मिलाकर उसने आख़िर संघ-राज्यों और साम्राज्यों का प्रयोग किया। इस समय मानव-संगठन के ये सब नमूने

मौजूद हैं। पर मनुष्य अपनी हालत से संतुष्ट नहीं है। वह अनुभव करता है कि उसकी यह लम्बी यात्रा अभी कुछ बाक़ी है, उसका गंतव्य स्थान, उसकी मंज़िलेमक़सूद दूर है, और उस तक पहुँचे बिना अभीष्ट सिद्ध न होगा। उसका लक्ष्य विश्व-संघ है। इन बातों पर आगे के अध्यायों में खुलासा विचार होगा।

मानव समाज का आगे का संगठन विश्व-संघ के रूप में होना चाहिए। और, हमारा निश्चित मत और दृढ़ विश्वास है कि मानव समाज अपने विचार और व्यवहार में उसी ओर बढ़ता रहा है। उसका चाल चाहे कितनी भी धीमी रही हो, वह उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ता रहा है। अवश्य ही उसका मार्ग ज्यामिति की सीधी रेखा में नहीं है। उसकी गति को साँप की चाल से उपमा दी जा सकती है, जो दायीं-बायीं ओर बल खाता हुआ चलता है, और कभी-कभी किसी बाधा के कारण रुकता सा भी नज़र आता है, लेकिन फिर भी अपने लक्ष्य की ओर चलता रहता है।

पूरे मानव समाज की गति का विचार करते हुए हमें चाहिए कि हम विशाल दृष्टिकोण से काम लें। देश काल की छोटी-छोटी इकाइयों से काम नहीं चलेगा। एक साल या एक सदी मानव समाज की आयु में ऐसी ही है, जैसे किसी आदमी के जीवन में एक दिन या एक महीना। किसी बालक की एक दिन या एक महीने की रिपोर्ट देख कर उसके भविष्य का हिसाब लगाना कभी-कभी बहुत ही भ्रममूलक हो सकता है। सम्भव है, उस दिन या उस महीने बालक कुछ अस्वस्थ रहा हो। अथवा, यह भी हो सकता है कि जिस बालक का हम विचार कर रहे हैं, वह नमूने का काम न दे सकता हो, यानी वह अपने वर्ग का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व न करता हो। इसलिए चाहे जिस बालक की एक या अधिक दिनों की दशा देख कर यह कह बैठना असंगत है कि बाल-समाज अपनी आयु बढ़ने के साथ-साथ कमज़ोर होता जाता है। इसी तरह मानव समाज की कुछ पीढ़ियों के इतिहास के आधार पर यह

अनुमान करना भी ठीक नहीं कि वह प्रगति नहीं कर रहा है। यदि हम व्यापक दृष्टि से सिंहावलोकन करें तो हमें मालूम होजायगा कि मानव समाज निश्चित रूप से आगे बढ़ता रहा है।

इस पुस्तक के पहले खंड में इसी विषय पर विचार होगा। दूसरे खंड में उन बाधाओं के बारे में लिखा जायगा जो उस की भावी प्रगति में इस समय मौजूद हैं, और जिनको जान लेना और हटाने की कोशिश करना, हमारा कर्तव्य है। अन्त में तीसरे खंड में यह विचार किया जायगा कि हमारा लक्ष्य—विश्व-संघ—क्या है, उसकी स्थापना का आधार क्या होगा, उसकी संस्कृति, अर्थ-नीति, शासन-नीति आदि कैसी होगी, उस में शान्ति का उपभोग कैसे किया जायगा, पाशविक हिन्सा का परित्याग कर, किस तरह मनुष्य मानवोचित अहिन्सा का व्यवहार करेगा। ऐसे विश्व-संघ का निर्माण पहले हम अपने हृदय और अन्तःकरण में ही करें। इसके लिए कुछ चुने हुए राजनीतिज्ञों या कूट-नीतिज्ञों की ज़रूरत न होगी, यह कार्य मुझे, आप को, हर एक व्यक्ति को अपनी-अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार करना है, और अपना उदाहरण अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ जाना है। हमारे उत्तराधिकारी इस कार्य को कुछ और आगे बढ़ाएंगे, इस तरह मानव समाज आगे-आगे बढ़ता रहेगा, और विश्व-सङ्घ की मंज़िलें तय होती जायेंगी।

दूसरा अध्याय

सामाजिक भावना

यह मेरा है, और यह पराया है, ऐसा विचार क्षुद्र हृदय वाले करते हैं। उदार लोगों के लिए तो सारी मानव जाति ही उनका कुटुम्ब है। —*महाभारत*

आदमी सामाजिक प्राणी है, उसमें दूसरों के साथ मिल जुल कर रहने की भावना होती है। हम ज़रा यह विचार करें कि वह अकेला ही क्यों नहीं रहता। उसे सामाजिक जीवन क्यों पसन्द है? और, उसकी सामाजिक भावना किस तरह बढ़ती रहती है।

दूसरे प्राणियों की तरह आदमी में भी दो इच्छाएँ प्रबल होती हैं—(१) अपने आप को जीवित रखना, और इसलिए अपना भरण पोषण करना, और (२) अपने परिवार या नसल को बढ़ाना और उनकी हिफ़ाज़त करना। इन कामों के लिए ही मनुष्य को दूसरों के साथ मिलजुल कर समाज में रहने की ज़रूरत पड़ती है। मनुष्य को खाने पहनने के लिए भोजन वस्त्र चाहिए; सर्दी, गरमी और बारिश से बचने के लिए मकान चाहिए। कोई आदमी इन ज़रूरतों की पूर्ति अकेले रहकर नहीं कर सकता। मिसाल के तौर पर आदमी को भोजन के लिए अनाज चाहिए इसके वास्ते खेती करने की ज़रूरत होती है। परन्तु खेती के लिए हल आदि औज़ार चाहिए। अकेला आदमी स्वयं अपने लिए औज़ार नहीं बना सकता। उसे लोहे की ज़रूरत होगी। लोहा खान से निकालना पड़ेगा, फिर उसे गलाकर साफ़ करना होगा,

तब उससे औज़ार बनेंगे। अकेले आदमी से यह सब काम नहीं हो सकता, और यदि करे भी तो इतने समय तक उसका निर्वाह कैसे हो। फिर औज़ार बनने से ही तो मतलब सिद्ध न होगा। खेती करने का काम तो बाक़ी ही रहेगा, जिस में दूसरे आदमियों की मदद की ज़रूरत है। खेती करने से भी भोजन एक दम नहीं मिल जायगा। फ़सल तैयार होने में कुछ समय लगेगा, फिर उसे काटना होगा, इसके बाद भी उसे खाने लायक़ बनाने में कई मंज़िलें तय करनी होंगी। हर मंज़िल पूरी करने में समय, और दूसरों के सहयोग की ज़रूरत होती है। इस तरह यदि कोई आदमी अपने भोजन सम्बन्धी सब कामों को खुद ही करना चाहे तो उसे सैकड़ों काम करने पड़ें, तब कहीं भोजन तैयार हो। और, उस समय तक निराहार रहने से उस बेचारे के प्राण ही निकल जायँ! जैसी भोजन की बात है, ऐसा ही कपड़े, मकान आदि की है। किसी भी आदमी के लिए अकेले ही अपनी सब ज़रूरतों को पूरा करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। उसे पद पद पर दूसरों की मदद की ज़रूरत होती है। इसके अलावा जँगली जानवरों से अपनी और अपने बाल बच्चों की रक्षा करने के लिए भी आदमी को दूसरों का सहयोग चाहिए। इस तरह आदमी के लिए सामाजिक जीवन अनिवार्य है, लाज़मी है।

समाज में आदमी पूरी तरह स्वतन्त्र नहीं रह सकता। उसे दूसरों की सुविधा, असुविधा का ध्यान रखना होता है। उसकी स्वतन्त्रता की एक सीमा या मर्यादा रहती है। उसे कुछ नियमों का पालन करना होता है। परिवार में इन नियमों का रूप स्पष्ट नहीं होता, और वे ठीक तरह से तय किए हुए नहीं रहते, फिर भी नियम रहते अवश्य हैं। जब मनुष्य का सम्बन्ध अपने परिवार के बाहर के आदमियों से होता है, जब उसका समाज बढ़ जाता है तो नियम अधिक स्पष्ट और सुनिश्चित हो जाते हैं। नियमों का मतलब है, आदमी की स्वच्छन्दता या स्वतंत्रता का नियंत्रण उस पर रोक-थाम, अपने निजी स्वार्थ या लोभ पर अंकुश

रखना दूसरों के हितों या सुविधाओं का ध्यान रखना। इस तरह का नियम-पालन हमारे लिए हितकर ही होता है, मनुष्य में एक-से-एक अधिक बलवान होता है और यदि मैं स्वच्छन्दता-पूर्वक दूसरों की चीज़ों पर ज़बरदस्ती अधिकार करके अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगूँ तो जो मुझसे अधिक बलवान होगा, वह मेरा सर्वस्व छीन सकता है। इसकी नौबत न आने देने के लिए यह ज़रूरी है कि सब लोग अपनी अपनी स्वच्छन्दता पर कुछ रोक रखना मंजूर करें, हर आदमी दूसरों की सुविधा का ध्यान रखे, कोई किसी को कष्ट न दे, किसी के साथ अन्याय न करे। आदमी की यह भी इच्छा होती है कि दूसरों से सहानुभूति रखे और उनकी सहायता करे। ऐसा करने से उसे भी दूसरों की सहानुभूति और सहायता पाने की आशा होती है। इस तरह सामाजिक भावना और निजी स्वार्थ दोनों में गहरा सम्बन्ध है।

परन्तु इन दोनों में समय-समय पर संघर्ष भी होता रहता है। ज्यों-ज्यों आदमी में समझ आती जाती है, त्यों-त्यों वह अपने स्वार्थ को सामाजिक भावना के अनुसार नियंत्रित करता जाता है, और जहाँ तक बन आवे, दोनों का समन्वय करने की कोशिश करता है। मानव समाज का इतिहास एक तरह से इसी कोशिश की लम्बी कहानी है। मनुष्य ने कई मञ्जिलें तय की हैं, उसकी यात्रा अभी ज़ारी है; स्वार्थ और सामाजिकता का संघर्ष अभी मिट नहीं गया है; कभी-कभी तो इस संघर्ष का बड़ा विकराल रूप सामने आ जाता है। फिर भी विवेकशील मनुष्य यह अनुभव करते हैं कि जिस हद तक यह संघर्ष कम होगा, और समन्वय बढ़ेगा उसी हद तक मनुष्य की उन्नति मानी जायगी। शुरू में मनुष्य जाति हज़ारों बल्कि लाखों साल ऐसे बिता चुकी है; जब हर परिवार केवल अपने ही आदमियों का हित देखता था, और दूसरे परिवारों से लड़ता झगड़ता रहता था। उसके बाद थोड़े-थोड़े परिवारों ने मिलकर रहना सीखा। धीरे-धीरे ज्यादह बड़े गिरोह या फ़िर्क़े बने। इनमें एक गिरोह के सब लोगों ने आपस में प्रेम का व्यवहार करना

सीखा, पर दूसरे समूह के आदमियों को गैर और पराया समझा और उनसे उपेक्षा या शत्रुता का व्यवहार किया। कभी-कभी दो कबीले इस लिए मिले, क्योंकि उन्हें किसी तीसरे के हमले का डर था। इसी तरह कालान्तर में इन तीनों कबीलों ने बाक़ी के दूसरे कबीलों से अपनी रक्षा की।

आत्मरक्षा की भावना छोटे कबीलों को मिल जुल कर रहने, आपस में मित्रता का व्यवहार करने और बड़े-बड़े समूहों का निर्माण करने के लिए मज़बूर करती है। एक खेड़े या गाँव का दूसरे खेड़े या गाँव से सम्बन्ध हो जाता है, इन दोनों का तीसरे से, और फिर इन तीनों का किसी चौथे से। इस तरह ये कबीले अधिकाधिक बड़े होते जाते हैं। हर एक कबीले वालों की, पास के दूसरे कबीले वालों से पानी के चश्मों, चारागाहों वगैरह के लिए लड़ाइयाँ होने लगती हैं। इन लड़ाइयों के लिए हर कबीले के अन्दर एक तरह के शासन और एक सरदार की ज़रूरत होती है। इसी से राजा और राज्य की बुनियादें पड़ती हैं। राजा का गाँव धीरे-धीरे कस्बा या नगर हो जाता है। हर राज्य के अन्दर वहाँ के नागरिकों के ख़ास अधिकार माने जाते हैं। हर राज्य के नागरिक अपने राज्य के अन्दर रहने वालों को अपने समझते हैं, और दूसरे राज्य में रहने वालों को गैर और जँगली समझकर अकसर उनसे शत्रुता या दुश्मनी करते हैं।

यद्यपि समय-समय पर होने वाले इस तरह के संघर्षों और लड़ाई झगड़ों से स्पष्ट है कि मनुष्यों में संकीर्णता बनी हुई है, फिर भी आम तौर पर मनुष्य के अपने गिरोह या समाज का क्षेत्र धीरे-धीरे बढ़ता ही रहा है। शुरू में उसके प्रेम और सहानुभूति के अधिकारी इनेगिने लोग होते थे। बाद में वे बढ़ते गए। प्रायः मनुष्य ने संसार को दो भागों में बाँटा; एक भाग को उसने अपना समझा, और दूसरे को पराया या गैर। पहले भाग से उसने प्यार किया, उसके लिए कष्ट उठाया, ज़रूरत पड़ने पर वह उसके लिए अपनी जान न्यौछावर करने को तैयार रहा।

मनुष्य के अपने संसार का यह भाग, धीरे-धीरे बढ़ता रहने पर भी, अभी तक बाक़ी संसार की तुलना में बहुत छोटा ही रहा। उस बड़े भाग को, जिसे उसने ग़ैर समझा, कष्ट देने, छल कपट या बल से इसका माल हड़पने में मनुष्य को अब तक बहुत कम संकोच रहा है। फिर भी दूरदर्शी विचारवान लोगों को यह विश्वास है कि मनुष्य सदा संसार को इस तरह के दो भागों में—अपने और पराए में—नहीं बाँटता रहेगा। पिछले युगों में उसका अपना समझा जानेवाला संसार धीरे-धीरे बढ़ता रहा है, और यह क्रम या सिलसिला अब भी जारी है। एक दिन ऐसा आएगा कि उसके इस अपने संसार की सीमा सम्पूर्ण संसार तक पहुँच जायगी, फिर पराया या ग़ैर माना जानेवाला कोई भाग न रहेगा।

मनुष्य ने इस समय जो सामाजिक व्यवस्था मान रखी है, वह उसके अपने क्षेत्र के लिए अलग है, और दूसरे यानी ग़ैरों के लिए अलग। अपने परिवार, समूह या कबीले, अपने ग्राम या नगर अपने राष्ट्र या राज्य के लिए मनुष्य इस तरह के नियमों को स्वीकार करता है—सच बोलो, किसी की चोरी मत करो; किसी को मत सताओ, सबके हमारी सी जान है; सब से प्रेम और सहानुभूति रखो; जहाँ तक बन पड़े सब की सेवा और सहायता करो, ज़रूरत हो तो अपनी जान पर खेल कर भी इस कर्तव्य का पालन करो। कितने सुन्दर हैं ये नियम! अफ़सोस यही है कि ये बहुत छोटे क्षेत्र में बर्ते जाते हैं। इस क्षेत्र से बाहर संसार के जिस भाग को हम पराया या ग़ैर समझ रहे हैं, उसके लिए हमारे नियम सिद्धान्त में तो नहीं, पर व्यवहार में इससे बिल्कुल भिन्न होते हैं। उन्हें लिखकर निश्चित या स्पष्ट रूप बहुत कम दिया जाता है; प्रायः अपनी बदनामी के डर से कोई वैसा करने का साहस नहीं करता। यदि उन्हें मूर्त या साकार रूप दिया जाय तो कुछ इस तरह होगा—जिस चीज़ की हमें ज़रूरत है, उसे प्राप्त करना हमारा कर्तव्य है, जैसे भी बने छीन झपट कर या लूट मार करके उसे ले लेना चाहिए। दूसरों को

तकलीफ़ पहुँचाने से यहाँ तक कि ज़रूरत होने पर उनकी जान माल ले लेने से भी हमें संकोच नहीं करना चाहिए। गैरों से छल कपट करने में कोई दोष नहीं है, यह तो कूटनीति या होशियारी ही है। हमें अपने, और अपने बाल बच्चों, परिवार, नगर या राज्य के फायदे के लिए दूसरों से हिन्सा और घृणा के भाव रखना ज़रूरी है, इत्यादि।

समय समय पर साधु संतों, महात्माओं आदि ने यह उपदेश दिया है कि यह अपने पराए का भेद करना मनुष्य की अल्पज्ञता या मूर्खता है। यह पशुपन का व्यवहार है। मनुष्य को चाहिए कि इस पाशविक व्यवहार को छोड़ कर दैवी गुणों को—प्रेम, अहिन्सा, सेवा, सहयोग आदि को—अपने अन्दर धारण करे! उन्होंने यह भी प्रचार किया कि समस्त सृष्टि का रचयिता एक परमपिता परमात्मा है; चाहे उसे कोई किसी भी नाम से पुकारे। सब उसी की सन्तान हैं, इसलिए सब मनुष्य आपस में भाई-भाई हैं। जो आदमी सब की सेवा और मदद करेगा, उससे परमात्मा प्रसन्न होगा, वह स्वर्ग में जायगा और जो कोई भेद-भाव या हिन्सा का आचरण करेगा वह नर्क में भेजा जायगा, जहाँ बहुत कष्ट मिलेंगे। इन साधु-स्वभाव महात्माओं ने जनता की विचार-धारा का धरातल ऊँचा उठाने में विलक्षण कार्य किया है। फिर भी साधारण मनुष्यों के लिए अभीष्ट स्थान पर पहुँचना अभी भी कठिन मालूम हो रहा है। बड़े दुर्भाग्य की बात तो यह है कि लोगों ने इन धर्माचार्यों का भी बंटवारा कर लिया है। एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयाइयों से लड़ते-झगड़ते हैं। सब ने अपना अलग अलग ईश्वर बना रखा है। हर एक के ईश्वर के अलग-अलग नाम हैं, और वह अलग-अलग तरह के पूजा पाठ से प्रसन्न होता है। हर समूह स्वर्ग को अपने लिए सुरक्षित समझता है। उसकी समझ से दूसरे सब धर्मवालों को केवल नरक में ही जगह मिलेगी।

इसी तरह समाजनीति में हम अपने और पराए के भेद को भुला नहीं सके हैं। पहले, परिवारों का संगठन होने पर एक परिवार दूसरे

परिवार से लड़ता भिड़ता था, नगर-राज्यों का निर्माण हो जाने पर एक नगर-राज्य की दूसरे नगर-राज्य से लड़ाई होती थी; राष्ट्-राज्य कायम हो जाने पर अलग-अलग राष्ट्र-राज्यों का एक दूसरे से संघर्ष होता है। सामाजिक भावना और अधिक विकसित होने पर संघ-राज्यां का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु स्वार्थ भाव ने अब भी पीछा न छोड़ा। राष्ट्रों और संघ-राज्यों ने दूसरे प्रदेशों पर राजनैतिक और आर्थिक अधिकार जमा कर आज कल के नए साम्राज्यों की स्थापना की। इन साम्राज्यों में पहले तो सब भागों के स्वाधीन न होने के कारण स्वाधीन शासक-राष्ट्रों और पराधीन शासित देशों में संघर्ष चलता रहता है; साम्राज्य के अन्दर ही कलह रहता है। दूसरे, यदि साम्राज्य के सब भाग स्वाधीन हों, यानी साम्राज्य 'कामन वेल्थ' या राष्ट्र-मंडल का रूप धारण कर ले तो भी उसके नागरिक, उसकी सीमा से बाहर रहने वालों को पराया या गैर समझते हैं। इसलिए इन साम्राज्यों के युग में एक साम्राज्य का उसकी सीमा से बाहर के देशों से या दूसरे साम्राज्य से संघर्ष होना लाजमी है।

सारांश यह कि मनुष्य की सामाजिक भावना का साम्राज्य स्थापना तक बढ़ आना मनुष्य की उन्नति को जरूर साबित करता है। पर इससे भी मनुष्य की सुख शान्ति की समस्या हल नहीं होती, क्योंकि इस में भी अपने और पराए का भेद तो रहता ही है; और यही सब झगड़े और सब दुखों की जड़ है। इसका अन्त करने के लिए हमें याद रखना चाहिए कि हम सब मनुष्य हैं; यह केवल संयोग की बात है कि हम में से किसी का जन्म भारतवर्ष में हुआ, किसी का जापान में, और किसी का इङ्गलैंड या जरमनी आदि में। भाषा या रंग का भेद अलग-अलग देशों और आबोहवा से होता है। आपस के सामाजिक व्यवहार में इन भेद-भावों को महत्व न देना चाहिए। हमारे सामाजिक कर्तव्य का आधार यह नियम होना चाहिए कि हमारे सब विचार और कार्य पूरी मानव जाति के सुख और उन्नतिवाले हों; इस को बढ़ाने में

परिवार, वंश, जाति या राष्ट्रीयता का कोई पक्षपात न होना चाहिए। हम एक बहुत बड़ी वस्तु—मानव जाति—के नन्हें से अंग हैं। उस बड़े समाज को हमें अपनी दृष्टि से कभी ओझल न होने देना चाहिए।

इसलिए यह जरूरी है कि समाज-संगठन बड़े-से-बड़े आधार पर हो—राष्ट्र-निर्माण या संघ-राज्यों पर संतोष न किया जाय। हमें समस्त मानव समाज का एक और केवल एक "विश्व-संघ" बनाना होगा। जाति, रंग, सम्प्रदाय या देश किसी भी आधार पर किसी वर्ग, या समूह को उससे बाहर रखना अनिष्ट कारी होगा, वह हमारे छुटपन, हमारे अन्दर की कमी, हमारी अदूरदर्शिता, अनुदारता और अयोग्यता का विज्ञापन होगा। आओ! ऐसा आयोजन करें कि काले, गोरे, हिन्दू, मुसलमान, पार्सी, यहूदी और ईसाई, हबशी या पीले सब भाई-भाई की तरह एक विशाल परिवार के सदस्यों की भाँति प्रेम के साथ सहयोग और सहानुभूति पूर्वक रह सकें। हमारे इस प्रेम-मिलन से हम धन्य होंगे, और हमारी सब की माता, पृथ्वी माता धन्य होगी।

तीसरा अध्याय

परिवार

पिता का आज्ञाकारी हो, वह माता के मन से अपना मन मिलाके अर्थात् उसकी इच्छा के प्रतिकूल आचरण न करे। स्त्री अपने पति के लिए शहद से मीठे बचन बोले। —अथर्व वेद

मानव जाति की सेवा के लिए परिवार तुम्हारा सब से छोटा कार्य-क्षेत्र है। इस में तुम, तुम्हारी पत्नी और तुम्हारे बच्चे होते हैं। प्राणिशास्त्र की दृष्टि से परिवार समाज की स्वाभाविक इकाई है। --हरदयाल

हम बतलाचुके हैं कि मनुष्यों में धीरे-धीरे सामाजिक भावना का विकास हुआ है। परिवार से शुरु करके आदमी अधिकाधिक बड़े संगठनों की ओर बढ़ता रहा है। इस समय संसार में छोटे-बड़े अनेक संगठन हैं। अब हम मुख्य-मुख्य संगठनों में से हरेक के सम्बन्ध में कुछ विचार करेंगे। पहले हम परिवार को लेते हैं। यह समाज संगठन का प्रायः सब से पहला और कुदरती स्वरूप माना जाता है। परिवार में प्रायः एक पुरुष उसकी स्त्री और उसके बच्चे माने जाते हैं। पुरुष और स्त्री का एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक प्रेम और आकर्षण होता है, उसका प्रत्यक्ष फल संतान है।

परिवार के रूप में समाज-संगठन जैसा इस समय है, ऐसा शुरू में नहीं था। बहुत पुराने जमाने में स्त्री पुरुषों में विवाह-शादी करके टिकाऊ सम्बन्ध कायम करने का रिवाज नहीं था। बच्चे केवल मा के

साथ रहते थे; उस समय परिवार का अर्थ था, मा और उसके बच्चे। पीछे जा कर, पिता भी परिवार का सदस्य होने लगा। कहीं-कहीं दो या अधिक भाई अपने-अपने माता पिता के ही साथ नहीं रहते, बल्कि अपने चाचा, चाची, ताऊ ताई आदि के साथ रहते हैं। ऐसे परिवार को संयुक्त परिवार कहते हैं। हमारे देश के आदमी इस से अच्छी तरह परिचित हैं।

परिवार दो तरह के होते हैं—एक, पितृ प्रधान; जिनमें बालक अपने पिता, पितामह (बाबा) और प्रपितामह (परबाबा) आदि के वंश के माने जाते हैं, और हर आदमी की जायदाद का उत्तराधिकारी उसका बड़ा लड़का समझा जाता है। दूसरे, मातृ प्रधान; जिनमें वंश माता, नानी, परनानी आदि के नाम से चलता है; जायदाद पर अधिकार स्त्री का होता है, और उसकी वारिस उसकी बड़ी लड़की होती है। परिवार किसी भी तरह का हो, वह सारे समाज का छोटा सा रूप है। उस से समाज का व्यापक रूप बनता और विकसित होता है। पुरुष स्त्री दोनों एक दूसरे की सहायता और सेवा करते हैं; और दोनों मिलकर अपने बच्चों की जरूरतों को पूरा करते हैं।

परिवार आदमी को सामाजिकता की शिक्षा देनेवाली एक प्रमुख संस्था है। इसमें पुरुष और स्त्री को यह मौका मिलता है कि एक दूसरे के लिए त्याग करना और कष्ट उठाना सीखे, हर व्यक्ति दूसरे के स्वभाव, आदर्श और रुचि के साथ अपने स्वभाव, आदर्श और रुचि का मेल बैठावे, सामंजस्य पैदा करे, और वह भी इस तरह कि एक दूसरे के विकास में सहायक हो, बाधक न हो। प्रेम चाहता है—सेवा, संयम, उदारता और त्याग। जब पुरुष-स्त्री एक दूसरे के लिए इन गुणों का अभ्यास करते हैं तो वे जीवन के व्यापक क्षेत्र में भी इन गुणों का परिचय देते हुए समाज के लिए अपनी उपयोगिता बढ़ाते हैं।

संतान होजाने पर पुरुष और स्त्री दोनों उसकी ओर आकर्षित होते हैं; उसके हित में दोनों का हित, और उसके सुख में दोनों का सुख

केन्द्रित हो जाता है। यहाँ तक कि अनेक बार संतान के हित के लिए वे अपने सुख-दुख को बिल्कुल भूल जाते हैं। यदि यह भाव ठीक-ठीक बढ़ता जाय, जैसे हम अपने बच्चे को प्यार करते हैं, वैसे ही दूसरों के बच्चों को प्यार करें, यदि संसार के स्त्री-पुरुष जाति, धर्म, व्यवसाय, देश, रंग आदि के भेदों को भूलकर मानव संतान की सेवा सुश्रुषा में लग जावें तो हमें पारिवारिक जीवन से मिलने वाली शिक्षा का असली और पूरा फल मिल जाय।

इसी तरह सन्तान की दृष्टि से विचार किया जा सकता है। हम अपने माता-पिता की संतान हैं। माता-पिता ने हमारे पालन-पोषण के लिए जो कष्ट उठाए हैं, उसका वर्णन नहीं हो सकता। यदि मा अनेक बार स्वयं सर्दी, गरमी, भूख, प्यास आदि सहकर हमारे सुख सुविधा की चिन्ता न करती तो कौन जाने हमारी क्या गति होती; हम इतने बड़े हो भी पाते या नहीं। पिता ने हमारे वास्ते कितना परिश्रम किया है, इसकी मधुर स्मृति हृदय में रखने की चीज़ है। माता, पिता का हम पर कितना ऋण है, यह तो केवल अनुभव का ही विषय है। बड़ा होने पर जब कोई खुद माता-पिता बनता है, तभी उसे इस बात का कुछ ठीक-ठीक ज्ञान हो सकता है। निदान, माता-पिता के प्रति हमारा एक महान कर्तव्य है, और यह कर्तव्य एक दरजे तक दूसरे सम्बन्धियों या रिश्तेदारों आदि के प्रति भी है, जिन्होंने हमारे साथ बहुत स्नेह किया है, और जो हमारे हितैषी रहे हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि सन्तान के जन्म से पहले ही बाप का देहान्त हो जाता है, या जब बच्चा थोड़े दिन का होता है, मा चल बसती है, या वह ऐसी अस्वस्थ होती है कि बच्चे की सारसंभार तो क्या, उसे अपनी छाती से दूध भी नहीं पिला सकती। ऐसी हालत, में निकट सम्बन्धी बच्चे का भरण पोषण करते हैं। यदि बालक को उनकी सहायता, प्रेम और संरक्षण न मिले तो उसका जीना और कठिन हो जाय। फिर बड़े होने पर भी हमें उनसे कई तरह की मदद मिलती रहती है। सारांश यह कि हर आदमी खुद

अपने साथ और दूसरों के साथ होने वाले व्यवहार से अच्छी तरह समझ सकता है कि आदमी अपने सगे सम्बन्धियों का कितना ऋणी होता है।

हमें चाहिए कि उन सब से प्रेम करें, और उनके अहसान-मन्द रहें; उनके साथ आदर सम्मान, दया और शिष्टाचार का व्यवहार करें। यदि वे गरीब हों तो उनको धन से मदद करें, यदि वे कमजोर या रोगी हों तो उनकी सेवा-सुश्रुषा करें और उनके स्वास्थ्य और इलाज की व्यवस्था करें; हमेशा उन्हें प्रसन्न रखने की कोशिश करें। ऐसा करना हमारा कर्तव्य है, और हमें इसका ईमानदारी से पालन करना चाहिए। इस बात को पूरी तरह ध्यान में रखना है। साथ ही यह भी याद रखना है कि हमारे इस कर्तव्य की एक मर्यादा या सीमा है, जिसका हमें उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

हमारा काम अपने मा-बाप से और जहाँ तक हो सके दूसरे सम्बन्धियों से प्रेम करना और उनकी सेवा करना है। इसका मतलब यह नहीं कि हम उनकी हर आज्ञा को शिरोधार्य करने के लिए मजबूर हैं। जब बड़े हो जाएँ, हमारी विवेक बुद्धि जाग जाय और हम भलेबुरे, पाप पुण्य को समझने लगें तो हमें किसी बात का निर्णय करने के वास्ते, कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करने के लिए अपने अन्तःकरण से काम लेना चाहिए; हमें अपने माता-पिता या किसी दूसरे के कहने पर भी आँख मीच कर नहीं चलना चाहिए। हर आदमी का अन्तःकरण अलग है। हमारा अन्तःकरण हमारी माता के या पिता के अन्तःकरण से पृथक है; हमें अपने अन्तःकरण की स्वतंत्रता की रक्षा करना जरूरी है।

अकसर जब कोई व्यक्ति बड़ा होने पर भी अपने माता पिता के साथ रहता है, खासकर भारतवर्ष और चीन में, जहाँ संयुक्त परिवार की प्रथा है, युवकों के व्यक्तित्व का ठीक-ठीक विकास नहीं होने पाता; वे बात-बात में यही चाहते हैं कि उनका कोई बड़ा बूढ़ा उन्हें रास्ता

दिखावे, वे किसी भी विषय में अपनी आजाद राय नहीं रखते, और यदि रखते हैं तो उसे साफ जाहिर नहीं करते, उनके मन में एक तरह की लज्जा, संकोच या हिचकिचाहट रहती है, उन्हें डर रहता है कि न जाने माता पिता की राय क्या-क्या हो; यदि हमने अपना मत पहले प्रगट कर दिया तो कहीं उनसे विरोध न हो जाय; ऐसी हालत में दूसरे आदमी हमें ही दोष देंगे । इसलिए वे चुपचाप माता पिता या दूसरे बड़े बूढ़ों की हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं। अनेक बार यह देखने में आया है कि किसी युवक की कुछ रीति रिवाजों या रूढ़ियों में कोई श्रद्धा नहीं है, वह उन्हें व्यर्थ ही नहीं, हानिकर मानता है, फिर भी उनका पालन वह केवल इसलिए करता है कि ऐसा न करे तो माता पिता बुरा मानेंगे। पिछले दिनों इस देश में कितने ही युवक ऐसे पाए गए जो, केवल शुद्ध खादी पहिनना, देश की आजादी आन्दोलन में क्रियात्मक भाग लेना, और पर्दा प्रथा, मरणोत्तर जाति-भोज (औसर, मौसर) आदि का त्याग करना चाहते थे। वे कहते थे, क्या करें लाचार हैं, बुढ़ा या बुढ़िया यानी बाप मा बैठे हैं, तब तक हम यह बातें नहीं कर सकते, उनका शरीर पूरा हो जाने पर हम स्वतंत्र होंगे ।

यद्यपि कुछ सुन्दर अपवाद भी मिलते हैं, पर आम तौर पर रूढ़ियों के मामले में बड़े-बूढ़ों का मत और उनकी विचार धारा युवकों से भिन्न होती है, और वे अपने दृष्टिकोण को उचित से अधिक महत्व देते हैं, और युवकों से आशा करते हैं कि वे हमारे विचार के अनुसार ही सब काम करें। यह ठीक है कि उनकी उम्र अधिक होने के कारण उनका अनुभव दीर्घ काल का है, परन्तु जमाने के साथ साथ परिस्थि-तियाँ बदलती रहती हैं, हर पीढ़ी की समस्याएँ अलग-अलग होती हैं। मनुष्य जाति के सामने नए आदर्श नए सिद्धान्त और नई विचार-धाराएँ आती रहती हैं। जिस बात को हमारी पीढ़ी बहुत अच्छा समझती है, और बड़ी बुद्धिमानी और घोर परिश्रम का फल मानती है उसी बात

को अगली पीढ़ी सम्भव है, निकृष्ट और गई गुजरी माने। यदि सब बच्चे हर बात में अपने माता पिता का ही अनुकरण करते रहें तो मानव जाति की उन्नति ही कैसे हो? समाज जहाँ का तहाँ रहे।

जल का प्रवाह बन्द हो जाने पर वह सड़ जाता है। मानव समाज को भी ऐसे दुर्भाग्य से बचाने की बड़ी ज़रूरत है। यदि गौतम बुद्ध अपने माता पिता की इच्छानुसार ही अपना जीवन व्यतीत करते तो संसार उनके महान उपदेशों से वंचित रह जाता। कार्लमार्क्स का पिता चाहता था कि उसका पुत्र ऐसे विषयों के पढ़ने में लगे, जिनसे खूब धन कमा सके, उसकी दृष्टि से समाजवाद आदि की खोज और चिन्तन में लगना व्यर्थ और बेकार था, परन्तु कार्लमार्क्स ने अपना स्वतंत्र मार्ग निश्चित किया, उसने समाज को धन से कहीं अधिक मूल्यवान वस्तु दी; और अपने साथ अपने पिता का नाम भी चिरस्मरणीय बना दिया।

युवावस्था नई-नई बातों के सोचनेवाली, आशावादी, साहस वाली, जोखम उठानेवाली, गलतियों से न घबरानेवाली, और आगे बढ़ते रहनेवाली होती है; इसके विपरीत, बूढ़े आदमी आम तौर पर पुरानी बातों में लगे रहते हैं; फूँक-फूँक कर पाँव रखते हैं, कठिनाइयों से बचते हैं, पुराने ज़माने की रूढ़ियों और रीति रस्मों से चिपटे रहते हैं, नया प्रयोग करने का उत्साह नहीं रखते; वे अपने पुराने अनुभवों का गर्व करते हैं, और अच्छे-अच्छे नवयुवकों का व्यवहार देखकर भविष्य के प्रति अश्रद्धा और आशंका प्रकट किया करते हैं। जब तक दोनों पक्ष काफ़ी गम्भीरता और समझदारी से काम न लें उनमें संघर्ष की सम्भावना बनी रहती है। इसीलिए लाला हरदयाल का मत है कि युवक हो जाने पर हर पुरुष और स्त्री को, चाहे वह अविवाहित ही क्यों न हो, अपने माता पिता आदि बड़े-बूढ़ों से पृथक् घर बसा कर स्वतन्त्र रूप से रहना चाहिए; भविष्य को भूत के साथ, आशा को निराशा के साथ या जीवित को मृतक के साथ बाँधे रखना ठीक नहीं।

इस विषय में मतभेद की बहुत गुँजायश है; हमें लाला हरदयाल के कथन में अत्युक्ति मालूम होती है और अव्यवहारिकता भी। तनिक विचार कीजिए; लड़की का प्रायः चौदह पन्द्रह वर्ष की उम्र में, और लड़के का बाईस चौबीस वर्ष की उम्र में विवाह हो जाता है। इतनी उम्र तक वे शिक्षा पाने में लगे रहते हैं। ज्यों ही लड़का कालिज से छुट्टी पाकर अपनी जीविका कमाने में लगे, उसे दुनिया का यथेष्ट अनुभव नहीं हो जाता। लड़की घर के काम धन्धे की कुछ जानकारी भले ही प्राप्त कर ले, परन्तु गृहस्थी की गाड़ी चलाने के लिए उसमें जैसी योग्यता चाहिए वह एकदम नहीं आ सकती। ऐसी दशा में यदि यह नवदम्पति अपना अलग परिवार बना कर रहें तो उनका मार्ग बहुत कष्टदायक होगा। अभी उन्हें अपने बड़ों के संरक्षण की ज़रूरत है। स्वयं उनके विवाहित जीवन के लिए भी यह अच्छा है कि वे बिल्कुल स्वच्छन्द न रहें। योग्य माता पिता और सास ससुर के मर्यादित नियं-त्रण में वर बधु के आपसी विरोध का अवसर कम आता है, और वे अपने आप को एक दूसरे के अधिक अनुकूल बना सकते हैं। इसके अलावा बीमारी की हालत में उन्हें अनुभवी आदमियों की ज़रूरत हो सकती है।

यदि संयोग से वे अपने परिचित जनों से दूर किसी दूसरे स्थान में रहते हों, और युवक कहीं आफ़िस आदि में काम करता हो तो नववधू की बीमारी कितनी कष्टदायक हो जाती है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। ऐसे अवसर पर माता पिता या सास ससुर के साथ रहने से कितना आराम और सुविधा मिल सकती है। सम्भव है, यह कहा जाय कि युवक युवती की अपेक्षा मा बाप के बीमार रहने की सम्भावना अधिक है; इस तरह उनसे जितना आराम मिलेगा, उससे ज्यादह हमें उनकी सेवा करनी होगी। लेकिन यह भी तो एक कारण है कि हमें जहाँ तक हो सके अपने माता पिता के पास रहना चाहिए! जब तक हम असहाय और दूसरों के मोहताज थे, तब तक तो

हम उनके आसरे रहे, अब जब हम किसी क़ाबिल हुए और उन्हें हमारी मदद की ज़रूरत हुई तो हम उन्हें अकेला छोड़कर अलग रहने लगें, यह कहाँ की भलमनसाहत है। यह हमारी खुदगरज़ी और कृतघ्नता ही होगी। ऐसी ग़लत और कमज़ोर बुनियाद पर मानव समाज सुसंगठित नहीं हो सकता। हमें तो कृतज्ञता, निस्वार्थता, सेवा और त्याग की मिसाल क़ायम करनी है। इन बातों का मौक़ा हमें सब से पहले पारिवारिक जीवन में मिलता है, उसका हमें अपनी शक्ति भर उपयोग करना चाहिए।

यह कहा जाता है कि माता पिता की दृष्टि भूतकाल की ओर रहती है, और युवकों की भविष्य की ओर। परन्तु क्या इन दोनों के मेल और समन्वय की ज़रूरत नहीं है? केवल भूत काल की बातों से हमारा गुज़ारा नहीं हो सकता, और केवल भविष्य की बातों में भी हमें लीन न हो जाना चाहिए। हमें वर्तमान काल को संभालना है, जो भूत और भविष्य दोनों का संधिकाल, दोनों के मिलने की जगह है। इसलिए बेहतर है कि हम माता-पिता के साथ रहते हुए उनके भूतकाल के अनुभवों से लाभ उठावें। हाँ, माता पिता आदि का भी कर्तव्य है कि वे युवकों के दृष्टिकोण को समझने की कोशिश करते रहें और व्यक्ति-स्वातंत्र्य का ध्यान रखें। जब तक कोई ख़ास ज़रूरत तथा कोई अनिवार्य कारण उपस्थित न हो तब तक वे उनके काम-काज में फजूल दखल न दें। इस तरह प्रेम और समझ से काम लिया जावे तो युवकों और बड़े-बूढ़ों में मतभेद की दीवार बहुत चौड़ी नहीं होने पाती।* हम यह भी याद रखें कि बड़ी उम्र का अर्थ सदैव बुढ़ापा नहीं होता। प्रौढ़

*जब किसी युवक को यह अनुभव हो कि माता-पिता की आज्ञा का पालन करना उसके अन्तकरण के आदेश के विरुद्ध है, तो वह उसे पालन न करे, और यदि ऐसे प्रसंग बार-बार आने से परस्पर में कटुता आने की आशंका है, तो युवक का उनसे अलग रहना ठीक ही है। परन्तु यह विशेष दशा की ही बात है, साधारण नहीं।

आयु के बहुत से सज्जनों में युवकों से बढ़कर उत्साह, साहस, आशा और नवीनता का आदर पाया जाता है। वे 'साठा सो पाठा' की कहावत चरितार्थ करते हैं। इसके विपरीत, कितने ही युवक अपनी भरी जवानी की उम्र में भी बुढ़ापे का भार ढोए फिरते हैं; उनमें निरुत्साह, निराशा और निस्तेजता का दुखदायी समावेश होता है।

इस प्रसंग में प्राचीन भारतीय प्रथा का विचार करना उपयोगी होगा। यहाँ पुराने जमाने में आश्रम व्यवस्था चलती थी। उसके अनुसार आदमी पचीस वर्ष की आयु तक विद्या-उपार्जन करके गृहस्था-श्रम में प्रवेश करता था, और जब उसके बड़े लड़के का विवाह होकर उसके सन्तान हो जाती थी, यानी करीब पचास-पचपन वर्ष की उम्र में वह वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर लेता था। इस तरह उसकी सन्तान अपना काम चलाने में स्वतंत्र हो जाती थी, उस पर माता पिता के विचारों का प्रतिबन्ध नहीं रहता था। बुढ़ापा और यौवन अलग-अलग हो जाते थे। बूढ़े लोग घूमते फिरते थे और गृहस्थों को उपदेश देकर उनका पथ-प्रदर्शन या रहनुमाई करते थे। परन्तु समाज का काम चलाने वाले युवक और युवतियाँ (गृहस्थ) ही होते थे, जो गृहस्थ आश्रम का शुरू का कुछ समय (दो चार वर्ष) अपने पिता माता के संरक्षण में रहने के कारण कुछ सांसारिक अनुभव प्राप्त कर चुकते थे।

इस तरह यह आवश्यक है कि एक दरजे तक युवकों के मत-स्वातंत्र्य का आदर किया जाना चाहिए। समाज सेवा के विशाल क्षेत्र में अपने महान कर्तव्य का पालन करने के लिए वे सदा स्वाधीन रहें; हाँ ऐसा करते समय वे न तो विनय और शिष्टाचार को तिलाञ्जलि दें, और न उस ऋण को भूलें, जो उन्हें माता पिता आदि के प्रति प्रेम और सेवा करके चुकाना है।

यह स्पष्ट है कि परिवार हमारे सामाजिक संगठन की पहली और आवश्यक सीढ़ी है। किन्तु कुछ दशाओं में यह आगे की सीढ़ियों के

लिए बाधक भी हो सकता है, और हो जाता है। इस विषय का विचार आगे दूसरे खंड में किया जायगा।

—०—

चौथा अध्याय

कबीला और जाति

पिछले अध्याय में परिवार के बारे में लिखा गया है। वह समाज का एक छोटा सा स्वरूप है। पुराने ज़माने में जो परिवार एक ही पूर्वज की सन्तान होते थे, या अपने आपको ऐसा समझते थे, वे प्रायः पास-पास ही रहते थे। अब भी गांवों में खासकर जहाँ रेगिस्तान या पहाड़ी या जँगली प्रदेश हैं और आने जाने के साधन कम हैं, वहाँ निकट सम्बन्ध वाले परिवार अकसर इकट्ठे एक ही जगह रहते हैं। परिवारों से बड़े संगठन को कुल, कबीला, या बिरादरी या गोत्र कहते हैं।* एक कुल के सब आदमियों में रहन-सहन खान-पान और रीति-रिवाज की बहुत समानता होती है। वे आपस में अपनेपन का अनुभव करते, और खान-पान विवाह-शादी यानी रोटी बेटी का घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। उनमें जो बड़ा-बूढ़ा होता है, वह सबका मुखिया या चौधरी माना जाता है। कुल के सब आदमी उसकी आज्ञा में रहते हैं, उसे पूज्य मानते हैं, और उस के आदेशानुसार विविध कार्य करते हैं। कुल में माता पिता, उनकी संतान, पुत्र पौत्र आदि तो होते ही हैं, कभी-कभी अन्य ऐसे मनुष्य या परिवार भी शामिल कर लिए जाते हैं, जिन्होंने युद्ध-काल में कुल की सहायता की हो।

---

*आजकल प्रायः एक कबीले में कई-कई परिवार होते हैं, कबीला कई परिवारों का बना होता है, परन्तु पुराने ज़माने में कहीं-कहीं पहले एक कबीला रहा और बाद में इससे कई परिवार बन गए।

कुल या कबीले में परिवार के वे खास-खास लक्षण पाए जाते हैं, जिनका जिक्र हम पिछले अध्याय में कर आए हैं। एक परिवार का उसके पास में रहने वाले दूसरे परिवार से बैर विरोध न हो, इसका उपाय यही है कि पास-पास रहने वाले परिवार मिल कर एक कुल या कबीला बना कर रहने लगें। यदि कबीले में किसी आदमी का दूसरे आदमी से मतभेद होता है तो मुखिया उसे शीघ्र निपटा देता है, बैर-विरोध ज्यादा बढ़ने नहीं पाता, लड़ाई झगड़े की नौबत नहीं आती। इस तरह यह संगठन एक दरजे तक लोगों की रक्षा में सहायक होता है। यह अपने सब आदमियों की तरक्की और बेहतरी की कोशिश करता है। यदि दूसरे बाहर के आदमी इसके आदमियों को किसी तरह सताने या नुकसान पहुँचाने लगते हैं, तो यह उनका सामना करता है। उसका यह काम एक हद के अन्दर समाज के भले के लिए ही होता है, परन्तु उसका क्षेत्र परिमित है। वह इस हद से बाहर के आदमियों के दुःख सुख की परवाह नहीं करता; यही नहीं, अपने आदमी के सुख या स्वार्थ के लिए वह गैर या पराए आदमी को कष्ट देने या नुकसान पहुँचाने में कुछ संकोच नहीं करता, बल्कि ऐसा करने में एक तरह का गर्व अनुभव करने लगता है। यही कारण है कि जहाँ एक कबीले के लोगों में परस्पर ऐसा प्रेम होता है कि उसे एक परिवार के आदमियों के आपसी प्रेम से उपमा दी जा सकती है, वहाँ एक कबीले के आदमी दूसरे कबीले वालों से उस 'सौतेली मा' का सा व्यवहार करने लगते हैं, जो अज्ञान या मोहवश अपने ही बालक को चाहती है, और जिसे दूसरी मा का बालक फूटी आँख नहीं सुहाता।

कबीलों की आपसी ईर्षा और लड़ाई वर्षों और कभी-कभी पीढ़ियों तक चलती रहती है। अन्त में कभी उनमें से एक दूसरे को जीत लेता है, और कभी दोनों में मेल या सन्धि हो जाती है। इस तरह दो या अधिक कबीले मिल कर एक जगह रहने लगते हैं; उनके शासन या नियन्त्रण का काम उनके मुखियाओं की कमेटी या पंचायत करने लगती

है। धीरे-धीरे कई कबीलों के लोग बहुत समय तक पास-पास रहने के कारण आपस में इतने हिल-मिल जाते हैं, उनकी भाषा, रहन-सहन, सभ्यता, धर्म, परम्परा आदि में इतनी समानता आ जाती है कि उन सब को एक ही समूह या एक ही जाति समझा जाता है।

जाति या नसल का मूल आधार वर्ण या रङ्ग है। भारतवर्ष में जाति-भेद को वर्ण व्यवस्था ही कहा जाता है। सिद्धान्त से यहाँ जाति के आधार जन्म और कर्म दोनों माने जाते हैं। कहा जाता है कि वर्ण व्यवस्था या जाति व्यवस्था को भारतवर्ष के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों का समर्थन प्राप्त है, जो संसार के सबसे प्राचीन साहित्य का भाग है। परन्तु जानकारों का मत है कि वेदों में केवल दो ही वर्ण बताए गए हैं—आर्य और दस्यु। आर्य का अर्थ है श्रेष्ठ, सदाचारी; और दस्यु का अर्थ है दुष्ट, दुराचारी। इस तरह समाज का यह विभाजन असल में गुण कर्मानुसार ही है। वेदों ने वृत्ति या पेशे के आधार पर मानव समाज को चार हिस्सों में बाँट दिया है, अर्थात् धार्मिक वृत्ति वालों को ब्राह्मण, राजनैतिक वृत्ति वालों को क्षत्री, व्यावसायिक वृत्ति वालों को वैश्य और मेहनत मज़दूरी करने वालों को शूद्र कहा है। इसमें श्रम विभाजन के साथ एक दूसरे से पूरे सहयोग का भी विधान किया गया है। ब्राह्मण को ब्रह्मा का मुख, क्षत्री को भुजा, वैश्य को जाँघ, और शूद्र को पैर बताने का अर्थ यह है कि ये सब समूह मानव समाज रूपी शरीर के भिन्न भिन्न अंग हैं। इन अंगों में छोटे बड़े या ऊँच नीच का भाव नहीं, हर एक को दूसरे से सहानुभूति और सद्भाव रखना होता है; अपने अपने स्वार्थ का ध्यान रखने से सभी का अहित होगा। मिसाल के तौर पर यदि पैर में कांटा लगने पर माथा उसकी चिन्ता न करे, आँख उसे न देखे, हाथ उसे न निकाले तो सारे शरीर को कष्ट रहेगा। यह सिद्धान्त समाज-संचालन के लिए उपयोगी है, इसमें किसी को संदेह नहीं हो सकता।

मनुष्यों में श्रम या कर्म विभाग स्वाभाविक है। किसी आदमी की

प्रवृत्ति एक तरह के काम की ओर होती है, किसी की दूसरी तरह के काम की ओर। आम तौर पर मुख्य प्रवृत्तियाँ चार हैं—बुद्धि प्रधान, तेज प्रधान, वासना प्रधान और सेवा प्रधान। अँगरेज़ी लेखकों ने चार मकारों से इन्हें ज़ाहिर किया है, मिश्नरी (पादरी), मिलिटरी (सैनिक), मर्चेंट्स (व्यापारी), और मीनियल्स (सेवक)। इसलिए भारतवर्ष में शुरू में समाज के चार भाग (ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र) माने गए, तो कोई आश्चर्य नहीं। दुख का विषय तो यह है कि बाद में इन चार की संख्या बराबर बढ़ती ही गई। अब इनमें से हरेक के अन्तर्गत सैकड़ों छोटी बड़ी शाखाएँ हैं। फिर इनमें प्रान्तीय भेद भी माना जाता है। एक ही जाति के आदमी मूल निवास की भिन्नता के कारण अपने आपको अलग-अलग समझते हैं। जाति के इन भागों यानी उपजातियों ने जातियों का नाम धारण कर रखा है। इनमें कितनी ही जातियों के परिवारों की संख्या बहुत ही थोड़ी है। बहुत से आदमियों का मेलजोल रहन-सहन; खान-पान, विवाह सम्बन्ध आदि अपने अपने संकुचित क्षेत्र में ही होता रहता है।

इस तरह आम लोगों के विचार और काम का केन्द्र बहुत ही परिमित हो गया है। हर आदमी अपनी ही जाति का भला सोचता है। दूसरी जाति वालों की उसे कुछ चिन्ता नहीं। हर जाति के आदमी अपनी जाति की संस्थाएं स्कूल, वाचनालय, छात्रालय (बोर्डिंग हाउस) कारखाने आदि खोलकर अपनी-अपनी जाति वालों के लिए शिक्षा, आजीविका या व्यापार आदि की सुविधाएँ करते हैं, उनके लिए राजनैतिक अधिकार या संरक्षण माँगते हैं, चाहे उनके इन कामों से दूसरी जाति वालों का कितना ही नुकसान क्यों न हो। ये सब जातियाँ अपने सदस्यों के सामने तुच्छता और क्षुद्रता का उदाहरण पेश करती हैं। देश या समाज के बड़े हित की उपेक्षा करके, इनका अपना स्वार्थ सिद्ध करना सर्वथा निन्द्य और अनुचित है। पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य को अपनेपन का भाव अपनी स्त्री और बच्चों तक सीमित न

रखना चाहिए। उसी तरह उसे कबीले या जाति की सीमा से भी आगे बढ़ना चाहिए।

—:o:—

पाँचवाँ अध्याय

गाँव और नगर



अगर कोई आदमी केवल एक ही गाँव को नमूने का गाँव बना सके तो वह भारतवर्ष के लिए ही नहीं, शायद सारी दुनिया के लिए एक आदर्श उपस्थित कर सकता है।

—म० गाँधी

जिस तरह घर तुम्हारी घरेलू प्रवृत्तियों का क्षेत्र है, उसी तरह गाँव या नगर तुम्हारी राजनैतिक प्रवृत्तियों का क्षेत्र है। वास्तव में नागरिकता का पवित्र बन्धन ही तुम्हें सभ्य मनुष्यों की श्रेणी में रख देता है। तुम्हें अच्छा नागरिक होना चाहिए। नागरिकता की भावना के बिना नीतिशास्त्र बेमतलब की चीज है। —हरदयाल

पिछले अध्यायों में हमने मनुष्यों के ऐसे संगठनों के बारे में विचार किया है, जिनका आधार या तो जन्म यानी वंश है, या धर्म है। अब हम स्थान या जगह की दृष्टि से विचार करते हैं। आजकल आदमी किसी-न-किसी गाँव या नगर में रहते हैं। हमने उस युग के पीछे छोड़ दिया है, जब आदमी जंगल में खुदरौ (स्वयं पैदा होनेवाले) फलों पर गुजारा करता था या शिकार करके अपना पेट भरता था। उस हालत में आदमी अपने फलाहार या शिकार की खोज में फिरता रहता था; आज यहाँ कल वहाँ। उसका कोई निश्चित ठौर ठिकाना न था। फिर जब वह खेती करने लगा तो उसकी आवरागर्दी कम हो गई। अब उसका अपने खेत के पास रहना जरूरी हो गया। उसे जमीन

तैयार करने और जोतने, फिर बीज बोने, पानी देने का, और निराई (खेत में से फालतू घास फूस निकाल देने) का काम करना था। उसके बाद फसल पकने तक जानवरों से उसकी रक्षा करना था, बाद में फसल काटने और उसे घर लाने का काम था। इस तरह आदमी बहुत दिनों तक दूसरे स्थानों में नहीं जा सकता था। खेती ने उसे एक ही जगह रहने पर मजबूर कर दिया। खेती करने वालों को एक दूसरे की मदद की भी जरूरत रहती है। खेती में काम आने वाले पशुओं को चराने और उनकी देख भाल करने, फसल की रक्षा करने और पकने पर उसे काटने आदि का काम एक ही आदमी नहीं कर सकता। इन कामों में एक दूसरे को मदद देने के लिए कुछ आदमियों को मिल कर एक जगह रहना होता है। फिर, खेती के तरह-तरह के औजार बनाने और उनकी मरम्मत करनेवाले भी नजदीक में ही रहने चाहिएँ। इस तरह धीरे-धीरे कुछ आदमी इकट्ठे और स्थायी रूप से एक ही जगह घर बना कर रहने लगते हैं। उनकी बस्ती को खेड़ा या गाँव कहते हैं।

जब आदमी स्थायी रूप से एक जगह रहने लग गए तो उस बस्ती से उनका गहरा सम्बन्ध हो गया। उसे जहाँ तक हो सके साफ सुन्दर, उपजाऊ और स्वस्थ बनाने की तरफ ध्यान जाने लगा। ऐसा करने में वहाँ के सभी आदमियों का लाभ है। पारस्परिक सहयोग से काम अच्छा होता है। एक गाँव या नगर के आदमियों को अपने तरह-तरह के कामों में एक दूसरे की मदद की जरूरत होती है। इस तरह धीरे-धीरे सार्वजनिक भावना पैदा होती और बढ़ती जाती है। यह सहयोग और सहायता की बात सभ्यता के उस शुरु जमाने से ही चली आ रही है, जब से आदमी खेती करने लगे। खेती का धंधा है ही ऐसा, जिसे कोई आदमी अकेला केवल अपने बल पर नहीं कर सकता। पीछे, ज्यों-ज्यों सभ्यता की उन्नति होती गई सहयोग की भावना बढ़ती गई, अथवा यह कहा जा सकता है कि मानव सभ्यता का इतिहास ही

सहयोग की वृद्धि का इतिहास है।

गाँव—कुल या कबीलों के बारे में पिछले अध्याय में लिखा गया है। खेती के युग में उन्होंने स्थायी निवास बनाकर अर्थात् निश्चित जगह पर रहकर ग्राम-समाज का रूप धारण किया। कबीलों में जो स्थान बड़े-बूढ़ों या गुरु जनों का था। ग्राम-समाज में वह स्थान पंचों का हुआ पंचायत का निर्माण गाँव के बड़े-बूढ़ों से ही होने लगा। ग्राम-समाज का उद्देश्य सब के सुख सुविधाओं की व्यवस्था करना था। इसका एक सम्मिलित कोष तथा सामूहिक भूमि आदि सम्पति होती थी। कोष में सर्वसाधारण विवाह-शादी आदि विशेष अवसरों पर चन्दा देते थे। धनी परिवारों से दान भी मिलता था। कोष से ग्राम सम्बन्धी सार्वजनिक कार्य किए जाते थे, जैसे मन्दिर आश्रम, पाठशाला, तालाब, घाट, चौपाल (पंचायत घर) कुआं, सड़क पुल आदि बनवाना। यह कोष बहुधा मंदिरो में रहता था, और मंदिर का पुजारी इसकी व्यवस्था करता था। आवश्यकता होने पर इस कोष से निर्धन व्यक्तियों को सहायता या ऋण भी दिया जाता था। चीन और भारत आदि देश में ऐसी व्यवस्था को याद दिलाने वाली कुछ बातें अब भी मिलती हैं।

गाँव (कस्बा या नगर) हमारा 'राजनैतिक घर' है। यहाँ रहनेवाले सब मनुष्यों और स्त्रियों से हमारा एक तरह का राजनैतिक सम्बन्ध है। हर आदमी जो हमारे गाँव (या नगर) में रहता है, हमारा नागरिक भाई है। हमारा यह निवास स्थान हमारा असली कार्यक्षेत्र है। इसकी गली-गली से हम परिचित हैं, यहाँ के नदी नाले, टीले, खेत, जंगल और चरागाहों से हमें प्यार है। क्यों न हो, यहाँ की मिट्टी और जल से हमारा भरण-पोषण हुआ है। यहाँ की तरक्की और सुधार करना और अपने नागरिक भाइयों के प्रति सहयोग की भावना रखना हमारा परम कर्तव्य है। यह हमारी सभ्यता की कसौटी है। इसमें सन्देह नही कि हमें अपने राज्य या राष्ट्र के नागरिक कहा

जाता है, परन्तु राज्य और राष्ट्र इतने बड़े होते हैं कि उनके पूरे रूप से हमारी घनिष्ठता नहीं होती । उनके बारे में आगे लिखा जायगा। यहाँ गांवों की मौजूदा हालत में कैसे सुधारों की जरूरत है, इस का विचार किया जाता है।

हर गाँव का आकार प्रकार और आमदनी ऐसी होनी चाहिए कि वहाँ शिक्षा स्वास्थ्य आदि की ठीक-ठीक व्यवस्था हो सके। भारतवर्ष में अनेक बस्तियाँ ऐसी हैं, जिनमें घरों की तादाद पूरी बस्ती में एक दर्जन भी नहीं है और, ऐसे गाँव तो सैकड़ों या हजारों ही नहीं, लाखों हैं, जहाँ शिक्षा के लिए प्रारम्भिक पाठशाला तक नहीं; बीमारों को दवाई देने वाला कोई वैद्य नहीं; स्वास्थ्य सम्बन्धी दूसरी बातों का तो कहना ही क्या जहाँ पीने के लिए साफ पानी का भी प्रबन्ध नहीं। लोगों के लिए स्वास्थ्यप्रद भोजन वस्त्र के अलावा हर गाँव में माध्यमिक पाठशाला, साधारण दवाखाना, वाचनालय, पुस्तकालय, रोशनी का प्रबन्ध, गन्दे पानी के बहाव के लिए नालियों, और बरसात में भी अच्छी तरह काम आनेवाली सड़कों की ज़रूरत है।

खेती की ज़मीन दूर-दूर बिखरी हुई होने से कितनी हानि है, और चकबन्दी की कितनी ज़रूरत है, यह सहज ही समझ में आ सकता है। ये सब बातें खासकर भारतवर्ष को नजर में रखकर कही गई हैं, परन्तु कई दूसरे देशों के सम्बन्ध में भी ठीक हैं। आजकल शिक्षित और सम्पन्न लोग शहरों की तरफ दौड़ रहे हैं। सभ्यता नगरों में केन्द्रित होती जा रही है। गाँवों की तरफ से प्रायः बेपरवाही हो रही है। वहाँ आदमी ठीक-ठीक भोजन-वस्त्र भी नहीं पाते; दरिद्रता का तांडव नृत्य है। कूड़े कचरे के ढेर और गन्दी आबोहवा में मनुष्यों का दम घुटता है, वे रोगी और अल्पायु होते हैं, तिसपर भी ऐशिया और अफ्रीका में गाँव के रहनेवालों की तादाद ज्यादह होने से संसार की अधिकांश जनता ग्रामीण या देहाती है। गाँवों की दुर्दशा मानवता के लिए एक कलंक है, इसका अन्त जल्दी से जल्दी किया जाना चाहिए।

गाँवों के लिए जिन-जिन ज़रूरतों का ऊपर ज़िक्र किया गया है, उनका पूरा होना गाँवों की जनता के बहुत छोटे-छोटे भागों में बटे और बिखरे हुए होने की हालत में मुमकिन नहीं है। बहुत छोटे-छोटे खेड़ों में अलग-अलग स्कूल और अस्पताल आदि कैसे कायम किए जा सकते हैं ! और यदि किए भी जाँय तो इन पर कितना अधिक धन ख़र्च करना पड़े ! इसलिए छोटे-छोटे गाँवों के समूह बना देने चाहिएँ, जिससे हर ग्राम-समूह अपनी मामूली ज़रूरतों के लिए बाहर के गाँवों के आश्रित न रहे। इस तरह का ग्राम-समूह करीब दो तीन मील लम्बा और करीब इतना ही चौड़ा हो; उसकी आबादी लगभग डेढ़ दो हज़ार हो सकती है। आने जाने के साधन की उन्नति होने पर यह क्षेत्र कुछ बढ़ सकता है, पर बहुत अधिक बढ़ाना ठीक नहीं।

यह कहा जा सकता है कि ग्राम-सुधार का काम बहुत बड़ा है। इसे ठीक-ठीक करने के लिए बहुत धन चाहिए; वह कहाँ से आवे ? इस बारे में नीचे लिखी बातें ध्यान में रखनी चाहिएँ। राज्य की कुल आमदनी कितनी है, और आबादी कितनी है। इस तरह हर हज़ार आदमी पीछे कितना औसत ख़र्च किया जा सकता है। हर ग्राम या ग्राम-समूह के लिए खर्च का अन्दाज़ा करते समय जहाँ तक हो सके इस औसत का ख्याल रखा जाय। विशेष हालतों में एक क्षेत्र के लिए औसत से कुछ कम ज्यादह भी ख़र्च कर सकते हैं। गाँव की और शहर की जनता में इस समय जो बहुत ज्यादह भेद भाव रखा जाता है, और गाँववालों से जो सौतेली माँ का सा व्यवहार होता है, वह सर्वथा अनुचित है।

जो लोग शहरों में रहते आए हैं, या शहरों की ही सभ्यता को सभ्यता मानते हैं, उन्हें यह बात रुचेगी नहीं। लोगों की यह धारणा बन गई है कि नगर तो विद्या, सभ्यता, शिक्षा और स्वास्थ्य आदि के केन्द्र होने ही चाहिएँ; गाँवों का चाहे जो हो। किन्तु हम गाँव और नगर दोनों को देश का एक बराबर अंग और दोनों की जनता को देश

की संतान समझकर जहाँ तक बन पड़े समानता की बात कह रहे हैं। यदि गाँव के भाई भूखे मर रहे हैं, और अपना तन ढकने के लिए भी कपड़ा नहीं पा रहे हैं, और नगरों में विलासिता के साधनों को जुटाने में धन खर्च किया जा रहा है तो यह बिल्कुल अंधेर है। जिन चीज़ों से सिर्फ़ नगरों के ही आदमी लाभ उठाते हैं, उनके खर्च में गाँव वालों को भी हिस्सेदार बनाना सरासर अन्याय है। गाँवों के सुधार और उन्नति के लिए प्रायः हर देश में रुपए की कमी रहती है; इसका इलाज यही है कि हम अपना दृष्टिकोण बदलें।

प्राचीन काल में साधु-संत ऋषी-मुनि गाँवों में रहते थे अब भी कुछ भले लोगों को गाँव में रहना पसन्द है। आवश्यकता है कि आजकल के 'सभ्य' आदमी मानवता के लिए गाँवों में रहें और गाँवों का सांस्कृतिक धरातल ऊँचा उठाने में सहायक हों। गाँवों और शहरों की हालत में जो भयङ्कर विषमता है, उसका अन्त होना ही चाहिए। जहाँ तक हो सके, गाँवों की अच्छी बातों की—प्राकृतिक दृश्य, हरियाली, ताजी हवा, सरल जीवन आदि की व्यवस्था नगरों में, और, नगरों की सड़क, स्कूल, डाक, अस्पताल आदि अच्छी बातों की व्यवस्था गाँवों में भी होनी चाहिए। और, जो बातें बुरी हैं, सदाचार के खिलाफ़ और मानवता के लिए हानिकर हैं, उन्हें गाँवों और नगरों दोनों से हटाना चाहिए।

हमें एक आदर्श गाँव की कल्पना अपने सामने रखनी चाहिए और उसे अमल में लाने की लगातार कोशिश करते रहना चाहिए। महात्मा गांधी के विचार से हर आदमी को साधारण भोजन के साथ-साथ हर रोज़ आध सेर दूध और दो तोले घी या ढाई तोले मक्खन, साग तरकारी और कुछ मौसमी फ़ल मिलने ही चाहिएँ, कपड़ा भी आवश्यकतानुसार होना चाहिए। महात्मा जी ने अपनी तरह सबके लिए सिर्फ़ एक छोटी सी धोती पहनने की बात नहीं कही। पुरुषों के लिए उन्होंने कुर्ता, ओछी धोती और टोपी ज़रूरी समझी; स्त्रियों के लिए उन्होंने

पञ्जाब की पोशाक—कुर्ता दुपट्टा और सलवार अच्छी मानी। आजकल गाँव वालों का जैसा अपूर्ण भोजन-वस्त्र है उसे देखते हुए बात अव्यवहारिक मालूम होती है। परन्तु मौजूदा हालत अस्वाभाविक और अन्यायपूर्ण है। इसका जल्दी से जल्दी अंत करना ही होगा।

पशुओं और खेती आदि के सम्बन्ध में महात्मा जी का मत है कि 'मवेशियों के बारे में गाँव वालों को परस्पर सहयोग से काम लेना चाहिए। उन्हें गाँव भर में उतने ही मवेशी रखने चाहिए, जितने की उन्हें ज़रूरत हो। जानवरों के रखने का इन्तजाम सारे गाँव की तरफ़ से शराकत में किया जा सकता है। अगर गाँव वाले इस तरह मिलजुल कर काम करना सीखें तो बहुत तरक्की कर सकते हैं। इसी तरह खेती में भी सहकारी तरीके से यानी मिलजुल कर काम कर लेना चाहिए। गाँव की सारी पैदावार का बँटवारा भी मेहनत करने वालों में ही होना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि मेहनत का हिसाब नहीं रहेगा; हरेक की मेहनत का हिसाब तो ठीक-ठीक रखना ही पड़ेगा। जब तक हम यह नहीं कर सकते तब तक सत्य और अहिन्सा की दृष्टि से आदर्श समाज तक नहीं पहुँच सकते। और, अहिन्सक समाज मेलजोल और सहयोग पर ही क़ायम हो सकेगा।'

महात्मा जी हर गाँव में एक तरह का लोकराज्य (रिपब्लिक) क़ायम करना चाहते थे। उनका कहना था कि दो चार साल के लिए लोग किसी एक आदमी को अपना सरदार मान सकते हैं लेकिन बाद में उसके बिना भी काम चला सकते हैं, क्योंकि लोकराज्य में कोई सरदार होता ही नहीं। लोग एक दूसरे को नज़दीक से जानते हैं। आजकल के से चुनावों का सा किस्सा नहीं होता, जहाँ लाखों, करोड़ों वोटर होते हैं, और उन्हें पता ही नहीं होता कि उम्मेदवार कौन शख्स है। लोगों के पसन्द का सरदार उन्हें दबा नहीं सकता। पुराने ज़माने में हमारे यहाँ इसी तरह की कोई तजवीज थी।

ये बातें भारतवर्ष को नज़र में रखकर कही गई थीं, परन्तु दूसरे

देशों के गाँवों के सम्बन्ध में भी उपयोगी हैं। हमने ग्राम सम्बन्धी बातों को तनिक विस्तार से लिया है, इसका कारण यह है कि संसार की अधिकांश जनता ग्रामों में ही रहती है। जब तक गाँव की जनता के उद्धार का ठीक-ठीक प्रयत्न न होगा, संसार का भला नहीं हो सकता। इस समय जिस तरह जाति-पाँति, धर्म, राष्ट्रीयता आदि की कृत्रिम दीवारों से मानवता का गला घुट रहा है, उसी तरह एक संसार व्यापी भेद-भाव ग्रामीण और नागरिक जनता का है। नगरों में रहनेवालों को शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की, और अपनी शक्तियों के विकास की जितनी सुविधाएँ हैं, उनकी तुलना में ग्रामवासी बन्धुओं का क्या हाल है! और, यदि नगरों की अधिकांश जनता शिक्षित, सुखी सम्पन्न हो भी जाय, और ग्रामों को अधिकांश जनता मूर्ख, रोगी, और दुखी रहे तो विश्व का कल्याण कैसे हो सकता है! यह विषमता अब असहनीय है, थोड़े से नगरों के आदमी, वे चाहे जितने योग्य और कुशल क्यों न हों, सारी मानव जनता के उत्थान का भार अपने कन्धों पर नहीं उठा सकते। निदान, आम जनता की शक्ति और योग्यता का धरातल ऊंचा उठाने की बहुत ज़रूरत है।

नगर—अब हम नगरों का विषय लेते हैं। कुछ बातें तो वही हैं, जो ऊपर गाँवों के बारे में कही गई हैं, विचारशील पाठक उनमें आवश्यक हेरफेर करके उन्हें नगरोपयोगी बना लेंगे। यहाँ कुछ दूसरी बातों की चर्चा की जाती है।

एक नगर न तो बहुत छोटा होना चाहिए, और न बहुत बड़ा। वह ऐसा बना होना चाहिए कि गाड़ी या इक्का तांगा उसकी हर गली और हर कोने में जा सके। आबादी इतनी हो कि हर नागरिक अपने यहाँ के प्रश्नों को समझ सके, नगर की सार्वजनिक सभाओं में भाग ले सके और अपने यहाँ के नेताओं आदि को जान सके, उनके भाषण आदि सुन सके और उस पूरे क्षेत्र के प्रति अपने कर्तव्य का अनुभव कर सके। ये सब बातें उन बड़े-बड़े शहरों में नहीं हो सकतीं जो पिछले

सौ सवासौ वर्ष के अन्दर दूषित औद्योगिक संगठन आदि के कारण बढ़ गए हैं, पश्चिम के देशों में तो ऐसे नगर अनेक हैं; भारतवर्ष में भी कलकत्ता बम्बई आदि बढ़ते जा रहे हैं। म्युनिसिपल कार्य सुचारु रूप से होने के लिए आवश्यकता है कि इन नगरों के कई-कई नगर कर दिए जायँ और किसी एक नगर में जहाँ तक हो सके एक लाख से ज्यादह आदमी न हों। बड़ी आबादीवाले नगरों में सच्ची लोकतंत्रता का व्यवहार नहीं हो सकता, नौकरशाही बढ़ जाती है।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी शहरों का विस्तार हद के अन्दर रहना चाहिए। आजकल अनेक नगर इतने बड़े होते हैं कि उनके कई हिस्सों से हर रोज़ खुली हवा का सेवन करने या प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लेने के लिए बस्ती से बाहर जाना बहुत कठिन होता है शहरवालों के लिए खेत और चरागाह देखना, तरह-तरह के पक्षियों की आवाज सुनना, ताजे फूलों की सुगन्ध लेना जैसी बातों का अवसर बहुत कम आता है। हम प्रकृति से कितनी दूर रहते हैं! फिर, हमें खाने पीने की चीजें शुद्ध और अच्छी नहीं मिलतीं। इन सब बातों के सुधार की बड़ी जरूरत है।

अस्तु, नगर निवासी भाइयों की ओर हमारा कर्तव्य स्पष्ट है। हमें चाहिए कि निस्स्वार्थ और क्रियात्मक नागरिक भावना का विकास करें। जो आदमी अपने ग्राम या नगर सम्बन्धी सार्वजनिक कामों में पूरा भाग नहीं लेता, और जिसके पास ऐसा न करने की कोई खास वजह या सबब न हो, वह समाज में निन्दनीय है।

स्थानीय संस्थाओं के सम्बन्ध में एक खास काम निर्वचन या चुनाव में मत देना है। कितने ही आदमी इसमें बेपरवाही करते हैं, अथवा डर या किसी लालच में आकर अयोग्य आदमी के लिए मत देते हैं; या चुनाव में अपने मिलनेवालों या जाति बिरादरी या धर्म वालों का पक्षपात करते हैं, इससे ग्राम-बोर्ड या म्युनिसपेलटी के लिए जैसे योग्य मेम्बरों का चुनाव होना चाहिए, नहीं हो पाता इन संस्थाओं

के खराब संगठन के कारण नागरिक कार्यों में अनेक दोष आ जाते हैं, और सार्वजनिक जीवन बहुत कलुषित हो जाता है। इस विषय पर विस्तार से 'निर्वाचन पद्धति' पुस्तक में लिखा जा चुका है; यहाँ केवल इन बातों की ओर इशारा कर लेना काफी है। हर नागरिक को चाहिए कि अपने गांव और नगर के फायदे के लिए निर्वाचन की ओर ठीक-ठीक ध्यान दे और जनता के नागरिक जीवन को ऊंचा उठाने में मदद करे।

निर्वाचन के अलावा हमें अपने दूसरे नागरिक कर्तव्यों का भी अच्छी तरह पालन करना चाहिए। हमें हर प्रश्न को खूब अध्ययन और मनन करके उस पर अपनी राय बनानी चाहिए, किसी की एकतर्फा बातें सुन कर या पढ़ कर नहीं। अपने से विरुद्ध मत रखने वालों के प्रति भी हमारा व्यवहार शिष्टाचार का होना चाहिए, दूसरे दल वालों की सभाओं में हमें गोलमाल या गड़बड़ी नहीं करनी चाहिए। हमें दूसरों के स्वतंत्र विचार और मत-प्रदान सम्बन्धी अधिकार का आदर करना चाहिए। अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए या विरोधी दल वालों का खंडन करने के लिए हमें झूठ, अर्द्ध सत्य या अत्युक्ति का आसरा नहीं लेना चाहिए। अपनी विजय या सफलता के लिए लोगों में क्षुद्र, संकुचित या साम्प्रदायिक भावनाओं का उभारना निन्दनीय है।

यदि हमारे मित्र किसी सार्वजनिक पद के लिए हमें निर्वाचित कर दें तो हमें अहंकार या अभिमान न करके विनय, निस्पक्षता और विवेक का परिचय देना चाहिए। अगर हमें यह निश्चय है कि उस पद की जिम्मेवरी संभालने के लिए हम में जैसी चाहिए काबलियत या क्षमता नहीं है, या फुरसत की कमी है, तो नम्रता किन्तु दृढ़ता के साथ उसे नामंजूर कर देना चाहिए यदि हम यह समझते हैं कि हम उस पद सम्बन्धी कर्तव्य का भली भाँति पालन कर सकते हैं तो हमारा उसे स्वीकार कर लेना उचित ही है, परन्तु सार्वजनिक पदों की प्राप्ति के

लिए कूटनीति या तिकड़म से काम न लेना चाहिए। आजकल लोकतंत्र ऐसे सिद्धान्तहीन स्वार्थी आदमियों से दबा हुआ है, जिनका उद्देश्य येन-केन प्रकारेण कौंसिल, बोर्ड या कमेटी का मेम्बर बन जाना होता है। ये लोग रुपए या सम्मान के भूखे होते हैं, और तरह-तरह की बातें बना कर या चाल चल कर अपनी विजय का प्रयत्न करते रहते हैं। एक बार निर्वाचन होने पर दूसरी बार, और हो सके तो बार-बार निर्वाचित होने के लिए भले-बुरे सभी उपायों का सहारा लेते हैं। ऐसे पेशेवर राजनीतिज्ञों से नागरिक जीवन दूषित होता है, ये स्वयं अपना स्वार्थ-साधन करते हैं और ज्यों ही मौका मिलता है, अपने भाई भतीजों या मित्रों को आमदनी या सम्मान के पद देते रहते हैं। ऐसे विकारों से हमें बहुत दूर रहना चाहिए।

हमें अपने गाँव या शहर का अभिमान करना चाहिए और अभिमान का उपयोग अपनी बस्ती के सुधार में करना चाहिए। हम उसे केवल कुछ घरों या गलियों का समूह न समझें। वह हमारे नागरिक भाइयों का समुदाय है, उसका अपना इतिहास है, जो कभी भूलने की बात नहीं है। उसकी विकास की कथा जाननी चाहिए कब उसका निर्माण हुआ, कब-कब उसमें कुछ खास वृद्धि की गई, कब उसमें पंचायती भवन, चौपाल या टाउन हाल बना, कब उसमें पाठशाला, वाचनालय अस्पताल आदि बने। किस-किस महापुरुष का वहां जन्म हुआ और उन्होंने क्या-क्या शुभ कार्य किया। उन की यादगार केवल चित्रों, प्रतिमाओं में या गलियों, बाजारों सड़कों के नाम में नहीं रहनी चाहिए, वरन् उनकी हर साल जयन्तियां मनाई जायँ, जनता को उनके सद्गुणों का परिचय कराया जाय, और इस तरह सार्वजनिक सेवा की भावना की वृद्धि और विस्तार की हमेशा कोशिश होती रहे। ऐसे कामों से हम अपने अपने स्थान में रहते हुए मानव समाज की निस्वार्थ सेवा कर सकते हैं, जिसका करना हमारा परम कर्तव्य है।

छठा अध्याय

राष्ट्र

—:०:—

एक व्यक्ति से आदर्श भूमण्डल नहीं बन सकता। एक व्यक्ति से परिवार, परिवारों से वंश, वंशों से जाति, जाति का राष्ट्र बन जाता है। वे सब सीढ़ियां राष्ट्रों में लड़ाइयाँ हैं, झगड़े हैं—किन्तु इन सारी त्रुटियों के साथ एक उन्नति का तत्व विद्यमान है।

—इन्द्र वेदालंकार

राष्ट्रीयता भावुकता का नारा नहीं है। यह एक रचनात्मक भावना है। हमें अपने देश को आर्थिक रूप में स्वावलम्बी तथा सांस्कृतिक रूप से प्रगतिशील बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

—सर्वपल्ली राधाकृष्णन

पिछले अध्याय में गाँव और नगर के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है। हमारे रोजमर्रा के कामों या सेवा के निकट क्षेत्र है। इनसे बड़ा क्षेत्र जिसके प्रति हमारा स्वाभाविक अनुराग होता है, राष्ट्र, कौम, या नेशन' है। एक राष्ट्र में बहुत से कबीले और जाति-उपजातियाँ होती हैं। इन संगठनों के विषय में पहले लिखा जा चुका है। इनमें से हर समूह के आदमियों की अपनी-अपनी रीति-रस्म, संस्थाएँ और परम्पराएँ होती हैं। बहुत समय तक पास-पास रहने के कारण ये आपस में आत्मीयता या अपनेपन का अनुभव करने लगते हैं, और सुसंगठित होकर एक ही शासन-पद्धति में रहने लगते हैं। भाषा आदि की

विभिन्नता के कारण एक राष्ट्र की दूसरे से पृथकता स्पष्ट हो जाती है।

राष्ट्र के प्रति मनुष्य का प्रेम, श्रद्धा और भक्ति कितनी प्रबल होती है, यह सब जानते हैं। 'मेरी मातृभूमि' 'मेरा वतन' 'मेरा मुल्क' 'मेरा देश (स्वदेश)' 'मेरी जन्मभूमि' या 'मेरा राष्ट्र' यह विचार आते ही मनुष्य गद्गद् हो जाता है, और वह उसके लिए अधिक से अधिक त्याग करने और कष्ट सहने को तैयार हो जाता है। राष्ट्रीय झण्डे के सम्मान के लिए बालकों और बूढ़ों तक ने अनुपम साहस का परिचय दिया है। झंडा-गान के समय आदमी अपने सब दुखों को भूल जाता है। मातृवन्दना से हृदय में विलक्षण ही भावों का संचार होने लगता है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' में किसी व्यक्ति विशेष का ही भाव प्रकट नहीं किया गया है, यह लोक भावना का व्यक्त स्वरूप है, लोकवाणी है। ऐसे ही इसलाम धर्म का एक मशहूर सिद्धान्त है—हुब्बुल वतन मिनल ईमान' यानी अपने देश से प्रेम करना ईमान का एक अङ्ग है।

राष्ट्रीयता का यह तकाजा है कि हम अपने देश से, उसके खेतों और खलिहानों से, वहाँ के नाना भांति के दृश्यों से, वहाँ के इतिहास, साहित्य, कला, संस्कृति और परम्पराओं से खास प्रेम रखें। जो प्रदेश या जो लोग भौगोलिक परिस्थिति या भाषा की समानता आदि के कारण हमारे सम्पर्क में अधिक आते हैं, उनकी ओर आकर्षित होना, उनके साथ अधिक प्रेम करना स्वाभाविक ही है। इस तरह देश हमारी कई तरह की सेवाओं का क्षेत्र हो सकता है। आम तौर पर एक भारत-वासी भारतवर्ष में, अंगरेज इंगलैंड में, और जर्मन जर्मनी में मानव समाज की इतनी सेवा कर सकता है, जितनी वह दूसरे देश में जाकर नहीं कर सकता, क्योंकि अपने देश में वह दूसरे भाइयों की हालत, स्वभाव और जरूरतों आदि को अच्छी तरह समझता है, उनके विषय में उसको अच्छा अनुभव होता है।

देश या राष्ट्र की सेवा के अनेक अंग हैं—सामाजिक, शिक्षा और साहित्य सम्बन्धी, औद्योगिक, राजनैतिक आदि। यहाँ इनमें से हरेक के सम्बन्ध में विस्तार से लिखने की ज़रूरत नहीं है, कुछ बातों की संक्षेप में ही चर्चा की जाती है।* सामाजिक विषयों पर लोगों में प्रायः दो दल हुआ करते हैं। बहुत से आदमी पुरानी बातों को आँख मींच कर पालन करते रहते हैं; चाहे वे बातें अब नए ज़माने और नई परिस्थिति में उपयोगी न होकर हानिकर ही हों। वे नहीं सोचते कि यदि कोई बात किसी खास समय में अच्छी भी रही हो तो अब बदली हुई परिस्थिति में उसका वैसा ही लाभदायक होना ज़रूरी नहीं है। और, कोई बात, 'हमारे बाप दादों ने की थी', इसी आधार पर हमेशा के लिए सुरक्षित नहीं रखी जानी चाहिए। इसके विपरीत, देश में कुछ आदमी ऐसे भी होते हैं, जो हर पुरानी चीज का बहिष्कार करने और नई बातों का बिना जाँच पड़ताल किए प्रचार करने के लिए तैयार रहते हैं। सचाई यह है कि कोई बात केवल नई होने के कारण ही मानने के काबिल नहीं हो सकती। देश का सच्चा हित चाहनेवालों को ऊपर लिखे दोनों मार्गों की अति को छोड़कर अपना कर्तव्य निश्चय करना चाहिए; वे रखने योग्य पुरानी बातों की रक्षा करें और साथ ही उन नई बातों को भी अपनाते रहें, जो विचार करने पर और तजरबे यानी अनुभव से उपयोगी साबित हों। हम सुधारक तो हों, पर जल्दबाज या अविवेकी न हों। गम्भीर, धैर्यवान, सहनशील और अमली जीवन बितानेवाले कार्य-कर्ताओं की हर देश को ज़रूरत है।

देश में शिक्षा और साहित्य के प्रचार में अपनी शक्ति भर योग देना हर नागरिक का कर्तव्य है। हाँ, यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि इनकी आड़ में बालक बालिकाओं के मन में ऐसे संस्कार न पड़ें जो उनके दृष्टिकोण को अनुदार और उनकी विचारधारा को संकुचित कर

*भारतीय पाठकों के लिए इन विषयों पर विचार 'हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ' और 'भारतीय जागृति' पुस्तकों में किया गया है।

दें। इस विषय में आगे और लिखा जायगा। यहाँ एक बात की ओर ध्यान दिलाना ज़रूरी है। हर नागरिक को केवल अपने प्रान्त की भाषा या साहित्य से संतुष्ट न होकर राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रीय साहित्य का भी प्रचार करना चाहिए। हमारा अपने को देश-प्रेमी या राष्ट्र-प्रेमी कहना बेमाइने है, जब तक हम देश की भाषा (राष्ट्र-भाषा) नहीं सीखते, और सीख कर, जहाँ तक हो सके, उसकी उन्नति करने में भाग नहीं लेते। हमें इस बात की भी कोशिश करनी चाहिए कि हम दूसरे देशों की भाषा और साहित्य से, और वहाँ के रहनेवालों से जानकारी हासिल करें।

इस तरह के प्रयत्नों से भी हमारी सहानुभूति और हमारा सहयोग होना चाहिए, जो देशवासियों की आर्थिक अवस्था सुधारने में सहायक हों। 'देशवासियों' से हमारा मतलब कुछ इने-गिने थोड़े से आदमियों से नहीं है, जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों की मेहनत से बेजा फायदा उठाते हों। हमारा उद्देश्य जनता-जनार्दन की सेवा और हित साधन है; वे किस तरह स्वावलम्बी और स्वाभिमानी जीवन व्यतीत करें, और अपने शारीरिक और मानसिक विकास का मार्ग साफ़ करें, यही हमारा मुख्य विचार रहना चाहिए। पूँजीवादियों के औद्योगिक कार्य वास्तव में व्यापक राष्ट्र-हित साधक नहीं होते, इस विषय का विवेचन आगे किया जायगा; विचारशील लोगों को चाहिए कि उनमें आँख बन्द करके योग न दें।

अपने देश या अपनी कौम को आज़ाद करना और उसकी आज़ादी की रक्षा करना तो नागरिक का अनिवार्य कर्तव्य है। पराधीनता की हालत में कोई राष्ट्र अपनी स्वाभाविक शक्तियों का पूरा-पूरा विकास नहीं कर सकता और मानवता के लिए जितना चाहिए उपयोगी नहीं बन सकता। नागरिकों को चाहिए कि वे अपने राष्ट्र को आज़ाद करें और अनियंत्रित या अन्यायी शासन से उसे छुटकारा दिलावें। वे किस तरह इस काम में मदद दे सकते हैं, और इसे करते हुए उन्हें किन-किन

सिद्धान्तों का ध्यान रखना जरूरी है, इसके बारे में कुछ विचार-सामग्री दूसरी जगह मिलेगी। यहाँ हमें यही कहना है कि हम राजनीति और राष्ट्र-नीति को कूटनीति या कपट-शास्त्र न समझें, और अपने व्यवहार से उसे सब के भले के लिए मानव शास्त्र का अंग बनाने की कोशिश करें। हम याद रखें कि हिन्सा और छल-कपट से प्राप्त विजय या आजादी क्षणिक तो होती ही है, इसके अलावा, यदि अच्छी तरह विचार किया जाय, तो यह सच्चे अर्थ में विजय या आजादी नहीं होती, वह हमारे पतन का रास्ता तैयार करती है, इसलिए हमें भ्रम से उसके प्रलोभन में नहीं पड़ना चाहिए।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले इस बात पर जोर देना ज़रूरी है कि चाहे किसी खास परिस्थिति के कारण हम दूसरे राष्ट्रों की भलाई के कामों में बहुत सहयोग न दे सकें, फिर भी हमें याद रखना है कि सब राष्ट्र एक ही मानव जाति के अंग हैं। यदि हो सके तो हमें दूसरे राष्ट्रों की भी सेवा में हिस्सा लेना चाहिए। हमारी भावना संकीर्ण या अनुदार न होकर व्यापक और उदार होनी चाहिए। वह किसी को अधीन करना या किसी का शोषण करना न चाहे। वह युद्ध और विजय दोनों से लज्जित हो।* उदार राष्ट्रीयता सैनिक यादगारों को मिटा देना चाहती है। वह उन कवियों, चित्रकारों, वैज्ञानिकों, कलाकारों, और दूसरे स्त्री पुरुषों की याद में सुन्दर स्मारक खड़े करती है, जिन्होंने समाज की असली सेवा की है। जब ऐसी प्रशंसनीय उदार

*सम्राट् अशोक के एक शिला-लेख के कुछ अंश का अनुवाद देखिए—"कलिंग को जीतने पर 'देवताओं के प्यारे' (अशोक) को बड़ा पश्चाताप हुआ, क्योंकि जिस देश का पहले विजय नहीं हुआ है, उसका विजय होने पर लोगों की हत्या या मृत्यु अवश्य होती है, और न-जाने कितने आदमी कैद किए जाते हैं। 'देवताओं के प्यारे' को इससे बहुत दुख और खेद हुआ।"

राष्ट्रीयता ज़ोर पकड़ेगी तो वह इतिहास को मनुष्यों के रक्तपात से मुक्त कर देगी।

याद रहे कि संकीर्ण या अनुदार और उग्र होने की दशा में राष्ट्रीयता विनाशक होती है, वह विशाल सामाजिक संगठन में रुकावट डालती है। उसके बारे में आगे लिखा जायगा।

सातवाँ अध्याय

साम्राज्य

संसार का शासक बन जाने के बाद भी (खलीफा) उमर पहले की तरह सादा, अपने रहन-सहन में कठोर और ईमानदार बना रहा।''उसने महान संसार-व्यापी मानव बन्धुत्व को उसकी शुरू की सीधी-सादी सच्ची मानव समता पर कायम रखा। यदि इसी तरह के आदमी संसार के शासक होते रहते तो संसार का इतिहास कुछ और ही होता।
--डेनीसन

हम कह चुके हैं कि आदमी की राजनैतिक भावना पहले नगर राज्यों में प्रकट हुई। जो नगर पास-पास थे उनमें लोगों का रहन-सहन भाषा, व्यवहार, संस्कृति सभ्यता आदि बहुत कुछ एकसा होता थी, फिर भी हर राज्य अपना अलग अस्तित्व रखने का अभिलाषी होता था; यहाँ तक कि वह अपने पड़ोसी राज्य से लड़ कर अपनी बहादुरी और बड़प्पन का परिचय देता था। इससे मानव उन्नति में बाधा पड़ती थी। धीरे-धीरे उन्हें अपनी भूल मालूम हुई, और उनमें पास-पास के नगर-राज्यों को मिलाकर एक राष्ट्र-राज्य बनाने का विचार पैदा हुआ।

नगर-राज्यों से राष्ट्र-राज्य एक दम नहीं बन गए। अनेक बार बनते बनते रह भी गए। बड़ी कठिनाई से नगर-राज्य अपनी प्रभुता और

पृथकता का त्याग करने को तैयार हुए। कहीं राष्ट्र-राज्य एक समय बना, कहीं उसके बहुत आगे पीछे। कहीं उसके निर्माण का एक ढङ्ग रहा, कहीं दूसरा। राष्ट्र-राज्यों का बनना सामाजिक विकास की अच्छी मंजिल थी। कुछ समय बाद अनुभव हुआ कि राष्ट्र-राज्य भी छोटे हैं। उन्हें अलग-अलग अपनी नई-नई जरूरतें पूरी करने में कठिनाई होती थी। इनका आपस में संघर्ष होता था और इनकी बहुत सी शक्ति आपसी लड़ाई झगड़ों में ही खर्च हो जाती थी। धीरे-धीरे कोई राज्य इतना शक्तिशाली या ताकतवर हो गया कि वह दूसरों पर अपना रौबदौब जमा सका; कुछ को राजी से, और कुछ को थोड़े संघर्ष के बाद उसने अपने अधीन कर लिया। इस तरह वह राज्य से साम्राज्य बन गया, और प्रबल राजा सारे साम्राज्य का सम्राट हो गया।

जिस तरह एक जवान साहसी आदमी यह चाहने लगता है कि मेरे साथी मेरे बल और पुरुषार्थ का लोहा मानें, उसी तरह एक राष्ट्र में भी, सबल होने पर यह आकांक्षा पैदा हो जाती है कि दूर-दूर तक के प्रदेश मेरी प्रभुता को स्वीकार करें, मै सब पर शासन कर सकूँ सब पर मेरा आतङ्क छाया रहे। जब किसी राष्ट्र में कोई चंगेज खाँ; चन्द्रगुप्त बाबर या सिकन्दर पैदा हो जाता है, तो वह दूर-दूर तक राज्य विस्तार करने को कटिबद्ध हो जाता है। वह इसके लिए जरूरी सेना और सामान जुटा लेता है, कुछ आदमी अपनी आजीविका या धन प्राप्ति के लिए, उसकी सेना में भर्ती होते हैं, तो कुछ अपना क्षात्र, तेज या बाहु-बल दिखाने के लिए ही उसके सहायक हो जाते हैं। कहीं कहीं धार्मिक भावना का भी आसरा ले लिया जाता है, और पंडितों या पुरोहितों से विजय का मुहूर्त निकलवाया जाता है। इसके उपलक्ष्य में दान, धर्म, जप, यज्ञ आदि अनुष्ठान होते हैं, जिनका स्वरूप, देशकाल के अनुसार अलग-अलग होता है। इस तैयारी के बाद राजा अपनी विजय-यात्रा के लिए निकल पड़ते हैं। कोई कोई प्रदेश तो उनकी सैनिक शक्ति का विचार करके चुपचाप उनकी अधीनता स्वीकार कर लेते हैं,

श्रौर कहीं कहीं उनका डटकर मुकाबला होता है। कभी-कभी श्राक्रमण-कारियों को बड़े-बड़े कष्ट सहने पड़ते हैं। पर जो लोग धुन के पक्के होते हैं; वे अपना साहस नहीं छोड़ते, बार-बार उद्योग करते हैं, अपने सैनिक संगठन को सुधारते हैं, शक्ति को बढ़ाते हैं और फिर अपना मनसूबा पूरा करते हैं। खून खच्चर से वे घबराते नहीं। दूसरों की तो बात ही क्या, स्वयं अपने प्राणों का भी उन्हें मोह नहीं होता। ऐसे हैं, नहीं-नहीं यों कहना चाहिए कि ऐसे होते थे, पुराने जमाने के साम्राज्य-निर्माता। 'होते थे' कहने में हमारा खास मतलब है। हम पाठकों का ध्यान इस ओर दिलाना चाहते हैं कि यहाँ हम आजकल के उन साम्राज्यों की बात नहीं कह रहे हैं, जिनका उद्देश्य केवल अपने अधीन देशों से धन खेंचना होता है, या जो अपना राज्य इस लिए बढ़ाते हैं कि उन्हें अधीन देशों से अपने कल कारखानों के लिए कच्चा माल और अपने तैयार सामान के लिए सुरक्षित बाजार मिले। साम्राज्यों में यह पूँजीवाद की भावना तो इस जमाने में आई है, और आजकल की महाजनी सभ्यता की विशेषता है। आजकल के ये पूँजीवाद साम्राज्य मानव समाज के विकास में बहुत बड़ी रुकावटें साबित हो रहे हैं। इनके बारे में अगले खंड में और ज्यादह लिखा जायगा।

यहां तो हमें ऐसे (प्राचीन) साम्राज्यों का विचार करना है, जो अपना विस्तार इसलिए करते हैं कि सामाजिक संगठन का दायरा बड़ा हो जाने पर दूर-दूर के आदमियों में मेल मिलाप बढ़ता है, उनकी ज़रूरतें पूरी होने में सुविधा होती है, विद्या और ज्ञान का लेन-देन बड़े पैमाने पर होने लगता है, संकीर्णता हटने लगती है और आदमी अपने रहने सहने, व्यापार करने और सोचने विचारने के लिए छोटे छोटे तङ्ग घरों में बन्द न रहकर एक ज्यादह बड़ी दुनिया का उपयोग करने लगते हैं। पुराने ढङ्ग के साम्राज्यों का यह समझा बूझा लक्ष्य था, और जिनका इस तरह का लक्ष्य न था, उनका भी आम तौर पर नतीजा यही होता था।

प्राचीन साम्राज्य प्रायः जीते हुए राज्य के भीतरी बन्दोबस्त और इन्तजाम में दखल नहीं देते थे। जहाँ तक होता था वहाँ के राजपरिवार के ही किसी सुयोग्य आदमी को वहाँ का शासक बना दिया जाता था। इस तरह साम्राज्य के अन्दर अधीन या मातहत राजाओं को बहुत कुछ राजनैतिक आज़ादी होती थी। एक दरजे तक सब अपने राज्य में अपना क़ायदा कानून और अपनी शासन-नीति बरतते थे। ये सब राजा सम्राट् की प्रभुता और बड़प्पन मानते थे, और खास-खास मौका पर उसे कुछ भेंट या नज़राना देते थे। परन्तु सम्राट् उन छोटे राज्यों की आमदनी हड़प करने या उसका उपयोग अपने किसी अलग देश के लिए करने का इच्छुक न होता था; वह वहाँ अपने खानदान वालों या अपनी कौम वालों को ऊँचे-ऊँचे सरकारी पद देने का भी इरादा न करता था।

राम ने लंका को विजय किया तो वहाँ की राजगद्दी रावण के भाई विभीषण को दी। कृष्ण ने कंस को मार कर वहाँ उस (कंस) के पिता उग्रसेन को सिंहासन पर बैठाया। इसी तरह जरासंध के मारे जाने पर उसका पुत्र सहदेव, और चेदी (जबलपुर) के राजा शिशुपाल के मारे जाने पर उसका पुत्र राज्य का अधिकारी बना। उसके बाद मौर्य साम्राज्य या गुप्त साम्राज्य में हम देखते हैं कि सम्राटों को साम्राज्य के सब हिस्सों के आदमियों की भलाई की समान रूप से चिन्ता है; यह नहीं कि सम्राट् के खास देश को मालामाल करने के लिए साम्राज्य के दूसरे देशों के लोगों को मरना-खपना और दरिद्रता का जीवन बिताना पड़ा हो। इसके बाद मुगल सम्राटों का समय आता है। मुगल सम्राटों ने भारतवर्ष के धन को भारतवर्ष में ही और भारतवासियों के लिए ही खर्च किया, ये खुद भारतवासी बन गए और यह बात बिल्कुल कल्पना के बाहर हो गई कि इन सम्राटों द्वारा भारतवर्ष का रुपया अफ़ग़ानिस्तान, ईरान या मध्य एशिया में भेजा जाय। मुग़ल सम्राटों की तो यह कोशिश रही कि बाहरी साधन भी भारतवर्ष ही को उन्नत और मालामाल करने में काम लाए जायँ।

भारत का मुगल साम्राज्य एक ऐसा साम्राज्य है, जो प्राचीन शैली का होते हुए भी कई अंशों में आधुनिक पाठकों के बहुत नज़दीक का है। इसलिए इसके सम्बन्ध में कुछ और विचार करना उपयोगी होगा। इससे प्राचीन साम्राज्यों के काम और असर के बारे में व्यापक रूप से अनुमान करने में सुविधा होगी इस साम्राज्य के सम्बन्ध में सर यदुनाथ सरकार ने खास अध्ययन किया है, उन्होंने अपने एक विद्वत्तापूर्ण लेख* में बताया है कि मुसलिम शासन से भारतवर्ष को नीचे लिखे दस लाभ हुए हैं—

(१) बाहर की दुनिया के साथ सम्बन्ध कायम होना; भारतीय नौ शक्ति (जल सेना) का संगठन और समुद्र पार विदेशों में हिन्दुस्तान की तिजारत।

(२) एक छत्र राज्य के परिणाम-स्वरूप भारतव्यापी शान्ति, खासकर विन्ध्याचल के उत्तर के सारे हिस्से में।

(३) सारे देश में एक ही तरह की शासन प्रणाली, और एक ही शासक के अधिकार के कारण जनता के व्यवहार, वाणिज्य व्यवसाव, रहन-सहन और एक दरजे तक उनके विचारो में भी एकता की स्थापना।

(४) हिन्दू और मुसलमानों में समान रूप से ऊंची और नीची सब श्रेणियों के बीच सामाजिक व्यवहार, भाव, पोशाक, आभूषण आदि में एक ही प्रणाली का अनुसरण।

(मुग़ल चित्रकला का जन्म, गृहनिर्माण कला का अद्भुत् विकास और कितनी ही नई-नई दस्तकारियों का जन्म और उनकी तरक्की।

(६) सर्वसाधारण के व्यवहार के लिए एक उपयोगी प्रचलित

*इसका हिन्दी अनुवाद 'विशाल भारत' अगस्त १९३१ में प्रकाशित हुआ था; शीर्षक था—'भारत में मुसलमान'।

भाषा उर्दू का ज म, जिसे फ़ार्सी में हिन्दवी यानी भारतीय भाषा कहा जाता है।

(७) संस्कृत का व्यवहार पहले ही लुप्त-प्राय हो चुका था, मुसलमान-शासन से मिलने वाली शान्ति और ऐश्वर्य के फल स्वरूप हिन्दी, बंगला, मराठी आदि नई-नई भाषाओं में साहित्य रचना का प्रारंभ।

(८) हिन्दू समाज में केवल एक ईश्वर की पूजा पर जोर देने वाले सम्प्रदायों का जन्म; वेदान्तिक सूफ़ी धर्म का प्रचार।

(६) इतिहास-रचना।

(१०) युद्ध-विद्या में और सभ्यता के समस्त विभागों में सर्वांगीण उन्नति।

इनमें से हमें खास तौर से दो बातों की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना है—(२) इस साम्राज्य ने भारतवर्ष का बाहरी संसार के साथ फिर से परिचय कराया और (२) इसने भारतवर्ष में जातीय यानी राष्ट्रीय एकता की जड़ें मज़बूत कीं। इनमें से पहली बात के सम्बन्ध में विद्वान लेखक ने बताया है कि बौद्ध काल के अन्त तक भारत के साथ दक्खिन और पूरब एशिया के कई देशों का गहरा सम्बन्ध था। पर हूणों को हराने के बाद आठवीं सदी में हिन्दू धर्म अपने घर को संभालने में ही लग गया था। मुसलमानों के शासनकाल में बहुत से भारतीय मुसलमान यहाँ से बाहर गए, और विदेशी मुसलमान और दूसरे धर्म वाले यहाँ आए। पश्चिमोत्तर में बोखारा, समरकन्द, बलख, खुरासान, खारिज्म और फारिस जैसे देशों से; पूरब और दक्खिन में सिंहल; सुमात्रा, जावा, श्याम, चीन से; और दक्खिन पच्छिम में जंजीर तक से तिजारती माल निर्विघ्न और बेरोक टोक आने जाने लगा।

राष्ट्रीय एकता के बारे में श्री० यदुनाथ ने लिखा है कि दो सौ वर्ष तक मुगल सम्राटों के शक्तिशाली शासन के कारण समस्त उत्तर

भारत ने और दक्खिन भारत के भी एक हिस्से ने; एक सरकारी भाषा, एक शासनप्रणाली, एक से सिक्के और बोलचाल की एक भाषा प्राप्त की। राजकर्मचारी, सैनिक, व्यापारी और यात्री एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में बराबर जाते आते थे और कहीं भी अपने आपको परदेश में आया हुआ नहीं समझते थे। सब लोग विशाल मुगल साम्राज्य को एक देश और एक जन्मभूमि मानने लग गए थे। इससे भारतीयता या भारत-राष्ट्रीयता की कल्पना सम्भव हो गई।

पुराने जमाने के साम्राज्यों की एक और मिसाल सिकन्दर के साम्राज्य की भी दी जा सकती है। सिकन्दर ने अपने जीते हुए देशों से सोना चाँदी लेकर यूनान को नहीं भरा। उसका यह उद्देश्य भी नहीं था। वह भिन्न-भिन्न जातियों का मिश्रण चाहता था। उसकी विजयों से मानव समाज के संगठन की वृद्धि हुई। यूरप और एशिया के अनेक देशों के, और; अफरीका से मिश्र आदि के निवासी एक दूसरे के सम्पर्क में आए। सिकन्दर स्वयं लाखों आदमियों को पूरबी यूरप से एशिया लाया और लाखों ही को एशिया से यूरप ले जाकर बसाया। इनमें बहुत से विद्वान और कारीगर भी थे। इससे यूरप में एशिया के ज्ञान और संस्कृति का प्रचार हुआ, और एशियाई देशों ने भी यूनान की विद्या और कला को बहुत दरजे तक अपनाया।

प्राचीन साम्राज्यों की इस उपकारक भावना की एक बहुत अच्छी मिसाल खलीफा उमर के जीवन में मिलती है।* खलीफा उमर की अधीनता में सन् ६४० ई० में अरब सेनापति उम्र ने मिश्र को जीता। उस समय बिजेता उमर को किसी ने यह सलाह दी कि वह मिश्र की भूमि विजयी अरबों में तकसीम करदे। खलीफा से पूछा गया। वहाँ से जवाब आया—"प्रजा की जमीन उन्हीं के कब्जे में रहने दी जाय। वे ही उसकी सेवा करें और उससे फलें फूलें।" इस विषय में जिस नीति

* देखिए, फरवरी १९४४ की 'विश्ववाणी'; पंडित सुन्दरलाल, जी का लेख, शीर्षक—'खलीफा उमर; करनामें और चरित्र'।

का पालन खलीफा उमर ने इराक, शाम और फिलिस्तीन में किया था, उसी का मिश्र में किया। उसने देश की एक एकड़ जमीन पर भी किसी अरब को कब्ज़ा करने न दिया। यहाँ तक कि जब सेनापति उम्र ने अपना एक मकान बनाने के लिए खलीफा से कुछ जमीन की इजाजत चाही तो खलीफा ने यह कह कर इनकार कर दिया—'तुम्हारे पास रहने के लिए मदीने में एक मकान है, वही तुम्हारे लिए काफी होना चाहिए।' खलीफा उमर का सादगी और आत्मत्याग भी कैसा गजब का था ! एक बार उसके शासन काल में अरब में दुष्काल पड़ा। पेश्तर इसके कि शाम या इराक से काफी नाज आ सके, हजारों आदमी भूख से तड़पने लगे। इस समय, सर विलयम म्यूर ने लिखा है—"उमर ने अपने अभ्यस्त आत्मत्याग के साथ हर ऐसी चीज को खाने से इनकार कर दिया जो आस-पास के दूसरे लोगों को न मिल सकती थी। उसने प्रतिज्ञा की 'जिस वक्त तक लोगों के पास काफी खाना न हो जाय, मैं मांस, मक्खन या दूध तक को हाथ न लगाऊंगा।' दूध और मक्खन के बजाय जैतून का तेल और मोटी रोटी खाते उमर का ताकतवर शरीर कमजोर हो गया और चेहरा उतर गया। नौ महीने तक यानी जब तक बारिश नहीं हुई, और कहत का खात्मा नहीं हुआ, उमर की यही खुराक रही।"

अब जमाना बदल गया है, ये बातें अनोखी मालूम होती हैं। आजकल के साम्राटों का ही नहीं, उनके अधीन गवर्नरों आदि छोटे-बड़े शासकों और फौज और पुलिस के अधिकारियों तक का रवैया कुछ और है वैसे सम्राट हैं, और न वैसे साम्राज्य। प्राचीन साम्राज्य अधिक-से-अधिक मानव जाति को एक सूत्र में बाँधने के प्रयत्न थे; आजकल का साम्राज्य वाद मानव जाति के बीच में रंग और राष्ट्र की दीवारें खड़ी करके जातियों को तुच्छ स्वार्थ-साधन में लगा रहा है; मनुष्य के सामाजिक विकास में भयंकर बाधा है। इसका विचार आगे किया जायगा।

आठवाँ अध्याय

संघ-राज्य

—०—

हमने पिछले अध्याय में कहा है कि राष्ट्र-राज्य से आगे मनुष्य-समाज के विकास की मंज़िल साम्राज्य है। साम्राज्य से यहाँ हमारा मतलब पुराने ज़माने के ऐसे साम्राज्यों से ही है, जिनकी ग़रज़ दूसरे देशों को लगातार लूटना या उन्हें चूसना नहीं होती थी। यह लूट और शोषण तो पीछे की क्रियाएँ हैं, जिन्हें हम विकास की मंजिल न कह कर मार्ग की बाधा ही कह सकते हैं। उसके बारे में आगे विचार किया जायगा।

यह ज़रूरी नहीं है कि राष्ट्र-राज्य के बाद अगला सामाजिक संगठन साम्राज्य के ही रूप में हो। वह संघ-राज्य भी हो सकता है। आम तौर से, जब कुछ राज्य मिलकर किसी प्रबल राज्य से अपना बचाव करने यानी आत्म-रक्षा के लिए, या आर्थिक या राजनैतिक उन्नति के लिए अपनी सेना, टकसाल, व्यापार आदि विभागों का प्रबन्ध सामूहिक रूप से करने के लिए एक संगठन कर लेते हैं तो कहा जाता है कि उन्होंने अपना 'संघ' (फेडरेशन) बना लिया है। इस तरह के संघ को ख़ास-ख़ास बातों के अधिकार सर्वोपरि होते हैं। वह अपने काम के लिए सब राज्यों की जनता से ज़रूरी सामान जुटाने का अधिकारी होता है। विधान में इस बात का साफ़-साफ़ उल्लेख होता है कि किन-किन विषयों में संघ-सरकार का, और किन में अलग-अलग राज्यों का अधिकार होगा, और बाकी बातों के अधिकार किसे होंगे। संघ में

सम्मिलित राज्यों के नागरिक, संघ के भी नागरिक होते हैं। इस तरह संघ-राज्य में हर नागरिक को दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है, उसे दोनों के क्षेत्रों में मताधिकार होता है। संघ की सरकार और हर राज्य की अलग सरकार दोनों ही सब नागरिकों द्वारा बनती हैं, और उनके प्रति जवाबदेह होती हैं। दोनों तरह की सरकारें नागरिकों से सीधा सम्बन्ध रखती हैं।

जिस तरह राष्ट्र-राज्य नगर-राज्य से आगे की मंजिल है, उसी तरह संघ-राज्य राष्ट्र-राज्य से आगे की प्रगति ज़ाहिर करता है। इस विषय में ज़रूरी बातें जानने के लिए यहाँ मिसाल के तौर पर यह बताया जाता है कि 'अमरीका के संयुक्त राज्य' नाम के संघ का निर्माण किस तरह हुआ। पाठक जानते ही हैं कि अमरीका अपनी आर्थिक, मानसिक और वैज्ञानिक उन्नति के कारण संसार भर में अपना खास स्थान रखता है।

अमरीका के इस भाग में यूरप वालों की बस्तियाँ सतरहवीं सदी के शुरू से ही आबाद होने लगी थीं। तब से यहाँ के मूल निवासी या असली बाशिन्दे 'रेड इंडियन' देश के भीतरी हिस्सों में भगाए जाने लगे और समुद्र के किनारे-किनारे यूरप वालों के उपनिवेश कायम होना शुरू हो गया। इन यूरपियनों में ज्यादहतर अंगरेज़ थे; उनके अलावा फ्रांस, हालैंड और स्पेन आदि के भी आदमी थे। ये लोग प्रायः सब एक ही जाति के थे, एक ही भाषा बोलते थे, इनके राजनैतिक और आर्थिक हित भी एक समान थे। फिर भी अमरीका में इनके राज्य अलग-अलग थे। हर राज्य का ब्रिटिश सम्राट् से लगभग वैसा ही सम्बन्ध था, जैसा उसके पड़ोसी राज्य का। परन्तु हर एक की सरकार, व्यवस्थापक सभा, न्यायालय, शासक और कर्मचारी अलग-अलग थे।

सन् १६४३ ई० में इनमें से चार उपनिवेशों ने मिल जाने की कोशिश की। वे चाहते थे कि फ्रांसीसी और डच (हालैंड के) उपनिवेशों की जनता से और वहाँ के मूल निवासियों से अपनी रक्षा करने के

लिए अधिक शक्तिशाली बन जायँ। इस लिए उन चार ने एक तरह का 'संघ' बना कर अपना संगठन किया और उसके लिए आवश्यक नियम बना लिए। हर राज्य के दो-दो सदस्य ले कर उन सबका एक कमीशन बनाया गया, जिसे दूसरे राज्यों से संधि और युद्ध सम्बन्धी विचार करने का अधिकार था। कुछ समय बाद यह कमीशन बेकार साबित हुआ, और उन चार उपनिवेशों की एकता की कोशिश असफल रही।

अमरीका के ये सब उपनिवेश उन दिनों बहुत दरजे तक इंगलैंड के अधीन थे। धीरे-धीरे उपनिवेशों में राजनैतिक जागृति बढ़ रही थी। उनमें स्वाधीनता के भावों का उदय हो रहा था। उन्हें यह अखरने लगा कि इंगलैंड उनकी इच्छा के विरुद्ध उन पर तरह-तरह के कर (टैक्स) और कानूनों का बोझ लादता रहे। वे इंगलैंड से सम्बन्ध तोड़ने की बात सोचने लगे। परन्तु इसमें सबसे बड़ी बाधा यह थी कि उन्हें एक दूसरे पर विश्वास न था। वे समय-समय पर कुछ बातों के लिए आपस में समझौता करते और कुछ समय के लिए मिल जाते थे। पर यह संगठन कभी टिकाऊ नहीं होता था। हर छोटे राज्य को यह डर था कि सबका संगठन हो जाने पर और संघ-सरकार के बन जाने पर बहुत सी सत्ता इन छोटे राज्यों से छिन कर संघ-सरकार को मिल जायगी; फिर उनकी स्वाधीनता न रहेगी।

इन उपनिवेशों के सङ्गठन का दूसरा मौक़ा सन् १७५४ में आया, जबकि इंगलैंड और फ्राँस में युद्ध छिड़ने वाला था। यद्यपि उपनिवेशों को इंगलैंड के व्यवहार से असंतोष था, फिर भी वे यह नहीं चाहते थे, कि उनके पड़ोस में ही फ्राँस की शक्ति प्रबल हो जाय, और उससे कष्ट उठाना पड़े। इधर इंगलैंड भी चाहता था कि उपनिवेशों की शक्ति अधिक हो जिससे फ्राँस यहाँ ज़ोर न पकड़ने पावे। इसलिए उसने सन् १७५४ में सब उपनिवेशों की एक काँग्रेस का अधिवेशन कराया। उपनिवेशों के प्रतिनिधियों ने उनके मिलने की योजना पर विचार

किया और इंगलैंड को फ्रांस के विरुद्ध सात साल के युद्ध (१७५६-६३) में जन-धन से खूब मदद की। इस युद्ध में इंगलैंड की जीत रही।

उपनिवेशों के मिलने का कोई खास प्रयत्न सन् १७६५ ई० से पहले न हुआ। सन् १७६५ में उन्होंने ब्रिटिश पार्लिमेंट के कर लगाने का विरोध करने का फैसला किया। बात यह थी कि सात साल के युद्ध के अन्त में इंगलैंड पर बहुत कर्जा हो गया था, उन्हें हलका करने के लिए और भविष्य में स्थाई सेना अधिक रखने के लिए उसने अमरीकी उपनिवेशों पर तरह-तरह के टैक्स (कर) लगाने शुरू किए। इन टैक्सों से उपनिवेशों का सब कारोबार और व्यापार चौपट होता था। उनका कहना था कि जब ब्रिटिश पार्लिमेंट में हमारे प्रतिनिधि नहीं हैं तो उसे हम पर टैक्स क्यों लगाना चाहिए। इस पर धीरे-धीरे कई टैक्स हटा दिए गए। लेकिन चाय का टैक्स बना रहा। उपनिवेशों ने इस टैक्स का क्रियात्मक विरोध किया। जब जहाज में भरी चाय अमरीका के बोस्टन बन्दरगाह पर पहुँची तो उन्होंने उसे ज़बरदस्ती समुद्र में उलट दिया। आख़िर, सन् १७७५ में उनका इंगलैंड से युद्ध छिड़ गया। यही अमरीका की स्वाधीनता का युद्ध था। ४ जुलाई १७७६ को उपनिवेशों ने, जिनकी संख्या उस समय १३ थी, अपनी आजादी का ऐलान कर दिया युद्ध होता रहा। उपनिवेशों को काफी हानि उठानी पड़ी, तो भी इंगलैंड उन्हें दबा न सका। आखिरकार १७८३ में संधि हुई। उपनिवेश स्वाधीन हो गए।

इस युद्ध ने उपनिवेशों के एकीकरण में भारी सहायता दी। जबकि इस युद्ध का विचार ही हो रहा था, सन् १७७४ में इन उपनिवेशों की अन्तर-औपनिवेशिक सभाएँ (काँग्रेस) आरम्भ हुईं। इसमें सब उपनिवेशों के प्रतिनिधि होते थे, और हर उपनिवेश को समान मताधिकार रहता था। सन् १७७६ में १३ उपनिवेशों में से केवल नौ के प्रतिनिधियों ने ब्रिटिश पार्लिमेंट द्वारा कर लगाए जाने का विरोध किया।

अगले वर्ष सन् १७७७ में संघ (कन्फेडरेशन) के मुख्य नियम तय किए गए। परन्तु सन् १७८१ तक उनके अनुसार कोई कानून नहीं बनने पाया। काँग्रेस को अलग-अलग उपनिवेशों पर कोई वास्तविक अधिकार न था वह केवल एक सलाहकार संस्था थी, और अधिकार प्राप्त सरकार की हैसियत से काम करने में असमर्थ रही। जब तक इंगलैंड से युद्ध होता रहा, तब तक अलग-अलग राज्यों ने अपने आपसी भेद भावों को छोड़ दिया। बाद में वे अपने संगठन यानी काँग्रेस की उपेक्षा करने लगे। होते-होते सन् १७८७ में वर्तमान विधान की रचना हुई, और अमरीका की संघ-सरकार निश्चित रूप से कायम हुई। संघ में शासन, कानून निर्माण और न्याय के काम अलग-अलग महकमों को सौंपे गए। कानून निर्माण के लिए काँग्रेस की दो सभाओं का संगठन हुआ; सिनेट और प्रतिनिधिसभा। यह सिद्धान्त मान लिया गया कि सिनेट में तो अलग-अलग राज्यों के प्रतिनिधि रहें और प्रतिनिधि-सभा में आबादी के हिसाब से सारी जनता के। शासन-अधिकार राष्ट्रपति (प्रेसीडेन्ट) को दिया गया, जिसकी स्थिति संघ में उसी तरह की थी, जैसी गवर्नरों की अपने-अपने राज्य में।

आरम्भ में इस विधान को केवल एक सुविधा की चीज़ समझा गया। इसे राष्ट्रीय एकता कराने वाला बन्धन नहीं माना गया। राज्यों ने अपना पुराना रवैया जारी रखा। धीरे-धीरे उन्हें संघ-विधान की उपयोगिता मालूम हुई। उनका एक दूसरे के प्रति सन्देह और अविश्वास दूर हुआ। रेल और सड़कों की उन्नति होने से उनको जनताओं का मिलना जुलना बढ़ा और वे आपस में मेल और उदारता का व्यवहार करने लगे। अब तक सब उपनिवेश केवल पूरब की तरफ़ समुद्र-तट पर थे। अब आदमी धीरे-धीरे पच्छिम की तरफ भी बढ़ने लगे। इस तरह उपनिवेशों की संख्या भी बढ़ने लगी, और वे संघ में शामिल होते गए। अब अलग-अलग राज्य कुल मिलाकर ४८ हैं।

अमरीका की राष्ट्रीय एकता के पूरा होने में एक बाधा अभी बनी

हुई थी। दक्खिन के राज्यों में दासता की प्रथा थी, इस से उनका उत्तरी राज्यों से सामाजिक मेल नहीं हो रहा था। दास प्रथा ने इतना फ़रक पैदा कर दिया था कि दक्खिन वाले अपनी सरकार उत्तर वालों से अलग क़ायम करने के इच्छुक हो गए। परिणाम स्वरूप सन् १८६१ में एक गृहयुद्ध (सिविल वार) हुआ इसमें आखीर में जाकर दक्खिन के उपनिवेशों की हार हुई। सन् १८६५ में क़ानून द्वारा अमरीका के संयुक्त राज्यों से दास-प्रथा उठा दी गई। इससे समानता बढ़ी। और उत्तर तथा दक्खिन के राज्यों का आपस में पूरा मेल हो गया।

अब संयुक्त-राज्य अमरीका एक राष्ट्र है, उसकी सरकार संघात्मक है। अलग-अलग राज्य उसके अंग हैं। उन्हें अपने-अपने क्षेत्र में ऐसे अधिकार हैं, जो उनके तथा संघ के विधान द्वारा उन्हें मिले हैं। संघ-सरकार उन सब से ऊपर है, और उसका विधान सामूहिक दृष्टि से उन सब राज्यों के विधान से ऊँचा या ऊपर है। संघ सरकार के हाथों में ऐसे विषय और कार्य हैं, जिनका सम्बन्ध सब राज्यों से है, जैसे, सेना, डाक, तार, रेडियो, टकसाल, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, वैदेशिक नीति आदि। अलग-अलग राज्यों को वे विषय सौंपे गए हैं, जिनका उस राज्य से ही सम्बन्ध है—जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, पुलिस, निर्माण कार्य, विवाह या तलाक आदि। इस तरह संघ और अलग-अलग राज्यों के कार्यक्षेत्र और अधिकार विधान द्वारा निर्धारित हैं। वे एक दूसरे की सीमाओं में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। यदि संघ का किसी राज्य से किसी विषय में विवाद या मतभेद हो तो उसका फ़ैसला संयुक्त-राज्य-अमरीका की सब से बड़ी अदालत, सुप्रीम कोर्ट करती है। यदि कोई राज्य उसके फ़ैसले को नहीं मानता तो वह बाकी सब ४७ राज्यों का विरोधी गिना जाता है, इसलिए कोई राज्य इसका साहस नहीं करता।

अमरीका के संयुक्त राज्य की तरह रूस और स्विटजरलैण्ड आदि देशों में भी संघ-राज्य कायम हैं। सब का इतिहास अलग-अलग होने पर भी मूल बात एक ही है—कुछ राज्यों का एकीकरण। किसी संघ-

राज्य की ब्योरेवार बातों से हमें मतलब नहीं। यहाँ केवल यह विचार करना है कि इससे मनुष्य कहाँ तक एकता की ओर प्रगति करता हुआ मालूम होता है।

पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य नगर-राज्य से आगे बढ़ कर राष्ट्र-राज्य पर आया। यहाँ आने पर भी उसे अपनी रक्षा और उन्नति के लिए और दूसरों के अन्याय से बचने के लिए अपनी शक्ति बढ़ाने की ज़रूरत मालूम हुई। इसलिए उसने कई-कई राज्यों को मिलाकर संघ-राज्य कायम करने की योजना की, और कुछ बाधाओं, हिचकिचाहट और विफलताओं के बाद कहीं-कहीं इसमें उसने सफलता भी पाई। इस तरह संघ-राज्य निश्चय ही राष्ट्र-राज्य से आगे की मंज़िल है। इसमें अपने अंगों के गुण दोष मौजूद रहते हैं। यदि इसके अधिकांश अंगों या प्रबल अंगों में कोई गुण होता है, तो उनके प्रभाव से उस गुण का विस्तार संघ के दूसरे राज्यों में भी हो सकता है। जैसे कि अमरीका के उत्तरी राज्यों में दास-प्रथा के विरोध का भाव था, उन्होंने दक्खिन राज्यों को दास-प्रथा का त्याग करने के लिए मजबूर कर दिखाया। इस तरह इस अंश में मानवता का मान हुआ; और, विचारशील सज्जनों की दृष्टि में संयुक्त राज्य अमरीका का गौरव बढ़ा।

परन्तु इसके साथ दूसरी बातें भी विचार करने की हैं। अमरीका में अभी तक वहाँ के काले रंग के हब्शी लोगों के साथ जैसा रोमांचकारी दुर्व्यवहार होता है, वह किसी भी सभ्य और उन्नत कहे जानेवाले राज्य के लिए कलंक की बात है। अमरीका में वर्णभेद यानी काले गोरे का फरक घातक रूप में मौजूद है। फिर वहाँ लोगों में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की अनिष्टकारी आकांक्षा भी भरी हुई है। निदान, संघ-राज्य के लिए न तो यही ज़रूरी है कि वह इन दुर्गुणों से मुक्त रहे, और न यही आवश्यक है कि उसमें इन दुर्गुणों का समावेश रहे। यह तो संघ के अलग अलग राज्यों के बलाबल पर निर्भर है कि वे अपने संगठित रूप को कहाँ तक मानवता की दृष्टि से आगे बढ़ाते हैं। आवश्यकता

है कि हर राज्य अपना आदर्श ऊँचा रखे और भरसक परिश्रम करके तथा कष्ट उठाकर अपने साथी राज्यो की शुद्धि और उत्थान के लिए कटिबद्ध रहे, और विश्व-राज्य के लिए अनुकूल क्षेत्र तैयार करने में अपनी सारी शक्ति और सेवाएँ अर्पण कर दे। इस प्रसंग में विशेष विचार आगे किया जायगा।

नवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

[अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना—अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ राष्ट्र संघ—भारत का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध]

पूर्व युग के मनुष्यों ने छोटे-छोटे दलों में समाज की रचना की थी, उन्हीं दलों के लिए राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक नियमों की रचना की थी। किन्तु अब धीरे धीरे वे सारे संसार को संगठित करके ऐसे नियमों को बनाने के प्रयत्न में हैं, जो इस अखिल विश्व की समाज को एक बृहत् संगठन बनाए रखने में सफल हो सकें।

--श्यामबिहारी दुबे

जिस तरह एक आदमी को दूसरे आदमी से मेलजोल करने की ज़रूरत होती है, उसी तरह एक गाँव या नगर को दूसरे गाँव या नगर से, और एक राज्य को दूसरे राज्य से सम्बन्ध कायम करने की ज़रूरत होती है। इस अध्याय में हम विविध राज्यों के एक दूसरे से सहयोग के धीरे-धीरे बढ़ने पर विचार करेंगे। पहले हम यह जान लें कि किस तरह दूर-दूर के मनुष्यों में मेल बढ़ा और उन्हें एक दूसरे से आर्थिक या सामाजिक सम्बन्ध जोड़ना पड़ा।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना—शुरू ज़माने में आदमी का रहनमहन बहुत सीधा-सादा और उसका जीवन बड़ा एकांगी था। जहाँ वह रहता था, वहाँ और उसके पाँच दस मील इधर-उधर तक में उसकी सारी ज़रूरतें पूरी हो जाती थीं। उसकी दुनिया बहुत छोटी थी। उसका विचार-क्षेत्र परिमित था, उसका सुख-दुख, उसकी दोस्ती-दुश्मनी, उसकी सहानुभूति, क्रोध, ईर्षा आदि सभी का क्षेत्र बहुत सीमित था। उसे अपने से ज्यादह दूर रहने वालों से मिलने का प्रसंग बहुत कम आता था, उसके पास जाने के उन्नत साधनों के अभाव में उसका संसार आम तौर पर कुछ गांवों या एक दो नगरों तक ही परिमित रहता था। आदमी अपनी ज़रूरत और सुविधा के अनुसार ही अपनी संस्थाएँ बनाता है और उनके स्वरूप में हेरफेर करता है। इसलिए उस समय के एकस्थानीय या अलहदगी के जीवन में छोटे छोटे नगर-राज्यों से ही काम चल जाता था।

धीरे-धीरे परिस्थिति बदली। आदमी की ज़रूरतें बढ़ीं; उन्हें पूरा करने के लिए उसे दूर दूर तक दौड़ धूप करनी पड़ी। आने जाने के साधनों की ईजाद और उन्नति हुई। विज्ञान ने आदमी की अधिकाधिक मदद की। इस तरह अठारहवीं सदी से लोगों के आपसी सम्बन्ध में खास तौर से वृद्धि होने लगी। दूरी का सवाल हल होता गया। सैकड़ों और हज़ारों मील के फासले, जिनको पहले तय करना क़रीब-क़रीब नामुमकिन माना जाता था, अब आसान हो गए; न केवल इने गिने खास आदमियों के लिए, बल्कि हज़ारों लाखों आदमियों के लिए। महीनों और वर्षों की यात्राएँ अब दिनों और हफ़्तों की रह गईं। नतीजा यह हुआ कि स्वावलम्बी ग्राम या नगर-संस्थाओं का अन्त हो चला।

आदमी का निर्वाह अपने गाँव, शहर या निवास-स्थान की बनी चीज़ों से बहुत कम होने लगा। अब हमें न केवल दूसरे नगरों की, बल्कि अपने देश से बाहर की भी चीज़ों की ज़रूरत होती है। हमारा

जीवन निर्वाह दूसरे देशों के सहयोग पर आश्रित है। यह बात किसी भी मामूली गृहस्थ का सामान देखने से ज़ाहिर हो जाती है। संसार के किसी देश पर कुछ संकट आए तो उसका असर हमारी आयात-निर्यात पर पड़ता है, और उसकी सूचना हमारे नगरों में ही नहीं, गाँवों में भी पहुँच जाती है।

भौतिक जगत की बात छोड़कर अब हम जनता का विचार करें। पुराने ज़माने में हर गाँव या नगर में अधिकतर वहाँ के ही निवासी पीढ़ी दर पीढ़ी रहते चले आते थे। उनका अपने पास के स्थानों के निवासियों से कुछ परिचय भले ही हो जाता था, वे दूर देशों के आदमियों के सम्पर्क में नहीं आते थे। अब वह बात नहीं रही। दूर दूर के देशों की जनता के बीच में उन्हें अलग करने वाली जो दीवारें खड़ी थीं, उन्हें विज्ञान ने बहुत कुछ गिरा दिया है, और अब और भी अधिक तेज़ी से गिरा रहा है। हर देश के थोड़े बहुत आदमी दूसरे देशों में रहते हैं, और वहाँ कितने ही विदेशियों का बहुत कुछ स्थाई निवास हो जाता है। भारतवर्ष की ही बात लीजिए। साधारण वर्षों में यहाँ के बीस बचीस लाख आदमी खासकर मलाया, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, अमरीका आदि में रहते हैं, यों तो संसार के सभी प्रमुख भागों में कुछ न कुछ हिन्दुस्तानी मिल जायँगे। इनमें से कुछ को तो विदेशों में रहते पीढ़ियाँ बीत गई। ये स्वभावतः उन देशों की ही उन्नति और सुख समृद्धि चाहते हैं, और अपनी शक्ति भर उसमें योग देते हैं।

इसी तरह यहाँ भारत में रहने वाले विदेशियों की बात लें। इंगलैंड यहाँ से पाँच छः हज़ार मील दूर है, वहाँ के निवासी अंगरेज़ यहाँ के अनेक स्थानों में रहते हैं। फिर बड़े-बड़े शहरों - ख़ासकर बम्बई, कलकत्ते और मदरास आदि में चीन, जापान, इटली, जर्मनी, अमरीका, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका तक के निवासी रहते पाए जाते हैं। कोई व्यापार धंधा करता है; कोई कल कारखानों में काम करता है, कोई

सरकारी या गैर-सरकारी नौकरी में है। इनमें से कितने ही आदमियों की कई पीढ़ियाँ यहाँ ही हो चुकी हैं। इनके लिए भारतवर्ष अपने देश सरीखा हो गया है। ये और इनके अपने देशों में रहने वाले भाई-बन्धु आदि भी यह चाहते हैं कि भारतवर्ष में सुख-शान्ति रहे, उपद्रव न हो, अकाल बाढ़ आदि का संकट न आए। यह कहा जा सकता है कि उनकी इस शुभकामना का बहुत कुछ कारण उनका स्वार्थ है; यहाँ की सुख-समृद्धि में ही उन्हें अपना हित दिखाई देता है। परन्तु इसी बात की ओर तो हम पाठकों का ध्यान दिलाना चाहते हैं। एक देश के हित में, भिन्न-भिन्न और दूर-दूर के देशों के आदमी अपना हित समझें, यह अवश्य ही शुभ भविष्य की सूचना है। आज दिन ऐसे लोग कम हैं तो भविष्य में ये अधिक होते जायँगे। निदान, अब कोई भू-भाग, कोई देश बाक़ी संसार से अलग नहीं रह सकता। वैज्ञानिक ईजादों ने दूर-दूर के आदमियों का आपसी सम्बन्ध बहुत बढ़ा दिया है। एक देश में होनेवाली घटना का असर उसी देश तक सीमित नहीं रहता। अब तो अमरीका में सोने की माँग बढ़ने पर भारतवासी अपने जेवर बेचने लगते हैं। इंगलैंड में गेहूँ की खपत ज्यादह होने पर हमारी मंडियों में उसका भाव चढ़ जाता है। ऐसी बातें हम हर रोज देखते हैं।

दूर-दूर के आदमियों का ऐसा सम्बन्ध बढ़ने के साथ, किसी तरह की अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था कायम करने की आवश्यकता बढ़ती गई, और वह कायम की गई। पिछले सवा सौ वर्ष में इसमें बराबर तरक्की हुई है। सन् १८१५ से पहले कोई ऐसी संस्था न थी, जिसमें अलग-अलग देशों की सरकारें अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर विचार करने के लिए भाग ले सकतीं। धीरे-धीरे परिस्थिति बदली और ऐसी संस्थाओं की स्थापना करनी पड़ी। 'करनी पड़ी' इसलिए कहा जाता है कि ऐसी हर संस्था की स्थापना के लिए यह ज़रूरी था कि जो राज्य उस से सम्बन्ध रखे, वह अपनी थोड़ी-बहुत स्वाधीनता का त्याग करे—अपनी कुछ प्रभुता, और अपने कुछ कल्पित 'राष्ट्रीय हितों' का अन्तर्राष्ट्रीय हितों के लिए

त्याग करे। इसके लिए उसे यह निश्चय हो जाना अत्यन्त आवश्यक था कि उसके अपने क्षेत्र का असली हित साधन उसी हालत में होगा, जब वह दूसरे राज्यों के हित की तरफ ध्यान दे। व्यक्तियों की भांति, संस्थाओं और राज्यों की समझ में यह बातें जल्दी नहीं आतीं कि हमारा हित दूसरों के हित के साथ इस तरह मिला हुआ है कि सब का हित साधन करने से हमारा हित खुदबखुद सिद्ध हो जाता है, और यदि हम में से हरेक केवल अपने स्वार्थ का विचार करता रहे तो किसी का भी असली और स्थायी हित साधन नहीं होता।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कायम करने की जरूरत पहले पहल व्यापारिक और आर्थिक दृष्टि से हुई। उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में 'डाक-संघ' (पोस्टल यूनियन) कायम हुआ। इस संघ से जो-जो सुविधाएँ हुईं, उनका अनुमान इस से पहले की परिस्थिति का विचार करने से अच्छी तरह हो सकता है। पहले हर राज्य डाक का अलग-अलग महसूल ठहराता था, और उस राज्य की सीमा से बाहर जाने वाले खत-पत्रों का महसूल, पत्र पाने वालों (विदेशियों) को देना पड़ता था। इस से बड़ी असुविधा और गड़बड़ होती थी। डाक-महसूल की दर, अलग-अलग रास्तों के अनुसार, अलग-अलग थी—जैसे जर्मनी से आस्ट्रिया पत्र भेजने की तीन दर थीं; अमरीका से आस्ट्रेलिया पत्र भेजने में हर आधे औंस वज़न का महसूल किसी रास्ते से पाँच सेंट तो किसी रास्ते से १०२ सेंट तक था। आखिरकार यह असह्य मालूम होने लगा, और बहुत से राष्ट्रों ने मिल कर अन्तर्राष्ट्रीय डाक की व्यवस्था की।

इसी तरह धीरे-धीरे तार, बे-तार के तार, और सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्ध किया गया, जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय हित यानी सब देशों की भलाई के सामने परस्पर विरोधी राष्ट्रीय हितों को दबना पड़ा। सन् १९१३ में इस तरह की ३३ अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ कायम हो चुकी थीं।

जब कि अलग-अलग देशों की सरकारें इस तरह की अन्तर्राष्ट्रीय

संस्थाएँ बना रही थीं, उन देशों के कुछ नागरिक अपने हितों को मिलाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन कर रहे थे। सब से पहली अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस शायद सन् ८४० की, लन्दन में होने वाली दासता-विरोधी सभा थी। यह सभा अलग अलग राज्यों के प्रतिनिधियों की नहीं थी, बल्कि उन राष्ट्रों के व्यक्तियों की थी। सन् १८४०-४६ में ६ अन्तर्राष्ट्रीय सभाएँ हुईं। अस्सी वर्ष बाद सन् १६२०-२६ में इनकी तादाद लगभग उन्नीस सौ तक पहुँच गई।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ

इस तरह के अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का कुछ अनुमान, अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ के काम से हो सकता है। मशीनों और कल कारखानों का प्रचार बढ़ने से उन में काम करनें वाले मजदूरों की सुरक्षा का प्रश्न उन्नीसवीं सदी के मध्य में पैदा हो गया था। सन् १६०० में पेरिस में मजदूरों की 'कानूनी हिफाजत के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सभा' कायम हुई। इसके दो अधिवेशन सन् १६०६ और सन् १६१३ में बर्न (स्विटज़रलैण्ड) में हुए। पिछले महायुद्ध (१६१४-१८) के समय इसका काम अस्त-व्यस्त हो गया। पर रूस के बोलशेविक आन्दोलन ने मजदूरों के सवाल को महत्त्व दे दिया। सन् १६१६ में बर्न नगर में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ परिषद हुई। उसमें यह तय हुआ कि पूँजीपतियों और मजदूरों में सहयोग कायम किया जाय।* वारसाई के सुलह नामे में मजदूर संघ का विधान बनाया गया और बताया गया कि मजदूरों की हालत बहुत खराब और दर्दनाक है और उसमें जल्द सुधार होना जरूरी है। सुलहनामे में विविध राष्ट्रों के पथ-प्रदर्शन के लिए नीचे

* ओ० एफ० जो० विल्सन ने लिखा था कि इस संगठन का उद्देश्य शायद यह है कि कुछ थोड़े से ऐसे छोटे मोटे सुधार कर दिए जायँ, जिनसे पूँजीपतियों के खिलाफ सामाजिक क्रान्ति का खतरा जाता रहे।

लिखे सिद्धान्त दर्ज किए गए:—

(१) मजदूरी को बाजारी क्रय-विक्रय (खरीद-फरोख्त) की चीज न माना जाय, यानी मजदूर ज्यादह मिलने से फायदा उठाकर मजदूरी कम न दी जाय । (२) मजदूरों और पूँजीपतियों दोनों को वैध आन्दोलन के लिए संगठन करने या संस्थाएँ बनाने का अधिकार रहे (३) मजदूरों की दर देश-काल और निर्खों के अनुसार काफी रखी जाय (४) जिन देशों में मजदूरों के लिए आठ घंटे का दिन और ४८ घंटे का सप्ताह नहीं माना जाता, उनमें इसे मनाने की कोशिश की जाय । (५) हर सप्ताह में मजदूरों को एक दिन की छुट्टी मजदूरी (वेतन) समेत दी या; वह दिन जहाँ तक हो सके, रविवार हो । (६) छोटे बालकों से मजदूरी का काम कराना बन्द किया जाय; बड़े लड़कों से ऐसा हीं काम लिया जाय जिससे उनकी शिक्षा और शारीरिक उन्नति में बाधा न हो । (७) पुरुषों और स्त्रियों को बराबर काम के लिए बराबर मजदूरी दी जाय । (८) मजदूरों के काम और मजदूरी आदि का जो ढंग कानून से तय हो वह आर्थिक दृष्टि से न्यायसंगत हो । (९) हर राष्ट्र अपने यहाँ ऐसा प्रबंध करदे कि ऊपर लिखे सिद्धान्त ठीक-ठीक तौर से अमल में आते हैं या नहीं, इसकी जांच हुआ करे, और उस जांच में स्त्रियाँ भी भाग लिया करें ।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ में राष्ट्र-संघ के सदस्य-राष्ट्र तो थे ही, दूसरे राष्ट्र भी उसमें शामिल हो सकते थे । इस संघ के क्षेत्र के विस्तार का कुछ अनुमान इस बात से हो सकता है कि इसमें ५६ राष्ट्रों के चार-चार प्रतिनिधि शामिल थे—दो तो हर राष्ट्र की सरकार के, एक वहाँ के पूँजीपतियों का, और एक मजदूरों का । पूँजीपतियों और मजदूरों के प्रतिनिधियों को उनकी अपनी संस्थाओं की राय से, वहाँ की सरकार नियुक्त करती थी ।

इस संघ की दो संस्थाएँ थीं—अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर परिषद् और अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय । परिषद् केवल प्रस्ताव पास करती और

सिफारिश करती थी। किसी विषय का कानून नहीं बना सकती थी। जिस राज्य की व्यवस्थापक सभा उचित समझती, वही उस विषय का कानून बनाती थी। परिषद में अंगरेजी और फ्रांसीसी ये दो भाषाएँ बरती जाती थीं। अधिवेशन जेनेवा में होता था। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय भी जेनेवा में ही था। यह कार्यालय परिषद के प्रस्तावों पर अमल करता था और परिषद की सिफारिशों को अलग-अलग राज्यों की सरकारों से मंजूर कराता था। यह संघ मजदूरों और पूँजीपतियों की अन्तर्राष्ट्रीय या राष्ट्रीय-सामाजिक समस्याओं पर भी विचार करता था। संघ के कार्यशाली मंडल के स्थायी सदस्य ऐसे देशों के होते थे, जिनका औद्योगिक महत्व माना जाता था, जैसे बेलजियम, केनेडा फ्रांस, जर्मनी, इंगलैंएड, जापान, इटली और भारतवर्ष। इस विशाल संस्था का इतना सा परिचय भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्रवृत्ति का इच्छा सूचक है।

राष्ट्र संघ

अब हम इसी तरह की एक और संस्था के सम्बन्ध में लिखते हैं, जिसका क्षेत्र इससे भी अधिक फैला हुआ था। यह है राष्ट्र-संघ या 'लीग-आफ़-नेशन्स'। इसकी स्थापना जेनेवा में पहले योरपीय महायुद्ध के बाद सन् १६१६ में हुई। इसका मुख्य उद्देश्य शान्ति कायम करना या युद्ध निवारण था, पर उसकी चर्चा अगले अध्याय में की जायगी; यहाँ हम उसके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग-कार्य पर ही विचार करेंगे। पहले संक्षेप में इसका संगठन जान लेना चाहिए।

इस संस्था के सदस्य वे राष्ट्र होते थे, जो यह प्रतिज्ञा करते थे कि हम बाहरी हमलों से एक दूसरे की रक्षा करेंगे और आपस में, या दूसरे किसी भी राष्ट्र से, युद्ध नहीं करेंगे, जब तक कि अपने झगड़ों को पंचायत के सामने फैसले या जाँच के लिए न रख लें और तीन महीने का समय फैसले के लिए न गुजार दें; जो राष्ट्र अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ेगा वह और सब सदस्य-राष्ट्रों का विरोधी समझा जायगा और उन सब

का यह कर्तव्य होगा कि प्रतिज्ञा भंग करने वाले सदस्य-राष्ट्र से आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्ध तोड़ दे।

राष्ट्र-संघ की नीचे लिखे तीन समितियाँ थीं—(१) असेम्बली (२) कौंसिल और (३) सेक्रेटेरियट। इन से मिली हुई कुछ विशेष कार्य करने वाली और सलाह देने वाली समितियाँ भी थीं, जिनका आगे उल्लेख किया जायगा। असेम्बली के सदस्य वे सब राज्य थे, जो राष्ट्र-संघ के सदस्य थे। हर सदस्य राज्य को तीन-तीन प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था, परन्तु उसका मत एक ही होता था। असेम्बली के अधिवेशन जेनेवा में होते थे; हर साल प्रायः एक अधिवेशन होता था। कौंसिल के कुछ सदस्य स्थायी, और कुछ अस्थायी होते थे। इंगलैण्ड, फ्रांस और इटली आदि स्थायी सदस्य थे, जिनका कभी चुनाव नहीं होता था। इनका प्रभाव भी बहुत अधिक था। कौंसिल के अधिवेशन प्रति वर्ष कम से कम चार होते थे। वह साल भर तक अपना काम कमीशनों और समितियों द्वारा करती थी।

सेक्रेटेरियट कार्यालय के नीचे लिखे १२ विभाग थे—(१) राजनैतिक विभाग, (२) आर्थिक विभाग, (३) रफ्तनी विभाग, (४) प्रबन्ध कमीशन और अल्पसंख्यक विभाग, (५) आदेशयुक्त शासन विभाग, (६) निशस्त्रीकरण विभाग, (७) स्वास्थ्य विभाग, (८) सामाजिक विभाग (९) बौद्धिक सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय (ब्यूरो) विभाग, (१०) कानून विभाग, (११) सूचना विभाग, और (१२) राजस्व विभाग। इनके अलावा कार्यालय सार-संग्रह, अनुवाद, प्रकाशन आदि का भी काम करता था।

राष्ट्र-संघ की कई सहायक संस्थाएँ थीं। इनमें से कुछ स्थायी थीं, जो संघ के सब तरह के काम किया करती थीं; और कुछ अस्थायी थीं, जो आवश्यकता होने पर बना ली जाती थीं। ये सहायक संस्थाएँ दो तरह की थीं—(१) खास कामों के लिए विशेषज्ञों की समितियाँ, (२) परामर्श समितियाँ। विशेषज्ञों की समितियाँ तीन थीं—(क)

अर्थ और राजस्व समिति (ख) रफ्तनी समिति, और (ग) स्वास्थ्य समिति। अर्थ और राजस्व समिति ने कई ऐसे देशों के आर्थिक पुनर्गठन की योजनाएँ बनाईं जिनको आर्थिक साख और मुद्रा यानी टकसाल-नीति को पिछले योरपीय महायुद्ध के कारण धक्का लगा था। इसकी योजनाओं के अनुसार ही अन्तर्राष्ट्रीय ऋण का प्रबन्ध किया गया। मिसाल के तौर पर राष्ट्र-संघ की सहायता से सन् १९२२ में आस्ट्रिया दिवालिया होने से बच गया, उसके बजट का संतुलन हो गया, वहाँ के सिक्कों का मूल्य ठहर गया, बैङ्कों की बचत बीस गुना हो गई, लोगों के रहन-सहन का खर्च कम हो गया और बेकारी घटकर काबू में आ गई। सन् १२४ में दूसरे देशों की तरह आस्ट्रिया में भी आर्थिक संकट आया, परन्तु राष्ट्र-संघ की सहायता से वह उसका सामना कर सका। चोदह वर्ष राष्ट्र-संघ द्वारा सूत्र संचालित होने पर सन् १९३६ में आस्ट्रिया ने स्वयं अपना कार्य संभाला और राजस्व का उत्तरदायित्व ग्रहण किया।*

रफ्तनी समिति के सुपुर्द यह काम था कि भिन्न भिन्न देशों के बीच होने वाली रफ्तनी स्वतंत्रता पूर्वक हो सके, और यदि कोई बाधा हो तो उसके विषय में समिति राष्ट्र-सँघ की कौंसिल को परामर्श दे। इस संस्था ने इस विषय की पुरानी संस्थाओं को भी रहने दिया, और उनके कार्य को अधिक व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया।

स्वास्थ्य समिति के काम की मिसाल यह है कि इसने एक मलेरिया कमीशन नियुक्त किया था, जो संसार के विविध देशों में जाकर इस रोग की जाँच करे, और इस रोग के नष्ट होने के उपाय सुझावे। इस कमीशन के सदस्यों में विविध राष्ट्रों के विशेषज्ञ थे औह उन्होंने पैलेस्टाइन, स्पेन, संयुक्त राज्य अमरीका, यूगोस्लेविया, इटली, बलगेरिया, यूनान, रूस और भारत आदि देशों में जाकर वहाँ मलेरिया फैलने की अवस्था,

* A Lasting peace नाम की पुस्तक के आधार पर।

लोगों के रहन-सहन, मलेरिया फैलाने वाले मच्छरों की आदतें आदि बातों और इस रोग को न फैलने देने के उपायों पर विचार किया। उनकी इस विषय की रिपोर्ट अनेक जानने योग्य बातों से भरी थी, वह विविध राज्यों के स्वास्थ्य विभागों के अधिकारियों के पास भेजी गई। इस तरह संसार में फैले हुए इस रोग की रोक और इलाज के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मेल-जोल बढ़ाने का कार्य किया गया। स्वास्थ्य समिति एक साप्ताहिक रिपोर्ट भी प्रकाशित करती थी; उसमें प्लेग, चेचक आदि के उन रोगियों का ब्योरा रहता था, जो बन्दरगाहों में हों, जहां से रोग संसार के विविध देशों में फैल सकते हैं। समिति का एक दफ्तर सिंगापुर में था, जो हर रोज यहाँ से होकर एशियाई बन्दरगाहों में आने वाले यात्रियों की बीमारियों के बारे में बेतार के तार द्वारा समाचार भेजता था।

राष्ट्र-संघ के विशेषज्ञों के काम के उदाहरण-स्वरूप यह कहना है कि उनकी सन् १६३० की कमेटी की रिपोर्ट से चीन की सरकार ने सार्वजनिक स्वास्थ्य, रेल सड़क आदि, अर्थ और राजस्व, शिक्षा, और बाढ़ से रक्षा आदि विषयों में लाभ उठाकर अपने देश का बहुत सुधार किया।

राष्ट्र-संघ को परामर्श देने वाली मुख्य-मुख्य संस्थाएँ ये थीं—१—निशस्त्रीकरण कमीशन, २—जल-थल-वायु सेना कमीशन-३—आदेश (मेंडेट) कमीशन। ४—अफीम और दूसरे विषैले पदार्थों के अनियमित क्रय-विक्रय सम्बन्धी कमीशन, ५—सहकारिता कमीशन। ये समितियाँ अपने अपने विषय की ऐसी सामग्री तैयार करती थीं जो राजनैतिक संस्थाओं के सामने रखी जा सकें।

राष्ट्र-संघ के विधान में कहा गया था कि स्त्रियों और बच्चों की, और अफीम और विषैली चीजों की खरीद-बिक्री के बारे में राष्ट्रों के बीच जो इकरार हुए हैं, वे कहाँ तक काम में आते हैं, उसकी जाँच की जाय। राष्ट्र-संघ ने इस जाँच के अलावा गंदे या

अश्लील साहित्य को एक देश से दूसरे देश में जाने से रोकने, जहाँ दास-प्रथा थी उसे बन्द करने, युद्ध के निराश्रित सिपाहियों को सहायता पहुँचाने, और युद्ध के असमर्थ कैदियों को उनके घर पहुँचाने का भी उद्योग किया। अफीम और दूसरी नशीली चीजों की गैर-कानूनी बिक्री को रोकने के लिए संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय इकरार नामा तैयार किया और उस पर भारत आदि विविध राष्ट्रों की सम्पत्ति और दस्तखत हासिल किए। इसी तरह संघ ने स्त्रियों और बच्चों की खरीद बेच को रोकने का उद्योग किया। संघ ने दो कमेटियां बनाईं, जिनमें से एक अफीम के यातायात के सम्बन्ध में और दूसरी बच्चों और लड़कों की रक्षा और स्वास्थ्य के विषय में काम करती थी। संघ का सामाजिक विभाग इन दोनो कमेटियो के दफ्तर का काम करता था।

बौद्धिक सहकारिता कमेटी सन् १६२२ में कायम हुई थी। यह, सहकारिता सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार करती और संसार में बौद्धिक सम्बन्धों की वृद्धि करने का कार्य करती थी। यह स्पष्ट ही है कि विविध राष्ट्रों के विद्वानों के पारस्परिक सम्पर्क से वैज्ञानिक उन्नति और शान्ति के लिए अनुकूल वातावरण होने में सहायता मिलती है।

राष्ट्र-संघ के काम में दूर-दूर के, अलग-अलग समाजों के, स्त्री-पुरुष शामिल थे। इनमें राजनीतिज्ञ, मजदूर और वैज्ञानिक सभी तरह के लोग थे। इनकी संस्कृति, रहन सहन आदि अलग अलग तरह के थे। पर सब के मन में एक सीमा तक यह विचार रहता था कि हमें एक दूसरे का दृष्टिकोण जानने और समझने की कोशिश करनी चाहिए। ऐसी भावना का हितकर प्रभाव केवल राष्ट्र-संघ के प्रधान कार्यालय तक ही परिमित नहीं रहा, बल्कि दूर-दूर के देशों पर भी पड़ा।

भारत का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

आज कल विविध देशों का आपसी सहयोग कितना बढ़ता जा रहा है, अन्तर्राष्ट्रीय इसके उदाहरण के तौर पर हम नीचे उन मुख्य-मुख्य संस्थाओं के नाम देते हैं, जिनसे भारत का इस समय सम्बन्ध है; इन

संस्थाओं का विशेष परिचय आगे प्रसंगानुसार दिया जायगा।

भारत अब संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य है, और इसलिए उसकी बड़ी सभा (जनरल असेम्बली) के अधिवेशनों में भाग लेता है। इसके अलावा भारत कुछ ऐसे संगठनों का भी सदस्य है, जो विविध सरकारों के आपसी समझौते से बनाए गए हैं। ये संगठन नीचे लिखे हैं :—

१—अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ
२—खाद्य और कृषि संस्था
३—शिक्षा विज्ञान और संस्कृति संस्था
४—अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संस्था
५—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक
६—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
७—विश्व डाक यूनियन
८—अन्तर्राष्ट्रीय तार संवाद यूनियन
९—विश्व स्वास्थ्य संस्था
१०—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन
११—अन्तर्राष्ट्रीय अन्तरिक्ष संगठन
१२—अन्तर्राष्ट्रीय समुद्री परामर्श संगठन
१३ आर्थिक और सामाजिक परिषद्
१४—सुरक्षा परिषद्

भारत इन कमीशनों का भी सदस्य है :—

(क) आर्थिक और नियोजन कमीशन
(ख) मानव अधिकार कमीशन
(ग) अल्प संख्यक संरक्षण तथा भेद-भाव निरोधक उप-कमीशन
(घ) मादक वस्तु कमीशन
(च) यातायात और संवाद वाहन कमीशन
(छ) महिला स्थिति कमीशन
(ज) एशिया तथा सुदूर पूर्व आर्थिक कमीशन

इसके अतिरिक्त भारत बहुत से अस्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भी भाग लेता है।

इस प्रकार खासकर पिछले सौ वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध उत्तरोत्तर बढ़ता रहा है। यह सम्बन्ध चाहता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सरकार का संगठन हो, विविध राज्यों के एक दूसरे से संघर्ष का अन्त हो और संसार में शान्ति बनी रहे। यह काम एक दम होने वाला नहीं है, तथापि यह क्रमशः हो रहा है। अभी तक हमने कहाँ तक प्रगति की है, इसका विचार अगले दो अध्यायों में किया जायगा।

दसवाँ अध्याय

शान्ति के प्रयत्न

[शान्ति सम्मेलन—राज्यों द्वारा किए जाने वाले प्रयत्न—राष्ट्रसंघ का काम]

शान्ति की विजय युद्ध की विजयों की अपेक्षा अधिक स्थायी और दृढ़ होती हैं। —*एन० एम० कुलकर्णी*

दुनियां की बड़ी-से-बड़ी प्रगतियां और क्रांतियां, बड़े-से-बड़े आंदोलन कभी न कभी एक व्यक्ति से ही शुरू होते हैं और निश्चय ही आरम्भ में वे हँसी के पात्र बनते हैं। महात्मा बुद्ध ने जब पहला धर्मोपदेश दिया तो सुननेवाले लोग उठकर भाग गए, हज़रत मुहम्मद ने पहली मस्जिद का निर्माण किया तो वे अपने सिर पर गारा और पत्थर ढोते थे, गांधीजी ने अफ्रीका में अपने पत्र की शुरुआत की तो वे छपाई की मशीन स्वयं अपने हाथों से घंटों चलाते थे। उनके चारों तरफ के लोग उन्हें सनकी और मूर्ख मानते हों, इसमें कोई नई या ताज्जुब की बात नहीं थी। —*'लोकवाणी'*

प्रिंस पीटर क्रोपोटकिन ने कहा है एक ही युद्ध से, युद्ध के समय और उसके बाद इतनी हानि हो सकती है; जितना सैकड़ों वर्ष के लगातार आपसी मेल मिलाप से लाभ हो। इससे जाहिर है कि युद्ध को बन्द करने और शान्ति बनाए रखने की कितनी ज़रूरत है। इस अध्याय में हम ऐसे प्रयत्नों के बारे में लिखेंगे, जिनका मुख्य उद्देश्य आपस के लड़ाई-झगड़ों को मिटाना रहा है।

शान्ति सम्मेलन—पहले हम ऐसे आदमियों द्वारा किए जाने वाले प्रयत्नों का विचार करते हैं, जिनको, विदेशों की तो बात दूर रही, खुद अपने-अपने देश की राजनीति या समाजनीति में भी विशेष अधिकार प्राप्त नहीं था, जो राजा, मंत्री, धर्माचार्य आदि किसी बड़े पद पर प्रतिष्ठित नहीं थे, पर जो अपने अन्तःकरण की आवाज पर वह काम करने के लिए बेचैन रहते थे, जिसे वे दुनिया की भलाई का समझते थे, भले ही दुनिया के होशियार, चतुर या व्यवहार-कुशल आदमी उनकी हंसी उड़ावें या उन्हें पागल और सनकी कहें।

इस तरह की कोशिशों का इतिहास बहुत बड़ा है। ये कोशिशें करीब-करीब उतने ही पुराने समय से होती आ रही हैं, जितने समय से संसार में युद्ध होते आ रहे हैं। बात यह है कि आदमी में यदि लड़ने-झगड़ने और अपना स्वार्थ सिद्ध करने की प्रवृत्ति है, तो उसके साथ उसमें शान्ति-प्रियता और परोपकार तथा लोकसेवा की भी चाह है। प्रायः सभी देशों में समय-समय पर शान्तिवादियों ने अपने जीवन से समाज में अहिन्सा और शान्ति बनाए रखने का उदाहरण उपस्थित किया है। उनकी लम्बी श्रृंखला में पाठक महावीर, गौतम बुद्ध, ईसा-मसीह, चैतन्य महाप्रभु, टाल्स्टाय और रस्किन का नाम तो जानते ही होंगे। इस क्षेत्र में हमारे ज़माने के सबसे अधिक क्रान्तिकारी हुए म० गांधी। आपने जीवन का केन्द्र विन्दु अहिन्सा को बनाया, अपने प्रत्येक कार्य में अहिन्सा की बात सर्वोपरि रखी; न-जाने-कितने सज्जनों ने आपसे दूर-दूर रहते हुए भी अहिन्सा की प्रेरणा प्राप्त की। म० गांधी

ने सबसे बड़ी बात यह की कि अहिन्सा का व्यवहार व्यक्तिगत सीमा में न रख कर सामूहिक और सामाजिक क्षेत्र में किया। आपके महान प्रयोग का क्षेत्र पहले दक्षिण अफ्रीका फिनिक्स-आश्रम, फिर गुजरात साबरमती आश्रम और अन्त में मध्यप्रान्त का सेवा ग्राम-आश्रम रहा।

सन् १९४६ में म० गांधी ने अपनी अहिन्सात्मक नीति के आधार पर संसार में शान्ति-स्थापना की एक योजना बनाई। उसे अमल में लाने के लिए अमरीका, रूस, इंगलैंड आदि में उसका प्रचार किया गया। इसी वर्ष इगलैंड में एक सभा बुलाई गई, जिसमें विविध देशों के प्रतिनिधि थे। उसमें यह निश्चय किया गया कि पहला सम्मेलन भारत में किया जाय; और म० गांधी का मार्ग दर्शन या रहनुमाई हासिल करें। म० गांधी ने यह सलाह दी कि शान्ति सम्मेलन ब्रिटिश फौजों के भारत से हटा लिए जाने के बाद किया जाय। इस प्रकार सम्मेलन यहाँ जनवरी १९४९ में होना तय हुआ। पर दुर्भाग्य से जनवरी १९४८ में म० गांधी की हत्या कर डाली गई। कुछ कारणों से सम्मेलन मुलतवी रहा, और उसकी तैयारी के लिए एक प्रारम्भिक परिषद् जनवरी १९४९ में, डा० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में हुई। इस परिषद के एक प्रस्ताव में कहा गया कि हिन्दुस्तान में ऐसे एक भाई-चारे की बहुत आवश्यकता है। जिसका मुख्य काम यह रहेगा कि वह सत्य और अहिंसा पर आधारित विश्व की रचना को प्रत्यक्ष करने में मदद दे। जीवन के नियम के तौर पर सत्य और अहिंसा को मानने वाले सब लोग इस भाईचारे के सदस्य हो सकेंगे।

पीछे, दिसम्बर १९४९ के आरम्भ में विविध देशों के व्यक्ति यहाँ शान्ति निकेतन में जमा हुए। इनमें दो-तीन को छोड़ कर कोई दुनिया का मशहूर राजकीय नेता या कार्यकर्ता नहीं था, तथापि बहुतेरों को युद्ध में भाग लेने से इनकार करने के कारण लम्बे समय तक जेलों में और फौजी कैद में रहना पड़ा था। इनमें से कुछ निग्रो (हबशी) और

यहूदी जैसी पश्चिम की दलित जातियों के थे, या उनके मित्र थे, करीबन सभी रचनात्मक कार्य करने वाले थे। कुछ सज्जन 'फेलोशिप आफ रीकन्सीलिएशन'* से सम्बन्ध रखने वाले थे।

सम्मेलन ने अहिन्सा के व्यक्तिगत प्रयोग से लेकर विश्वराज्य की स्थापना में अहिन्सा के प्रयोग तक के विश्व शान्ति से सम्बन्धित छः विषयों पर एक प्रश्नावली प्रकाशित की:—

१—शान्तिवाद और अहिन्सा के दैनिक जीवन के व्यवहारिक उपयोग।

२—शान्ति के लिए शिक्षा

३—प्राचीन तथा नवीन शान्तिवाद और साम्राज्यवाद

४—जाति और रंग सम्बन्धी समस्याएँ और उनका हल,

५—विश्व राज्य का शान्तिवादी तरीका

६—शान्तिवादियों के विश्व संघ की योजना

शान्ति सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए राजकुमारी अमृत कौर ने कहा था कि आज भी अधिकांश व्यक्ति यह मानते हैं कि युद्ध के सिवा हमारी समस्याओं का कोई दूसरा समाधान नहीं है। इस मान्यता की गलती को दुरुस्त करना शान्ति सम्मेलन जैसी संस्थाओं का काम है। म० गांधी अपनी प्रार्थना में ११ व्रत दुहराया करते थे:—(१) स्वदेशी, (२) अहिन्सा, (३) सत्य, (४) अस्तेय, (चोरी न करना), (५) ब्रह्मचर्य; (६) अपरिग्रह, (७) शरीर-श्रम, (८) अस्वाद, (६) अभय, (१०) अस्पृश्यता निवारण और (११) सर्व-धर्म-समभाव। यदि अधिक-से-

*यह एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है; संसार के जुदा-जुदा हिस्सों में इसकी शाखाएँ या इस जैसी स्वतंत्र संस्थाएँ हैं। ये संस्थाएँ हमारे आश्रमों जैसी हैं। इनके कार्यकर्ता सादा जीवन बिताते हैं और अपने पड़ोसियों की सेवा करते हैं और समय-समय पर संसार के विविध हिस्सों में रहनेवाले दीन दुखियों की मदद करते हैं, चाहे वे किसी जाति, रंग या धर्म के क्यों न हों।

अधिक आदमी इन्हें अपने जीवन का आदर्श बनालें और इन्हें अमली रूप देने का प्रयत्न शुरू करदें तो निश्चय ही शान्ति की दिशा मे बहुत काम हो सकता है। सम्मेलन ने उपस्थित सज्जनों को शान्ति की खोज को सफल करने के सम्बन्ध में अपने-अपने विचार प्रकट किए।

एक सप्ताह विचार विनिमय करने के बाद, वे विविध दलों में विभाजित होकर, भारत के उन भिन्न-भिन्न भागों में, चले गए, जहाँ रचनात्मक कार्य के उल्लेखनीय केन्द्र हैं। दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में वे सेवाग्राम में एकत्र हुए। बड़े दिन—ईसा मसीह के जन्म दिन के अवसर पर गाँधी की सेवा ग्राम की पवित्र कुटी से बापू के परम अनुयायी डा० राजेन्द्र प्रसाद ने रेडियो द्वारा शान्ति की अपील की उसमें सादगी के जीवन को महान बताते हुए आपने संसार के समान्य स्त्री और पुरुष को कहा कि विश्व में शान्ति स्थापना के लिए यह जरूरी है कि हर एक स्थान पर तथा सब रूपों में शोषण का अन्त होना चाहिए—चाहे वह सामाजिक हो, राजनैतिक हो, आर्थिक हो या धार्मिक ही क्यों न हो, और चाहे एशिया में होता हो अथवा अफ्रीका में, यूरप में अथवा अमरीका में।' सम्मेलन मे सम्मिलित अन्य देशों के प्रतिनिधियों द्वारा भी अपने-अपने देशों के नाम इसी प्रकार के सन्देश दिए गए। बुनियादी शिक्षा प्रणाली, विकेंद्रित आर्थिक व्यवस्था विश्व नागरिकता, विश्व सरकार, सत्याग्रही टुकड़ियों, साम्यवादियों के प्रति शान्ति वादियों के रवैये, गिरफ्तार शान्ति वादियों तथा युद्ध के कैदियों की अवस्था और जातीय भेदभाव और साम्राज्य वाद के सम्बन्ध में प्रतिनिधियों ने अपने विचार और अनुभवों को सिलसिले वार बैठा कर आगे के कार्य क्रम की रूप-रेखा बनाई। इसमें कोई शक नहीं कि संसार में स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए यह सम्मेलन एक बहुत प्रभाव शाली कोशिश है। जैसा कि सम्मेलन में भाषण करते हुए डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कहाः—"भले ही शांतिवादियों का यह सम्मेलन सरकारों की कार्रवाइयों को प्रभावित करने की स्थिति में न हो किन्तु यह निश्चित

रूप से व्यक्तियों के जीवन तथा उनके कार्य-कलापों को प्रभावित कर सकता है तथा उन्हें विशेष रूप दे सकता है; और स्मरण रहे कि व्यक्तियों से ही एक राष्ट्र बनता है।"

राज्यों द्वारा किए जाने वाले प्रयत्न—जनता द्वारा होने वाले शान्ति के प्रयत्नों की बात यहां ही समाप्त करके अब उन कोशिशों का जिक्र करते हैं जो राजाओं, सत्ताधारियों या राज्यों ने समय-समय पर की। बहुत ही पुराने ज़माने की बात छोड़ कर यह तो कहा ही जा सकता है कि अब से ढाई हजार साल पहले यूनान के नगर-राज्यों ने अपना एक संघ बनाया था, जिसका उद्देश्य उनके आपसी युद्धों को रोकना, और यदि युद्ध हो ही जाय तो युद्ध में भी एक निश्चित आचरण को अमल में लाना था। इन यूनानी राज्यों ने एक संधि-पत्र में प्रतिज्ञा की थी कि हम एक दूसरे के नगरों को नष्ट नहीं करेंगे, एक दूसरे के मंदिरों की सम्पत्ति को नुकसान नहीं पहुँचावेंगे; युद्ध हो या शान्ति, हम किसी के पीने के पानी की व्यवस्था में बाधा नहीं डालेंगे, और, जो राज्य इन शर्तों को तोड़ेगा, उसे दूसरे राज्य दंड देंगे। यह बात बहुत शिक्षाप्रद है कि जब यूनानियों ने अपनी इस प्रतिज्ञा की अवहेलना की, तभी से उनका राजनैतिक और सांस्कृतिक पतन शुरू हो गया।

इसके दो सौ वर्ष बाद बौद्ध सम्राट अशोक एक संस्था के रूप में अनेक राज्यों के सामने आता है, वह दूसरे देशों को जबरदस्ती विजय करने की प्रथा बन्द करता है और स्वयं अपनी मिसाल और अपने राजकीय आज्ञाओं द्वारा प्रेम, शांति और सहिष्णुता के लिए अपील करता है। उसके एक शिला-लेख का कुछ अंश यह है—"हमारे पुत्र पौत्रगण नया देश जीतने की कभी इच्छा न करेंगे। अगर उनमें कभी देश विजय की प्रवृत्ति पैदा हो तो वे उसे रोक कर शान्ति और नम्रता में ही आनन्द अनुभव करें और धर्म-विजय को ही सच्ची विजय समझें, क्योंकि इससे इह-काल और पर-काल (इस लोक और पर-लोक) दोनों में सुख होगा।"

इसके बाद जिसे यूरप वाले 'मध्य युग' कहते हैं, उसमें वहाँ के ईसाई देश धार्मिक बन्धुत्व मानते थे, यानी यह कि एक धर्म के मानने वाले सब भाई-भाई हैं; और पोप जो कि ईसाई धर्म का सबसे बड़ा आचार्य था; उन सब के झगड़े निपटाया करता था। उसकी मध्यस्थता से कई ऐसे झगड़े शान्त किए गए, जिनसे यूरोप की शान्ति भंग होने की आशंका थी मध्य युग के बाद पुनरुत्थान ('रिनेसां') काल में यूरोप में धार्मिक भाईचारे का स्थान राष्ट्रीय भावना ने ले लिया। फिर भी वहाँ के विचारशील आदमी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के बारे में विचार करते और लिखते रहे; इनमें दांते, इरेस्मस, ग्रोटस, रूसो; केन्ट और बेन्थम आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।

यूरोप के विविध राज्यों का संगठन करने का कुछ विशेष प्रयत्न सन् १८१५ में हुआ। उस समय रूस के जार अलेग्झेन्डर पहले के नेतृत्व में रूस, प्रशिया और अस्ट्रिया के शासकों ने 'पवित्र-सङ्घ' ('होली एलायंस') की योजना की, जिसमें उन्होंने यह प्रतिज्ञा की हम सब ईसाई-धर्म-सिद्धान्तों के अनुसार राज्य करेंगे, और, आपस में लड़ाई झगड़ा न करेंगे। यह योजना भी बहुत समय तक न चली। वैज्ञानिक साधनों के बढ़ने के साथ साथ बलवान राष्ट्रों की शक्ति और बढ़ गई, वे निर्बल राष्ट्रों को अपने अधीन करने लगे। संघर्ष बढ़ चला। उन्नीसवीं सदी में पश्चिमी यूरप में बहुत समय तक घातक युद्ध की आशंका हर समय बनी रहने लगी।

यहाँ यह बता देना जरूरी है कि पिछली सदी के युद्ध अधिकतर 'शक्ति-संतुलन' कायम रखने के बहाने लड़े गए, जो यूरप की राजनीति का एक मुख्य सिद्धान्त रहा। एक दूसरे के प्रति अविश्वास होने के कारण राज्य गुप्त संधियाँ और गुटबन्दी करते रहे। हर पक्ष ने यह कोशिश की उसकी शक्ति विरोधी पक्ष से किसी तरह कम न रहे, यदि उससे अधिक नहीं, तो बराबर अवश्य हो। इसे ही 'शक्ति-संतुलन' नीति कहा गया है। यह सहज ही समझ में आ सकता है। स्वार्थ,

आशंका, भय, और अविश्वास उसकी जड़ में हैं। ऐसे कमजोर आधार पर शान्ति बनाए रखने की आशा दुराशा मात्र है।

आखिरकार, युद्धों की वृद्धि और विनाशकता ने जनता की नींद हराम कर दी। विचारवान आदमी युद्धों को समाप्त करने, और यदि ये समाप्त न हो तो कम-से-कम इन्हें घटाने या नियन्त्रित करने के उपाय सोचने लगे। महाकवि टेनिसन ने लोगों के सामने उस उज्ज्वल भविष्य का चित्र पेश किया, 'जब लड़ाई का बाजा बजना बन्द हो जायगा, युद्ध-पताकाएँ लपेट दी जायेंगी, और मनुष्य मात्र की पार्लिमेंट और संसार भर का सङ्घ कायम होगा।'

विश्व-शन्ति और आपसी समझौतों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय सभा सम्मेलनों की धूम मच गयी। उनकी तादाद बराबर बढ़ती गई। उनमें खास महत्व की वे अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्से हैं, जो सन् १८६६ और १६०७ में हालैण्ड के हेग नगर में हुईं। उन दोनों को मानव जाति की पार्लिमेंट' कहा गया है। उनकी योजना के अनुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय पंचायती न्यायालय कायम किया गया, जिसमें सब राज्य अपने विवादग्रस्त मामले पेश कर सकते थे। शुरू में इस न्यायालय ने राज्यों के बहुत से मामले तय किए और इस का फैसला उन राज्यों ने माना। पर इस न्यायालय की उन्नति बहुत सन्तोषप्रद न रही।

पहले यूरपीय महायुद्ध के बाद राष्ट्र-सङ्घ के द्वारा सन् १६२२ में हेग नगर में ही एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय कायम हुआ। इसे 'स्थायी' इसलिये कहा जाता है, क्योंकि यह हमेशा काम करने के लिए था। इससे पहले का न्यायालय हर बार जरूरत पड़ने पर नए जज चुनकर बना लिया जाता था। स्थायी न्यायालय के दो काम थे—दो या अधिक राज्यों के बीच का जो झगड़ा सामने आवे, उसका फैसला करना, और राष्ट्र-सङ्घ समय-समय पर जो विषय उसके सुपुर्द करे, उस पर सलाह देते रहना। इसका फैसला मानना उन्हीं राज्यों का फर्ज होता था, जिनमें झगड़ा होता था; दूसरे राज्यों या दूसरे विषयों पर इसका

कोई बन्धन न था, हां इसके फैसले आखरी होते थे, उनकी कहीं अपील न थी।

राष्ट्र-संघ का काम

अब हम १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सब से बड़ी कोशिश का कुछ विस्तार से जिक्र करते हैं, जिससे मालूम हो जाय कि इस काम में कहाँ तक तरक्की हुई, और क्या कमी रही। यह कोशिश राष्ट्र-संघ नाम की संस्था द्वारा की गई, जो सन् १९१९ में कायम हुई। इस का संगठन पहले बताया जा चुका है। इसने तय किया कि हर राष्ट्र की परिस्थिति और भौगोलिक अवस्था की जाँच करके उसके शस्त्रास्त्र अधिक से अधिक घटाने की योजना तैयार की जाय! ऐसी योजनाओं पर, हर दसवें वर्ष फिर विचार किया जाय और उनका संशोधन किया जाय। इस निशस्त्रीकरण के साथ-साथ बीच-बचाव और सब की रक्षा के प्रश्न का भी सम्बन्ध था। बीच बचाव का अर्थ है, शान्ति के साथ आपसी कलह मिटाना, जिससे भविष्य में युद्ध के साधनों की जरूरत ही न रहे। हर राष्ट्र की रक्षा दूसरे राष्ट्रों के शान्तिमय विचारों पर निर्भर होता है, इसलिए राष्ट्र-संघ की यह कोशिश थी कि सब राष्ट्र एक साथ तय की हुई योजना के अनुसार अपने-अपने शस्त्रास्त्र अधिक से अधिक घटा कर रखें।

राष्ट्र-संघ की एक परामर्श-समिति इस काम के लिए थी कि जल सेना, स्थल सेना और वायु सेना के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करके कौंसिल को रिपोर्ट और सलाह दिया करे।

शुरू में राष्ट्र-संघ का अलग-अलग राज्यों पर अच्छा असर पड़ा। उसने उनके कई आपसी झगड़े तय किए, जिनमें पन्द्रह बीस काफी गहरे थे। एक मिसाल यहाँ दी जाती है। अक्तूबर १९३५ में बलगेरिया राज्य की सीमा पर एक यूनानी संतरी को गोली मार दी गई। तीन दिन में यूनान की सेना ने बलगेरिया पर चढ़ाई करदी। इस मौके पर

राष्ट्र-संघ ने तुरन्त दखल देकर आक्रमण रोक दिया। साथ ही राष्ट्र-संघ की कौंसिल ने सर एच० रम्बोल्ड की अध्यक्षता में एक निस्पक्ष कमीशन इस लिए भेजा कि मौका देखकर झगड़े का मूल कारण मालूम करे, इस बात की जाँच करे कि दोष किस का है, और ऐसी घटना फिर कभी न होने पावे, इस के लिए उपाय सुझावे। यह काम बिना हिचक के किया गया। जब फिर कौंसिल को मीटिंग दिसम्बर में हुई, तो यूनान ने हर्जाने के तौर पर पैंतालीस हजार पौंड देना मंजूर किया और दोनों राज्यों की सरकारों ने भविष्य में ऐसी घटनाओं को रोकने के सम्बन्ध में राष्ट्र-संघ की योजना मान ली।

इस तरह संघ को शुरू में खासी सफलता मिली। पर पीछे यह बात न रही। सन् १६२६ में संसार में आर्थिक संकट हुआ, तो सब राष्ट्र अपनी-अपनी घरू समस्याओं में लग गए, अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने की ओर ध्यान नहीं दिया गया, खासकर जब झगड़े यूरोप से बाहर के थे। सितम्बर १६३१ की एक बात लें। जापानी सेना ने चीन के मंचूरिया प्रान्त के मकदन नगर पर हमला करके उस पर कब्जा कर लिया। इस पर संघ की कौंसिल की बैठक में चीन के प्रतिनिधि ने जाँच कमीशन नियुक्त किए जाने का आग्रह किया। जापानी प्रतिनिधि इसके खिलाफ था; अमरीका ने भी कमीशन में भाग लेना पसन्द नहीं किया। इसलिए राष्ट्र-संघ ने इस मामले में पड़ने से इनकार कर दिया। जापान का हमला बढ़ता गया। आखिर जैसे तैसे कमीशन मुकर्रर हुआ, और उसने अपनी रिपोर्ट दी। समझौते की कोशिश की गई। जापान की सरकार ने कमीशन की तजवीजें मन्जूर न कीं, और अन्त में मार्च १६३३ को जापान ने राष्ट्र-संघ से त्यागपत्र देकर अपना सम्बन्ध तोड़ लिया।

राष्ट्र-संघ इस मामले में बुरी तरह असफल रहा। इसका कारण उसके स्थायी सदस्यों की कूटनीति और अपने-अपने स्वार्थों की चिन्ता थी। अगर वे दृढ़ता के साथ शान्ति का प्रयत्न करते तो अकेला जापान

उनके विरोध करने का तो क्या, उन्हें अप्रसन्न करने का भी साहस न कर सकता। 'यदि तोकियो (जापान) से राष्ट्र-संघ के बाकी सब सदस्य अपने-अपने राजदूतों और मंत्रियों को बुला लेते तो जापानी सरकार तुरन्त ही अपने युद्धवादियों को दबा देती। यदि जापानी युद्धवादियों को यह मालूम हो जाता कि युद्ध के लिए उनको दूसरे देशों से अस्त्र-शस्त्र और पेट्रोल आदि न मिलेंगे तो वे कभी भी रणभूमि में कदम न रखते। अगर जापान का माल दूसरे देशों में न लिया जाता तो जापान का 'येन' सिक्का इतनी जल्दी गिर जाता कि आर्थिक कारणों से ही जापान को शीघ्र युद्ध बन्द कर देना पड़ता। इसमें भी कुछ शक नहीं कि अगर ग्रेट ब्रिटेन ने ही इन साधनों में से किसी का उपयोग किया होता तो सारा संसार उसका साथ देता।'

राष्ट्र-संघ की शिथिलता से और उसके मेम्बरों की अनुदारता और तुच्छ स्वार्थपरता से जापान को अन्तर्राष्ट्रीय हित के विरुद्ध काम करने की हिम्मत हुई, इससे चीन को तो नुकसान पहुँचा ही, राष्ट्र-संघ के आदर्शों और उद्देश्यों को भी गहरा धक्का पहुँचा। निशस्त्रीकरण परिषद का काम पहले भी ईमानदारी से नहीं हो रहा था, अब तो वह परिषद निर्जीव ही हो गई। उसमें हिस्सा लेने वाले राज्यों ने अपने शस्त्रास्त्र या हथियार कम करने की नीति छोड़ दी। जापान की मिसाल से इटली का भी हौसला बढ़ा, उसने अबीसीनिया यानी इथियोपिया को धर दबाया। राष्ट्र-सङ्घ के ढीलेपन और निकम्मेपन ने ही जर्मनी में हिटलर की शक्ति बढ़ाई। यूरप में अनेक उलटफेर हुए, जिनका आखरी नतीजा दूसरा महायुद्ध है, जो १९३९ में शुरू हुआ। इस तरह राष्ट्र-सङ्घ की विफलता की जिम्मेवारी उन राष्ट्रों पर है, जिन्होंने अपनी कायरता या खुदगरजी के कारण अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से काम न लिया, और विश्व-शान्ति के लिए अपनी ताक़त और अपने असर का उपयोग न किया।

कुछ लोगों की राय है कि राष्ट्र-सङ्घ के पास अन्तर्राष्ट्रीय सेना

ज़रूर होनी चाहिए थी। यह सेना फ्रांस की विदेशी सेना के ढंग पर होती।* अगर राष्ट्र-संघ के पास काफी सेना होती तो सङ्घ अलग-अलग राज्यों के आपस में लड़ने का मौका न आने देता और संसार में शान्ति बनाए रखने में सफल होता। लेकिन ये लोग भूल जाते हैं कि राष्ट्र-संघ में कुछ इने-गिने बहुत बलवान राष्ट्रों का बोलबाला था। अगर राष्ट्र-संघ की मातहती में बहुत सेना रहती तो वह उन राष्ट्रों के ही इशारे पर तो काम करती।

जरा विचार कर देखें तो राष्ट्र-संघ का जन्म ही अच्छी परिस्थितियों में नहीं हुआ था। कहने को उसका दरवाजा संसार भर के राज्यों के लिए खुला था, पर असली हालत क्या थी। जब राष्ट्र-संघ के प्रतिज्ञा-पत्र का मसविदा बनाया गया था, सोवियट रूस बचपन की अवस्था में था, और इस नए राज्य के प्रति संघ के प्रमुख सदस्य—राष्ट्रों का ऐसा विरोध था कि उससे प्रायः सभी प्रकार का सम्बन्ध-विच्छेद था। सन् १९३४ से पहले उसे संघ में स्थान नहीं मिला। रूस की अनुपस्थिति ने संघ की विश्व-संस्था की हैसियत को बहुत कमजोर कर दिया। फिर, अमरीका भी संघ से अलग रहा। इसके अतिरिक्त जर्मनी भी केवल सन् १९२६ से १९३३ तक के सात वर्ष को छोड़कर कभी संघ का सदस्य नहीं रहा। इस प्रकार राष्ट्र-संघ में इंगलैंड और फ्रांस की तूती बोलती रही; इटली और जापान को दूसरे दर्जे का स्थान था, और शेष सदस्य राष्ट्रों का विशेष प्रभाव न था।

*फ्रांस की विदेशी सेना में संसार के प्रायः सभी जातियों या राष्ट्रों के लोग शामिल थे, उसके अफसरों में एस्किमो, इटेलियन, अंग्रेज, जुलू, ईरानी और चीनी भी थे। अलग-अलग जातियों या राष्ट्रों के लोगों के मेल से उनके जीवन पर कोई बुरा असर नहीं पड़ता था; उसके सैनिकों में झगड़े बहुत कम होते थे। वह सब तरह के अस्त्र-शस्त्रों से लैस थी, उसे बिल्कुल आधुनिक ढंग की युद्ध-शिक्षा दी जाती थी, और धीरे-धीरे फ्रांसीसी भाषा सिखाई जाती थी।

राष्ट्र-संघ की बागडोर कुछ बड़े-बड़े राज्यों के हाथ में थी, जिन्होंने अनेक भू-भागों को अपने अधीन कर रखा था, और जो पहले महायुद्ध के बाद की संधि से अपना साम्राज्य और प्रभुता खूब अधिक बढ़ा चुके थे। ये राज्य अपने अधीन प्रदेशों को आजाद करने के लिए तैयार न थे। इनमें त्याग की वह भावना ही न थी, जो विश्व-शान्ति की चिन्ता करने वालों में होनी बहुत ज़रूरी होती है। वे कहीं सभ्यता फैलाने के नाम से, कहीं दूसरों को शासन-कार्य की शिक्षा देने के बहाने से, कहीं निर्बलों या अल्पसंख्यकों की रक्षा करने की आड़ में, असंगठित या पिछड़े हुए देशों को अपने अधीन रखकर उनकी पैदावार या सस्ती मजदूरी से लाभ उठाते थे। उनमें से कुछ को ये अपना अधीन देश न कहकर राष्ट्र-संघ के आदेशानुसार शासित ('मेंडेटेट')* या रक्षित प्रदेश आदि नामों से पुकारते थे। पर इससे उनकी हालत में खास फ़रक नहीं पड़ता।

अब राष्ट्र-संघ की निशस्त्रीकरण यानी सेना आदि घटाने की नीति का विचार करें। बड़े-बड़े राज्यों ने सिद्धान्त रूप में तो निशस्त्रीकरण को पसन्द कर लिया, पर जब अमल करने की बात आई तो उन्हों ने अपने-अपने यहाँ के शस्त्रास्त्र घटाये नहीं। इसके खिलाफ, न केवल राष्ट्र-संघ के सदस्य-राज्य ही, बल्कि वे राज्य भी जिनका संघ के संगठन में खासा हिस्सा था, आत्म-रक्षा या तिजारत आदि के बहाने, या गुप्त रूप से, अपनी-अपनी फौज और हथियार बढ़ाने का चिन्ता करते रहे। निशस्त्रीकरण सम्मेलनों का कोई नतीजा नहीं निकला। हर साम्राज्यवादी राष्ट्र ने अधिक से अधिक सैनिक शक्ति रखी।

* पहले महायुद्ध के बाद जो रंगदार जातियों के देश विजेताओं को मिले, उन्हें आजादी के अयोग्य समझ कर तजरुबेकार और उन्नत राष्ट्रों की शागिर्दी में रखा गया। ये राष्ट्र उन देशों का शासन राष्ट्र-संघ के आदेशनुसार करते थे, फिर भी उनका दमन और शोषण बहुत कुछ अपने अधीन देशों की तरह ही करते थे।

अगर सोचा जाय तो शान्ति कायम करने के लिए असली समस्या निशस्त्रीकरण नहीं है। यह तो रोग का बाहरी उपचार मात्र है, जिसका फल अधूरा और क्षणिक ही हो सकता है। जब तक राष्ट्रों में स्वार्थ-त्याग, और सब के भले को देखने की भावना न हो, तब तक शस्त्रास्त्रों के कम करने से या ज्यादह घातक शस्त्रों की जगह कम घातक शस्त्र रखने मात्र से शान्ति कायम नहीं हो सकती। सब से बड़ी जरूरत है, जनता में प्रेम के भावों के प्रचार की, अन्तर्राष्ट्रीय भाई-चारे के सम्बन्ध में लोकमत जागृत करने की। श्री० चियांग काई शेक ने ठीक कहा है कि 'अगर आदमी अपनी बुद्धि और अपने चरित्र-बल को युद्ध को रोकने में नहीं लगा सकता तो तीर कमान से युद्ध करने और हवाई जहाज या बन्दूक से लड़ाई लड़ने में कोई खास फरक नहीं है।' जब तक आदमी अपनी युद्ध मनोवृति पर अंकुश न रखें, तब तक वे चाहे जिस हथियार से काम चला सकते हैं, और यदि कोई भी हथियार न मिले तो घूँसे, मुक्के, दांत और नख आदि से ही अपनी हिन्सक भावना का सबूत दे सकते हैं, जैसा कि प्राचीन काल में किया करते थे।

जो हो, राष्ट्रसंघ की कमजोरियो ने दूसरा महायुद्ध होने का मौका आने दिया, जिसमें इस संस्था का अधिकाधिक ह्रास होता गया। किसी तरह महायुद्ध के समय इसका कुछ अस्तित्व रहा। इसका घटा हुआ सचिवालय कुछ आंकड़ा आदि का काम करता रहा। अप्रैल १६४६ में राष्ट्र-संघ की साधारण सभा (असेम्बली) की अन्तिम बैठक इस संस्था के हिसाब-किताब का तस्फीया और इस माल असवाब का निपटारा करने के लिए हुई। स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय बन्द हो गया, परन्तु इसका उत्तराधिकारी इससे बहुत ही मिलता-जुलता है। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन ने अपना कार्यक्रम जारी रखा। राष्ट्र-सङ्घ के आदेशानुसार जिन प्रदेशों का शासन-प्रबन्ध हो रहा था, वे क्रमशः नई संस्था 'संयुक्त राष्ट्र' को सौंपे जाने लगे, जिसका इस समय जन्म हो गया था,

और जिसके बारे में अगले अध्याय में लिखा जायगा।

राष्ट्र-सङ्घ का अन्त हो गया। तो भी वह लोगों के सोचने-विचारने के लिए, नई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के निर्माण के लिए खासी सामग्री छोड़ गया। उसकी एक मुख्य शिक्षा यह है कि कोई भी संस्था अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-रोग का इलाज नहीं कर सकती, जब तक सब राष्ट्र आपस में बराबरी और भाईचारे का परिचय न दें; और जनताओं में ऊंच-नीच, गोरे-काले, यूरोपीय, एशियाई, अफ्रीकी, अमरीकी आदि का भेद-भाव दूर होकर प्रेम और सहानुभूति की भावना न जागे।

—०—

ग्यारहवाँ अध्याय

नई व्यवस्था

[संयुक्तराष्ट्र—एशियाई सम्मेलन]—अफ्रीका में जागृति]

यह बात पत्थर की लकीर है कि दुनिया के किसी हिस्से में भी तब तक शान्ति नहीं रहेगी, जब तक दुनिया के सभी हिस्से में शान्ति की नींव मजबूत नहीं होती। —*विंडेल विल्की*

राष्ट्र-संघ के बारे में पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है। ज्यों-ज्यों उस संस्था की असफलताएँ नजर आईं, नई योजनाएँ बनने लगीं। योजनाएँ अनेक बनी हैं; उन सब की चर्चा करने की यहाँ गुंजायश नहीं है। हम सिर्फ दूसरे महायुद्ध के समय की तथा उसके बाद की कुछ खास-खास बातों पर ही विचार करेंगे।

अगस्त १९४१ में 'संयुक्तराष्ट्र' अमरीका के प्रेसीडेंट रूजवेल्ट और इंगलैंड के प्रधान मंत्री चर्चिल ने एक ऐलान किया था, जो 'एटलांटिक चार्टर' के नाम से मशहूर है। इस चार्टर में उन्होंने अपने राज्यों

को राष्ट्रीय नीति के उन सिद्धान्तों की घोषणा की थी, जिन पर उन्हें संसार का भविष्य अच्छा होने की आशा थी।

जनवरी १९४२ में मित्र-राष्ट्रों के २६ प्रतिनिधियों ने वाशिंगटन में एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते पर हस्ताक्षर किए। यह 'संयुक्तराष्ट्रों की सम्मिलित घोषणा' केवल धुरीराष्ट्रों के विरोध में हार्दिक सहकारिकता की प्रतिज्ञा थी; पर इसमें यह भी कहा गया था कि इस पर हस्ताक्षर करने वाली सरकारें 'अटलांटिक चार्टर' का समर्थन करती हैं। इस घोषणा में 'संयुक्तराष्ट्र' शब्द का प्रयोग पहली बार सरकारी तौर पर हुआ था, और इसने कुछ अंश में उन विचारों को मूर्त रूप दिया जो पीछे 'संयुक्तराष्ट्र' की स्थापना में अमल में आए।

अक्तूबर १९४३ में मास्को में रूस, अमरीका, इंगलैंड और चीन के विदेश मंत्रियों का सम्मेलन हुआ। इस अवसर पर जो घोषणा की गई, उसमें यह भी कहा गया कि ये चारों राष्ट्र इस बात की आवश्यकता अनुभव करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए जल्दी-से-जल्दी सब शान्ति प्रेमी राज्यों की सार्वभौम समानता के सिद्धान्त पर एक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित किया जाय।

दिसम्बर १९४३ में कैरो और तेहरान के सम्मेलनों में राष्ट्रपति रूजवेल्ट, चर्चिल, स्टेलिन, और चांगकाईशेक में विचार विनिमय हुआ और चार बड़े राष्ट्रों में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने के सम्बन्ध में मोटी-मोटी बातों पर समझौता हुआ। इस समय फ्रांस की कानूनी सरकार का अस्तित्व नहीं था, तथापि 'आजाद-फ्रांस' के नेताओं ने वाशिंगटन घोषणा के सिद्धान्तों से अपनी रजामन्दी जाहिर की। कई अन्य राज्यों ने भी इस घोषणा का समर्थन किया।

अगस्त १९४४ में ब्रिटेन, संयुक्तराज्य अमरीका, चीन और सोवियत संघ के प्रतिनिधि अमरीका की राजधानी वाशिंगटन के करीब डम्बरटन-ओक्स नामक स्थान में मिले और वहीं पर एक योजना की रूपरेखा तैयार की गई। यह योजना डम्बरटन-ओक्स-योजना कहलाती है।

इसके ये उद्देश्य हैं :—

(१) विश्व-शान्ति की सामूहिक रूप से रक्षा करना जिससे कि युद्ध की आग दुनिया में फिर न भड़क सके।

(२) सब राष्ट्रों के बीच सद्भावना और मैत्री क़ायम करना।

(३) दुनिया की आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य समस्याओं को अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा हल करना।

(४) एक ऐसे केन्द्र की स्थापना करना जहाँ से योजना को कार्यान्वित करने का काम सुचारु रूप से चल सके।

इन उद्देश्यों को सफल बनाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सङ्घ बनाने का निश्चय किया गया, जिसका सदस्य प्रत्येक शान्ति प्रेमी देश बन सके। २५ अप्रेल से २६ जून १६४५ तक मित्र-राष्ट्रों का सम्मेलन अमरीका के सेनफ्रांसिस्को नगर में हुआ, और संयुक्तराष्ट्र ('यूनाइटेड नेशन्स') नाम का संगठन बनाया जाकर उसका घोषणा-पत्र स्वीकार किया गया। २६ जून को इस पर ५० राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर हुए। संयुक्तराष्ट्र का अस्तित्व नियमानुसार २४ अक्तूबर १६४५ से माना जाता है; जब कि उसके घोषणा-पत्र को चीन, फ्रांस, सोवियत रूस, इंगलैंड, और संयुक्त-राज्य अमरीका ने तथा अन्य हस्ताक्षर करने वालों में से अधिकांश ने प्रमाणित कर दिया। इस प्रकार २४ अक्तूबर को संयुक्तराष्ट्र का जन्म दिन माना जाता है। इस संस्था का जाब्ते का नाम 'संयुक्तराष्ट्र' ('यूनाइटेड नेशन्स') है, पर आम तौर से इसे संयुक्त-राष्ट्र-संगठन (यूनाइटेड नेशन्स आरगेनीजेशन' या संक्षेप में यू. एन. ओ.) कहा जाता है। क्योंकि यह संस्था राष्ट्र-सङ्घ ('लीग-आफ-नेशंश') के बाद बनी और एक प्रकार उसकी उत्तराधिकारी है, इसे 'संयुक्त-राष्ट्र-संघ' भी लिखा जाता है। इस २६ जून १६४५ को १७० करोड़ आबादी वाले ५० राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने इस संस्था के घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किए थे। उस समय पोलैंड का प्रतिनिधि उपस्थित नहीं था, पर यह स्वीकार कर लिया गया था कि वह पीछे एक मूल सदस्य के रूप में

हस्ताक्षर कर सकता है, और कुछ सप्ताह बाद उसके हस्ताक्षर हो गए। इस तरह इस संस्था के मूल सदस्य-राष्ट्रों की संख्या ५१ है। पीछे इसके और सदस्य बनते रहे हैं। इस समय संसार के लगभग बीस करोड़ आदमी वाले प्रदेश ही ऐसे हैं जो स्वराज्य-प्राप्त न होने के कारण इसमें प्रत्यक्ष भाग नहीं ले सकते। इस संस्था के घोषणा-पत्र की भूमिका में कहा गया है—

हम संयुक्त-राष्ट्रों के लोगों ने इस बात का निश्चय किया है कि 'आने वाली पीढ़ियों को उस युद्ध की मुसीबतों से बचाएँगे, जो कि हमारे जीवन में दो बार मनुष्य जाति को अपार कष्ट पहुँचा चुका है, और 'हम बुनियादी मानवी अधिकारों, इन्सान के रूप में मनुष्य की शान और उसकी कीमत तथा स्त्री-पुरुषों और छोटे-बड़े राष्ट्रों के समान अधिकारों के बारे में भी अपने विश्वास को फिर दोहरावेंगे, और 'हम ऐसी हालतें पैदा करेंगे, जिनमें संधियों और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों के प्रति न्याय तथा आदर की भावना जागृत करो और 'सामाजिक उत्थान और जीवन-मान का रहन सहन के दर्जे को स्वतन्त्रता के विस्तृत क्षेत्र में प्रोत्साहित करेंगे। 'और इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए

( ) हम सहन शीलता को अपनायँगे, और अच्छे पड़ोसियों की तरह शान्ति से मिलजुल कर रहेंगे।' और

(२) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुधार बनाए रखने के लिए अपनी शक्ति को संगठित करेंगे, और

(३) सिद्धान्तों की स्वीकृति तथा विधानों की स्थापना द्वारा विश्वास दिलाएँगे कि सब के हित के अतिरिक्त और किसी काम के लिए शस्त्र-बल का प्रयोग नहीं करेंगे और

(४) सब की आर्थिक और सामाजिक उन्नति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय साधन काम में लावेंगे।

'इन उद्देश्यों में सफलता पाने के लिए अपनी सब कोशिशों को दृढ़ निश्चय करते हैं।'

संयुक्त राष्ट्र के मुख्य छः विभाग हैं :—

१—साधारण सभा (जनरल असेम्बली)

२—सुरक्षा परिषद्

३—आर्थिक और सामाजिक परिषद

४—संरक्षण परिषद (ट्रस्टीशिप कौंसिल)

५—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

६—सचिवालय (सेक्रेटेरियट)

साधारण सभा में संघ के सब सदस्य होते हैं, अन्य विभागों में कुछ निर्धारित सदस्य ही होते हैं, अथवा बाहर के व्यक्ति काम करते हैं। संयुक्त राष्ट्र की स्थापना से पूर्व विशेष समस्याओं सम्बन्धी जो अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ काम कर रही थीं, उनका संयुक्त राष्ट्र से नियमानुसार सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और, आवश्यकतानुसार नई संस्थाएँ भी कायम की जाती रही हैं। तथा कुछ संस्थाओं से समझौता करके उनसे काम में सहायता ली जाती है।

ऐसी कुछ संस्थाएँ निम्नलिखित हैं :—अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संस्था, खाद्य और कृषि संस्था, शिक्षा तथा विज्ञान और संस्कृति संस्था, अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संस्था, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा फंड, विश्व-स्वास्थ्य संस्था, विश्व डाक यूनियन, और अन्तर्राष्ट्रीय तार-संवाद-यूनियन। संयुक्तराष्ट्र की आर्थिक और सामाजिक परिषद् का काम कमीशनों और कमेटियों द्वारा होता है। समय-समय पर विविध कमीशन बैठाए गए हैं—यथा आर्थिक और रोजगार कमीशन, यातायात और सूचना कमीशन, आय कमीशन जानकारी कमीशन, आबादी कमीशन, सामाजिक कमीशन, मानवीय अधिकार कमीशन,* स्त्री-अधिकार कमीशन,

*१० दिसम्बर १९४८ को संयुक्तराष्ट्र-सङ्घ की असेम्बली ने मानवीय अधिकार घोषणा-पत्र स्वीकार किया था; इस विचार से १० दिसम्बर १९४९ को सङ्घ के सब सदस्य देशों में 'मानवीय अधिकार दिवस' की दूसरी वर्षगांठ मनाई गई थी।

मादक पदार्थ कमीशन आदि। शरणार्थियों और अपने स्थान से निकाले गए लोगों के सम्बन्ध में विचार और व्यवस्था करने के लिए शरणार्थी कमेटी स्थापित है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संस्था का विधान बनाया है। परिषद् ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और रोजगार के सम्बन्ध में भी एक कमेटी बनाई है कुछ गैर-सरकारी संस्थाओं को मान्य करके परिषद् ने उन्हें परामर्शदात्री या सलाहकार पद दिया है, जैसे मजदूर सङ्घों का विश्वव्यापी फेडरेशन, अन्तर्राष्ट्रीय सहकारी संस्था, अमरीकी मजदूर फेडरेशन, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चेम्बर आदि।

संयुक्तराष्ट्र के सङ्गठन और उससे सम्बन्धित संस्थाओं का परिचय इस पुस्तक के परिशिष्ट में दिया गया है। यहाँ कुछ ऐसी बातों पर विचार किया जाता है, जो आम तौर से चर्चा का विषय होती हैं। संयुक्तराष्ट्र का केन्द्र सुरक्षा परिषद् है। इसका अधिवेशन हमेशा चलता रहता है। संयुक्तराष्ट्र में सिद्धान्त और पद की दृष्टि से सब राष्ट्र समान माने जाते हैं, और इसलिए इसकी साधारण सभा की मेम्बरी का अधिकार प्रत्येक राष्ट्र को है—चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो जिसने इसके घोषणा-पत्र को मान्य किया है। तथापि यह सोचा गया कि शक्तिशाली राष्ट्रों पर शान्ति का दायित्व अधिक रहना चाहिए, इसलिए पांचों बड़ी शक्तियों को इस परिषद् का स्थायी सदस्य बनाया गया, जब कि अन्य राष्ट्रों का अस्थायी मेम्बरी के लिए चुनाव होता है। इसके अतिरिक्त सुरक्षा परिषद् द्वारा किए जाने वाले प्रत्येक निर्णय के विषय में यह नियम किया गया कि उसमें पांचों स्थायी सदस्यों (तथा छः अस्थायी सदस्यों में से कम-से-कम दो सदस्यों) का सहमत होना लाज़मी है। इस प्रकार एक स्थायी सदस्य के भी असहमत होने की दशा में उस विषय का निर्णय नहीं हो सकता। इसे यों भी कहा जा सकता है कि पांचों बड़े राष्ट्रों को 'वीटो' या निषेधाधिकार प्राप्त है।

अकसर यह कहा जाता है कि पांच बड़ों को यह अधिकार क्यों दे दिया गया; इससे सुरक्षा-परिषद् की उपयोगिता कम हो गई है। यह

ठीक है कि इस अधिकार का उपयोग उससे कहीं अधिक हुआ है, जितना सानफ्रांसिस्को में संयुक्तराष्ट्र के जन्म के समय अनुमान था। परन्तु याद रहे कि इस प्रकार का अधिकार पुराने राष्ट्र-सङ्घ में भी, बड़े और छोटे सभी सदस्य-राष्ट्रों को था। साथ ही, इसमें सन्देह ही है कि यदि संयुक्तराष्ट्र में इसकी व्यवस्था न की जाती तो इस संस्था का जन्म भी हो पाता। इस अधिकार के अभाव में रूस इस संस्था में सम्मिलित ही न होता। और, रूस जैसी बड़ी शक्ति के बिना संयुक्तराष्ट्र की स्थापना करना आरम्भ में ही इस संस्था को बहुत संकुचित कर देना होता।

संयुक्तराष्ट्र का कार्य रचनात्मक तथा रक्षात्मक दोनों प्रकार का है। परन्तु साधारणतया आदमी रचनात्मक और सामाजिक बातों की अपेक्षा रक्षात्मक और शान्ति के कार्यों को अधिक महत्व देते हैं और इनमें सफल होने पर ही संयुक्तराष्ट्र-सङ्घ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की सफलता समझते हैं। परन्तु विचार करके देखें तो संसार की आर्थिक या सामाजिक बुराइयों को दूर करने से ही युद्ध की सम्भावना कम हो सकती है। और क्योंकि ये बुराइयाँ बहुत समय की हैं और गहरी जड़ पकड़े हुए हैं, उन्हें एकदम दूर नहीं किया जा सकता। धीरे-धीरे ही उनका इलाज होगा। बड़े धीरज की ज़रूरत है।

अस्तु, संयुक्तराष्ट्र के थोड़े से जीवन में ही इसके सामने अनेक जटिल समस्याएँ आई हैं। फिलस्तीन, बालकन, हिन्देशिया, कोरिया, कश्मीर, मिश्र, स्पेन—कोई-न-कोई विवाद-ग्रस्त विषय सुरक्षा परिषद् के सामने बराबर विचाराधीन रहा है। कुछ समस्याएँ जल्दी या देर में सुलझ गईं, कुछ अधूरी रह गईं, और कुछ में तो बिल्कुल असफलता ही नज़र आई। परन्तु यह कोई निराशा की बात नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि संसार की वर्तमान स्थिति बड़ी अशान्त है, कई स्थानों में अघोषित युद्ध चल रहा है, अर्थात् लड़नेवाले पक्ष यह नहीं मानते या कहते कि हम लड़ रहे हैं, पर उनका व्यवहार लड़ाई का ही है। एक दूसरे की ओर संदेह और ईर्षा की निगाह से देखता है।

दिल साफ नहीं है। यहाँ तक कि संयुक्तराष्ट्र के स्थायी सदस्य 'पाँच बड़ों' में भी भीतर-ही-भीतर मनमोटाव है। वे स्पष्ट रूप से दो गुटों में बटे हुए मालूम होते हैं, एक ओर रूस है तो दूसरी ओर अमरीका।* इंगलैंड अमरीका के साथ बंधा है, और फ्रांस इंगलैंड का साथी है। रह गया चीन, उसके अधिकांश भाग पर साम्यवादियों का अधिकार हो गया है, जिनका झंडा रूस के विस्तार की घोषणा है। जब कि इन 'पांच बड़ों' का यह हाल है तो संसार के अन्य देशों में भय और आशंका का वातावरण होना स्वाभाविक है। यद्यपि कोई राष्ट्र युद्ध नहीं चाहता, पर सब युद्ध की तैयारी में लगे मालूम होते हैं। कौन-जाने किसी की विशेष तैयारी ही युद्ध का कारण बन जाय! यह तो खुला रहस्य है कि बड़ी-बड़ी शक्तियों के सहमत न होने से ही न तो संयुक्तराष्ट्र की सुरक्षा परिषद् के पास सेना रहने की समुचित व्यवस्था हो सकी है, और न अणु-शक्ति या अन्य जन-नाशक अस्त्र-शस्त्रों पर नियंत्रण रखने के सम्बन्ध में कुछ प्रगति हो पाई है।

इन बातों की ओर 'इशारा करते हुए तथा वर्तमान संसार के विविध अभाव अभियोगों का उदाहरण देते हुए, कुछ आलोचक जो अपने आपको बहुत चतुर समझते हैं, समय-समय पर यह कहते रहते हैं कि संयुक्तराष्ट्र ने यह नहीं किया, वह नहीं किया, यह संस्था तो पुराने राष्ट्र-सङ्घ की तरह असफल रही। ये आलोचक यह भूल जाते हैं कि संयुक्तराष्ट्र को कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, और काम कितना बड़ा और जटिल है। अच्छा हो, संयुक्तराष्ट्र की आलोचना करने वाला प्रत्येक व्यक्ति उसके घोषणा-पत्र के पहले

*संसार में बड़ी-बड़ी ताकतों की संख्या कम होते-होते अब सिर्फ दो ही बड़ी ताकतों का रह जाने का एक अच्छा पहलू भी है। इससे भविष्य में एक ही ताकत रह जाने की आशा होती है। इस प्रकार यह विश्व-राज्य या विश्व-सङ्घ स्थापित होने की दिशा में प्रगति है। इस पर खुलासा विचार आगे बाइसवें अध्याय में किया जायगा।

वाक्य ('हम संयुक्तराष्ट्रों के लोगों ने इस बात का निश्चय किया है') के 'हम' शब्द पर काफी ध्यान दें। वह याद रखे कि वह, हम और आप सभी पर संयुक्तराष्ट्र के कार्य का उत्तरदायित्व है। हम सब के भरोसे ही संयुक्तराष्ट्र ने अपने महान कार्य का बीड़ा उठाया है। यदि आपने और हमने अपने-अपने हिस्से का काम पूरा नहीं किया तो संयुक्तराष्ट्र क्या कर सकता है। इस प्रकार हमें संयुक्तराष्ट्र की आलोचना करने से पहले अपने हृदय से पूछना चाहिए कि हमने संयुक्तराष्ट्र से कहाँ तक सहयोग किया है। यदि हमने अभी तक सहयोग नहीं किया तो कम-से कम आज से, और अब से तो हम अपनी शक्ति और सुविधानुसार यह कार्य करने लगें। काम करने वालों को दूसरों की टीका-टिप्पणी की फुरसत ही नहीं होती, नहीं होनी चाहिए।

एशियाई सम्मेलन

यद्यपि पहले भारत, अरब और चीन की यूरप पर बड़ी धाक रही है, पिछले दो सौ वर्ष से यूरपीय राष्ट्रों ने संसार में अपना राजनैतिक तथा आर्थिक प्रभुत्व रखा है। उन्होंने जहां अनेक प्रदेशों को अपना उपनिवेश बनाया, एशिया और अफ्रीका को एक चरागाह समझकर, यहाँ के जन-धन को अपनी स्वार्थ-पूर्ति का साधन बनाने में कोई कसर उठा न रखी। एशिया वाले धीरे-धीरे जगने लगे। जापान ने अग्रदूत बन कर उनसे टक्कर ली तथा रूस को हराया, और दूसरे महायुद्ध में तो उसने अमरीका का मुकाबला करने की हिम्मत की, चाहे वह पीछे बुरी तरह पस्त ही किया गया। महायुद्ध के बाद भारत, पाकिस्तान, बर्मा और लंका के स्वाधीन राज्यों का निर्माण हुआ, और सभी जगह उथल-पुथल और हलचल मची। अब एशिया महाद्वीप के विचारकों ने विविध देशों के उत्थान के लिए सम्मिलित प्रयत्न करने का निश्चय किया। एशियाई सम्मेलन की यही पृष्ठ भूमि है।

इसका अधिवेशन देहली में विश्व मामलों की भारतीय परिषद् ('इंडियन कौंसिल-आफ-वर्ल्ड-अफेअर्स') की ओर से, खासकर पंडित जवाहरलाल नेहरू की प्रेरणा से, मार्च १६४७ में किया गया। इसका उद्देश्य युद्धोत्तर संसार में एशिया की स्थिति की जांच करना, समान आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं के विषय में विचार करना और विविध देशों के बीच सम्पर्क कायम करने के तरीके निकालना था। सम्मेलन में ३२ देशों के लगभग ढाई सौ प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। एशियाई देशों का इतना बड़ा सम्मेलन पहली ही बार हुआ। इसमें गोरों के साम्राज्यवाद और उसके विरुद्ध एशियाई देशों के संगठन की ओर ध्यान दिया जाना स्वाभाविक था।

सम्मेलन को जल्दी ही हिन्देशिया की आजादी की ओर ध्यान देना पड़ा। दूसरे महायुद्ध के समय जापान ने इस पर से हालैंड की हकूमत हटाकर इसे अपने अधीन कर लिया था। पर पीछे मित्र-राष्ट्रों द्वारा जापान भी हरा दिया गया था। इस उलटफेर में हिन्देशिया ने अपनी स्वतंत्र प्रजातंत्री सरकार स्थापित करली। पर हालैंड ने मित्र-राष्ट्रों की मदद से हिन्देशिया पर फिर अपना अधिकार जमाने की कोशिश की और इसके लिए अपनी सैनिक शक्ति का विकट प्रयोग किया। हिन्देशिया के पास फौजी ताकत बहुत कम थी, पर उसने डट कर मुकाबला किया। इधर भारत ने, जो अब स्वतंत्र हो गया था, उसे अपने नैतिक बल की भरपूर सहायता दी, और जनवरी १६४६ में, देहली में, एशियाई देशों का सम्मेलन बुलाया। सम्मेलन ने संयुक्तराष्ट्र की सुरक्षा समिति से 'ऐसी सिफारिशें की, जिनसे ढाई महीने में सम्पूर्ण हिन्देशिया पर शासन करने के लिए एक अस्थायी सरकार बन जाय और उसकी देखरेख में एक विधान सम्मेलन हिन्देशिया की भावी शासन-पद्धति निश्चित करे और साल भर के अन्दर हालैंड यहाँ से अपनी सत्ता हटाले। संयुक्तराष्ट्र हिन्देशिया में लड़ाई बन्द करवाने तथा उसका

हालैंड से समझौता कराने में सफल हुआ। समझौते के अनुसार हिन्देशिया की सम्पूर्ण प्रभुता और स्वतंत्रता स्वीकार करली गई। सन् १६४६ के अन्त में संयुक्त और स्वतंत्र हिन्देशिया प्रजातंत्र राज्य की स्थापना हो गई। इसमें जावा सुमात्रा तथा अन्य छोटे बड़े सैकड़ों टापू है, जो कुदरती साधनों के अच्छे भंडार है। इनकी आबादी सात करोड़ है, उसमें कुछ चीनी और भारतीय तथा दो लाख यूरपीय भी है।

दूसरे महायुद्ध के बाद स्वतंत्र घोषित राज्यों की श्रेणी में हिन्देशिया के शामिल हो जाने से किस मानवता प्रेमी को खुशी न होगी। हिन्देशिया को स्वतंत्र करने में एशियाई सम्मेलन, के प्रयत्नों का अच्छा भाग रहा है। आशा है, एशियाई देशों का एक स्थायी संगठन होगा जो न केवल एशिया के वरन् अन्य देशों की भी पराधीनता दूर करने का सफल आन्दोलन करेगा।

अफ्रीका में जागृति

पहले कहा गया है कि दूसरे महायुद्ध के बाद एशिया के कई देश स्वतंत्र हो गए और होते जा रहे हैं। अब यूरप वाले सोचते हैं कि अफ्रीका के देशों को अपने अधीन बनाए रखने के लिए और अधिक कोशिश की जाय। अपने स्वार्थ के लिए वे उनसे बुरे-से-बुरा व्यवहार करने में नहीं शरमाते। मिसाल के तौर पर दक्षिण अफ्रीका की सरकार, जो गोरों की ही सरकार है, वहां के मूल निवासियों से राक्षसी बर्ताव करती है। यह उसकी दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका सम्बन्धी नीति से साफ जाहिर हो जाता है।

दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका की करीब ६० प्रतिशत आबादी यहां के मूल निवासियों (हब्शियों) की है; और शेष दस फीसदी ही बाहर से आए हुए गोरे हैं। पहले यहाँ जर्मनों की हकूमत थी। पहले महायुद्ध में जर्मनी के हारने पर राष्ट्र-सङ्घ ने इसका शासन दक्षिण अफ्रीका को सौंप दिया था। इस प्रकार यह शासन एक धरोहर (ट्रस्ट) के रूप में

है। जैसा पहले कहा जा चुका है, राष्ट्र-सङ्घ अब नहीं रहा; नया विश्व संगठन 'संयुक्तराष्ट्र' है। इस संस्था की संरक्षकता (ट्रस्टी शिप) समिति दक्षिण अफ्रीका से इस प्रदेश को धरोहर का प्रदेश बनाने को कहा पर उसने यह अस्वीकार कर दिया। दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका के मूल निवासियों की ओर से पादरी माइकेल स्काट ने उपर्युक्त संरक्षकता समिति में बताया है कि इस प्रदेश में भूमि पर एक तरह गोरों का ही पूरा अधिकार है, नब्बे प्रतिशत आबादी वाले मूल निवासियों को केवल १३ फीसदी भूमि पर थोड़ा बहुत अधिकार दिया गया है। सरकार ने इन लोगों को अपनी भूमि से हटाने के लिए हवाई जहाजों से बम बरसाए, गोलियों से मारा, इनके घरबार जला दिए, और पशु छीन लिए। ऐसी दशा में इन लोगों के नागरिक अधिकार दिए जाने की बात ही क्या! संरक्षकता समिति ने दक्षिण अफ्रीका की सरकार के रुख की निन्दा की और उससे दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका को संयुक्तराष्ट्र-सङ्घ की संरक्षकता में रखने की फिर सिफारिश की। इस पर दक्षिण अफ्रीका के प्रधान मंत्री मलान ने साफ इनकार कर दिया। इससे जाहिर है कि अभी दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार संयुक्तराष्ट्र जैसे विश्व-संगठन को चुनौती देने का साहस कर सकती है। लेकिन कब तक ?

देखने और विचार करनेवालों से यह भी छिपा नहीं है कि अफ्रीका की हब्शी जनता में राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक जागृति अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। उन्होंने समय-समय पर स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया पर यूरपियनों के सैनिक बल से वे दबते रहे। अब एशिया के कई देशों की स्वाधीनता से, और खासकर भारत की अहिन्सात्मक सफलता से उनमें नया जोर आ गया है। हब्शियों में यूरपियनों का विरोध बराबर बढ़ रहा है। हाल में अंगरेजों के उपनिवेश नाइजेरिया में यहाँ के खानों में काम करने वालों पर पुलिस ने गोलियाँ चलाईं तो बहुत से शहरों और गांवों में अंगरेजों के विरुद्ध विद्रोह फैल गया।

ब्रिटिश गवर्नर बड़ी मुश्किल से, जैसे-तैसे शस्त्र-बल से इसे दबा पाया। परन्तु इसकी प्रतिक्रिया चलती रही। एक ओर तो लन्दन में जो दक्षिण अफ्रीका के निवासी या उनके शुभचिन्तक थे, उन्होंने इसके विरोध में आन्दोलन किया; दूसरी ओर नाइजेरिया में लोगों ने अंगरेजी हकूमत खत्म करने का बीड़ा उठा लिया। यह ठीक है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के मार्ग में कई कठिनाइयाँ हैं। अधिकांश जनता अशिक्षित और असंगठित है। लम्बी पराधीनता और दरिद्रता ने जनता का नैतिक पतन कर दिया है, अंगरेजों के खुशामदियों और पिट्ठुओं का, जयचन्दों और मीरजाफरों का यहाँ अभाव नहीं है, जो अपने निजी फायदे के लिए देशहित का बलिदान करते नहीं हिचकते। फिर, इस प्रदेश के आस-पास कोई ऐसा स्वतंत्र और स्वतंत्रता-प्रेमी राष्ट्र है जो इससे क्रियात्मक सहानुभूति रखे। इसके विपरीत, अधिकांश अफ्रीका में यूरपीय उपनिवेश होने से हब्शियों को उनके तथा यूरपीय राष्ट्रों को सङ्गठित विरोध से जूझना पड़ता है। इस प्रकार नाइजेरिया वालों को अपनी परिमित शक्ति से ही काम लेना पड़ता है। तथापि इंगलैंड या कोई भी विदेशी सत्ता नाइजेरिया की स्वाधीनता को बहुत समय तक नहीं रोक सकती। नाइजेरिया स्वतंत्र होगा और अपने प्राकृतिक साधनों से उन्नत और समृद्धि शाली होकर अफ्रीका के अन्य प्रदेशों के हब्शियों के उत्थान में मदद करेगा। निश्चय ही अफ्रीका महाद्वीप में, तथा संसार के सभी क्षेत्रों में साम्राज्यवाद की आयु अब समाप्त होने को आ रही है।

संसार में अव्यवस्था और अशान्ति का खास कारण यह है कि कौमों में राजनैतिक और आर्थिक विषमता है, और हर ताकतवर कौम अधिक से अधिक ज़मीन पर अधिकार जमाना चाहती है। यदि बड़े और ताकतवर राष्ट्र भी अपने देश के बाहर किसी ज़मीन को अपने अधीन करना छोड़ दें, और जो देश इस समय उनके अधीन हैं, उन सब को आजाद कर दें और, सब लोग अपने-अपने देश में अपनी

इच्छानुसार आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था करने लगें तो अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति का अन्त हो जाय। आर्थिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि हर देश के निवासी भोजन वस्त्र की आवश्यक सामग्री हासिल कर सकें। सब के रहने के लिए स्वास्थ्यप्रद घर हों, किसी को बीमारी के समय ठीक-ठीक दवा और इलाज की कमी न रहे, सब बालक और बड़े यथा योग्य शिक्षा पा सकें। राष्ट्र के लिए अपना-अपना या अपने समूह का स्वार्थ सिद्ध करने की भावना विनाशकारी है। सब का हित करने में ही सब का भला है। विश्व-व्यवस्था के लिए ज़रूरी है कि आदमियों के और राज्य के आपसी व्यवहार में सहयोग और सद्भावना हो। परिवारों में, गांव और नगरों में, क़ौमों में और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सब जगह शान्ति और प्रेम हो।

दूसरा खंड

रास्ते की बाधाएँ

—:०:—

बारहवां अध्याय

यात्रा का अनुभव

संगठित समाज व्यवस्था में सबसे छोटी इकाई परिवार से शुरुआत होकर सब से बड़ी इकाई विश्व-राज्य तक पहुँच जाना मानव प्रगति के शृंखला-चक्र की पूर्ति है; लेकिन इस शृंखला में मनुष्य अन्तिम कड़ी तक नहीं पहुँच पाया है।

— 'लोकवाणी'

पिछले खंड में इस बात पर विचार किया गया है कि अब तक कितनी यात्रा तय की जा चुकी हैं, । किन-किन मंजिलों में से होकर हम कहां तक पहुँचे हैं। हमने देखा कि मनुष्य में सामाजिक भावना का धीरे-धीरे विकास हुआ। उसने परिवार बनाया, परिवारों की जाति बनी, एक या अधिक जातियों के आदमी टिक कर किसी गाँव या नगर में बसे, नगर-राज्यों का निर्माण हुआ, नगर-राज्यों से बढ़कर या कई-कई नगर-राज्यों को मिल कर एक राष्ट्र-राज्य हुआ। राष्ट्र-राज्य ने दूसरे राज्यों के साथ मिल कर संघ राज्यों का निर्माण किया। इस तरह समय-समय पर कई तरह के संगठन हुए। इस समय दुनिया में बहुत से

राष्ट्र-राज्य, संघ-राज्य, कई साम्राज्य और कुछ पराधीन देश हैं, कहीं-कहीं पुराने ढंग के संगठन—कबीले या नगर-राज्य के भी नमूने मौजूद हैं।

समाज-व्यवस्था में सब से छोटी इकाई परिवार से शुरु करके मनुष्य क्रमशः आगे बढ़ता रहा है। राष्ट्र की सीमा तो कुछ स्थानों में हजारों वर्ष पहले पार कर दी थी। यही नहीं साम्राज्य तक भी भारत, चीन, मिश्र और इराक बहुत पहले पहुँच गए थे। और हां, विश्व-राज्य भी कोई आधुनिक या नई बात नहीं है। श्री केला जी की पुस्तक 'साम्राज्य और उनका पतन' में भारत के रामायण काल के साम्राज्य के सिलसिले में यहां के चक्रवर्ती राज्य की यों बात कही गई है। चीन, यूनान मिश्र, ईराक रोम, बगदाद के अधिकारी बहुत अर्से तक दूर-दूर हुकूमत कर चुके हैं और अपने आपको विश्व-विजेता मानते रहे हैं। हाँ, उन्हें दुनिया के सारे हिस्से की अच्छी और पूरी जानकारी न थी, और आतायात के साधनों की कमी के कारण उस समय की दुनिया का आकार आजकल के संसार से बहुत कम था। यह बात बहुत समय पहले ही नहीं रही; अठारहवीं सदी के आखरी हिस्से तक इसका उदाहरण मिलता है। चीन के साम्राट चीयनलंग ने सन् १७६३ में इंगलैंड के बादशाह तीसरे जार्ज को लिखा था—'मेरी राजधानी वह केन्द्र है, जिसके चारों तरफ संसार के सब स्थान घूमते हैं, सब राष्ट्रों के बादशाहों ने जमीन या समुद्र के रास्ते अपने खिराज या भेंट मेरे पास भेज दी है तुम्हारा कर्तव्य है कि मेरे भावों को समझो और मेरे आदेशों को आदर पूर्वक पालन करो।* जाहिर है कि ये विश्व-राज्य असल में विश्व-राज्य नहीं थे; हाँ, ये भी समाज संगठन की बहुत उन्नति बताते हैं। इन से काफी लाभ हुआ है। जिन-जिन राज्यों पर इनकी सत्ता रही, उनके आपसी झगड़े किसी हद तक बन्द रहे।

जो हो, विचार करने की बात यह है कि इस समय संसार

* The U. N. O Hand book by Andrew Boyd

में शान्ति नहीं है। नई-नई तजवीज सोची जा रही हैं, लेकिन कलह और लड़ाई झगड़ा बना ही रहता है। जाहिर है कि आजकल की व्यवस्था संतोष जनक नहीं है। मनुष्य की यात्रा अभी पूरी नहीं हुई; उसे और आगे बढ़ना, और बेहतर संगठन करना है।

अच्छा होगा कि अब जरा यह विचार कर लिया जाय कि इस समय तक की यात्रा में क्या-क्या अनुभव हुए। हमारे रास्ते में कौन-कौन सी बाधाएँ या रुकावटें आईं। अगर हम इन बाधाओं को जानलें तो आगे यात्रा करने में अधिक सावधान रह सकते हैं। इससे हमारा काम कुछ आसान हो जायगा, और हमें जहाँ पहुँचना है, वहाँ जल्दी पहुँच जायँगे; क्योंकि आदमी में यह योग्यता है कि वह अपनी पिछली भूलों से लाभ उठा सकता है, और आगे का कार्यक्रम पूरा करने के लिए ज्यादह तैयार हो सकता है।

हर यात्रा में बाधाएँ दो तरह की हुआ करती हैं—(१) आदमी की अपनी पैदा की हुई, और (२) प्रकृति की या दूसरों की पैदा की हुई। एक आदमी कहीं जा रहा है। रास्ते में उसे कोई सुन्दर दृश्य या वस्तु दिखाई दी, या मनोहर संगीत सुनाई दिया, वह उसे देखने या सुनने में लग गया। कुछ देर बाद उसे अपनी यात्रा का ध्यान आया, तब वह आगे बढ़ा। कुछ दूर चलने पर फिर कोई ऐसी ही बात हो गई। इस तरह यात्रा में अनावश्यक देर लग सकती है। या कल्पना करो, आदमी कुछ दूर खासी तेजी से चलता है, भूख, प्यास और थकान सहकर भी बढ़ा चला जाता है, पर एक खास हद तक आने के बाद उसके मन में अहंकार आ जाता है कि मैंने यात्रा का बहुत सा भाग बहुत जल्दी तय कर लिया। मैंने बड़ा साहस और पुरुषार्थ किया है, अब मैं इतनी मेहनत क्यों करूँ। यह सोच कर वह आराम करने लगता है, और उसका आराम पीछे आलस्य में बदल जाता है। इसी तरह किसी डर या लोभ के कारण भी आदमी

का ध्यान अपनी यात्रा से हट कर दूसरी तरफ लग सकता है। ये सब ऐसी रुकावटों की मिसालें हैं; जो आदमी खुद पैदा करता है, और जिनके लिए वह खुद ही जिम्मेवार होता है।

दूसरी तरह की बाधाएँ ऐसी होती हैं कि रास्ते में कोई पहाड़, खंदक या खाईं आ जाय, जिसे पार करना बहुत कठिनाई हो, या कोई नदी पड़ती हो और उसमें बाढ़ आ जाय, या जंगली जानवर का सामना करना पड़जाय ये बाधाएँ अचानक आ सकती हैं, और इनके लिए, यात्रा करने वाले को दोष नहीं दिया जा सकता।

ये दोनो तरह की बाधाएँ हर मंजिल पर अलग अलग आई हैं, और कुछ पुराने समय से चली आ रही हैं; कारण, यद्यपि आदमी ने बड़े-बड़े संगठन बना लिए हैं उसके पुराने संगठन भी थोड़े-बहुत मौजूद हैं। इन बाधाओं के बारे में ब्योरेवार विचार अगले अध्यायों में किया जायगा। यहां एक खास व्यापक दोष की तरफ ध्यान दिलाना है। वह यह कि आदमी अकसर अपनी नजर दूर तक नहीं फैलाता, वह संकीर्ण विचार से काम लेता है। वह अपनी दुनिया बहुत छोटी मान लेता है; एक छोटे से दायरे के आदमियों को ही अपना समझता है; उनसे ही प्यार करता है, उनके लिए सब तरह के कष्ट सहता और त्याग करता है। इस दायरे से बाहर के आदमियों को वह पराया या गैर मान लेता है; उन्हें प्रेम करना, उनसे सहानुभूति और सहयोग का भाव रखना तो दूर, उन्हें वह अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन समझ लेता है। इसलिए उन्हें कष्ट देने या नुकसान पहुँचाने में वह संकोच नहीं करता। मिसाल के लिए मामूली आदमी अपने सुख के लिए अपने परिवार के लोगों को दुख पहुँचाता है और उनसे सख्त काम लेता है। इतिहास में ऐसा अनेक स्थानों पर हुआ है; जब पिता ने पुत्र को, या पुरुष ने स्त्री को केवल मारा पीटा ही नहीं, उन्हें दूसरों के हाथ बेच कर अपने लिए धन हासिल किया। मनुष्य आगे बढ़ता है, अपने परिवार को तो अपना समझता है, पर

दूसरे लोगों को कष्ट या धोखा देना उसे बुरा नहीं लगता। इसी तरह कुछ और प्रगति करके मनुष्य अपने कबीले, जाति गाँव या नगर के आदमियों को एक हद तक अपना मानता है। वह धीरे-धीरे राजभक्त या देश-प्रेमी, या राष्ट्र-सेवक कहलाने में गर्व करता है। पर ये सब भी उसकी अपूर्णता के ही प्रमाण है।

आजकल के जमाने का आदमी अपने आप को बहुत उन्नत और विकसित मानता है। वह समझता है कि मैंने असभ्य अवस्था को पीछे छोड़ दिया है, पर अब भी ठंडे दिल से सोचने पर हमें अपनी कमी का अनुभव होता है। हम आगे बढ़ना चाहते हैं, पर कई बाधाएँ हमारे सामने हैं। प्रकृति ने संसार के अलग-अलग हिस्सों के आदमियों को अलग अलग बोली बोलने वाला और जुदा जुदा रंग का बनाया; बस, मनुष्य उन सब की भीतर का एकता को भूल गया, वह उनमें अपने और पराये का भेद देखने लगा। इसके अलावा उसने कई और बाधाएँ अपने आप ही खड़ी करलीं। कहीं साम्प्रदायिकता की दीवार है, कहीं राष्ट्रीयता की; और, अब इस जमाने की नयी बाधा साम्राज्यवाद है। ये बाधाएँ ऐसी नहीं हैं जिनको दूर करना मनुष्य की शक्ति से बाहर हो पर वह इन्हें दूर करना चाहे, तब न। इस समय तो दशा यह है कि आदमी में इन बाधाओं को दूर करने का पूरा इरादा ही नहीं मालूम होता। वह तो जान-बूझ कर इनकी रक्षा करने में लगा है। हमें अपने पुराने संगठन से बहुत मोह हो गया है। हम यह नहीं सोचते कि अब उनको उपयोगिता है या नहीं, किस संस्था में कुछ सुधार करने की जरूरत है, और किसे बिल्कुल बदल देने की। हम उदार या व्यापक दृष्टिकोण रखने के लिए तैयार नहीं होते। हम भूल जाते हैं कि हमें आगे बढ़ना है; नये विशाल संगठन के बिना हमारा काम नहीं चलेगा।

आदमी को कहाँ पहुँचाना है, और वहां पहुँचने के लिए उसे क्या

करना है, इन बातों का विचार करने से पहले हमें रास्ते की रुकावटों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, जिससे उनको हटाया जा सके। हमें यह विचार करना है कि मानव समाज के आजकल के संगठनों में किस तरह की नीति या व्यवहार रहे, जिससे छोटा बड़ा हर संगठन मनुष्य के सर्वोच्च और व्यापक संगठन यानी मनुष्य मात्र के हित का ध्यान रखे; हर समूह अपने से बड़े समूह से मेल रखे, अपने आपको उसके अधीन, उसका एक अंग समझे; हमारे पारिवारिक हित का राष्ट्रीय हित से, और राष्ट्रीय हित का मानव हित से, किसी भी हालत में विरोध न हो। जो संगठन अपने से बड़े संगठन का विरोधी हो, उसका अन्त कर दिया जाय; किसी भी संगठन के बने रहने की जरूरी शर्त यह हो कि वह पूर्ण मानव समाज की दृष्टि से भी उपयोगी और आवश्यक हो।

तेरहवाँ अध्याय

पारिवारिक मोह

केवल अपने ही बालक का विचार न करें। जब तक आप के पड़ोसी, आप के गाँव, आप के देश, और समस्त जनता के बालकों की स्थिति नहीं सुधरेगी तब तक आप चाहें जितना परिश्रम करें, आपके बालक को सच्चा सुख, सच्ची सम्पत्ति और सच्चा जीवन नहीं मिलेगा।

—गिजूभाई

पहले कहा जा चुका है कि आदमी के सामाजिक संगठन की सब से पहली कुदरती और आवश्यक सीढ़ी परिवार है। परिवार में बालकों का पालन पोषण होता है और उन्हें अगली पीढ़ी का भार उठाने के योग्य बनाया जाता है। यदि माता पिता अपनी संतान के साथ जैसा

चाहिए स्नेह भाव न रखें, और उनके लिए तरह-तरह का कष्ट न उठावें तो बालकों की परवरिश होना कठिन है। इसी तरह पत्नी का, भाई बहिन का, भाई भाई का, या बहिन बहिन का, एक दूसरे से प्रेम दोनों के लिए हितकर और जरूरी होता है। सब अपने निजी सुख का त्याग करके भी एक दूसरे को आराम पहुँचाने और उसका भला करने में हिस्सा लेते हैं। इस तरह सामाजिक जीवन में परिवार प्रथा का उपयोग जाहिर है। लेकिन हर चीज और हर बात की मर्यादा होती है। एक सीमा तक ही; कोई चीज उपयोगी होती है; उसके आगे, वह उपयोगी होने की जगह हानिकारक होने लगती है। तब यह कहा जाता है कि इसका दुरुपयोग हो रहा है। समझदार आदमी को चाहिए कि अति का सर्वत्र त्याग करे; किसी बात के भी दुरुपयोग का मौका न आने दे।

परिवार-प्रथा के बारे में विचार करने पर मालूम होता है कि बहुत से पुरुषों और स्त्रियों का अपनी संतान से इतना ज्यादह प्यार होता है कि वे उसके लिए विशाल मानव हित की अवहेलना करने लगते हैं। वे भूल जाते हैं कि समाज में दूसरे भी लाखों बच्चे हैं, और उनके साथ भी प्रेम और न्याय का व्यवहार होना चाहिए। इस तरह के माता पिता परिवार-प्रथा के दुरुपयोग के दोषी हैं। वे अपने छोटे-छोटे परिवारों में इतने रम जाते हैं कि उन्हें बड़े मानव समाज का ध्यान नहीं रहता, जैसे आँख के सामने एक पाई रख लेने से सूरज नज़र नहीं आता। अपने परिवार के साथ बहुत अधिक अनुराग होने से स्वार्थ, लोभ, और अनुदारता बढ़ता है। इसी से बड़े-बड़े कल कारखानों के मालिक लाखों मज़दूरों का पेट काट कर करोड़ों रुपए कमाते हैं, और उसे अपने छोटे से परिवार के लिए शौक़ीनी और विलासिता में उड़ाते रहते हैं, और जो धन बचता है, उसे मरते समय अपने बाल बच्चों के नाम वसीयत कर जाते हैं। हिन्दुस्तान में जिन अमीरों के सन्तान नहीं होती, वे अकसर अपने खानदान के किसी बालक को गोद ले लेते हैं, जिससे उनका वंश चले। ये गोद आए हुए बालक मुफ्त का

धन पाकर प्रायः बिगड़ जाते हैं, और आरामतलबी या भोग विलास का जीवन बिताते हैं। बहुत सी औरतों के जब सन्तान नहीं होती तो वे जादू टोने का आश्रय लेती हैं, और दूसरों के बच्चों का अनिष्ट सोचने में भी कुछ संकोच नहीं करतीं। 'सौतेली माँ' ये शब्द ही निर्दयता के सूचक हो गए हैं। इस तरह सन्तान की कामना या परिवार की भावना ही पुरुषों और स्त्रियों के घोर पतन का कारण बन जाती है।

परिवार के मोह से आदमी अपने पड़ोसियों को लूटते और देश या राज्य को बरबाद करते हैं। इससे ईमानदारी का सार्वजनिक जीवन असम्भव हो जाता है। हर राजनीतिज्ञ राष्ट्र को हानि पहुँचा कर भी, अपने परिवार को लाभ पहुँचाने की कोशिश करता है। चीन, ईरान और हिन्दुस्तान जैसे देशों में सार्वजनिक भावना के बहुत कम होने का एक खास कारण यही नैतिक दोष है। क्या आश्चर्य है कि मशहूर समाजवादी नेता रोबर्ट ओवन ने घरों को स्वार्थ और छल का अड्डा बताया है। यही बात बड़े पैमाने पर लीजिए। रोम के सम्राट मारकस औरिलियस ने अपने निकम्मे लड़के कोमोडस को अपना उत्तराधिकारी बनने में मदद दी। ओलिवर क्रामवेल की, अपने खानदान का राजनैतिक महत्त्व बढ़ाने की कोशिश ने इंगलैंण्ड में लोकतंत्रवाद के पक्ष को नष्ट कर दिया।

इस जमाने में विवाह पारिवारिक जीवन ने बहुत से प्रगतिशील आन्दोलनों को उत्साही प्रचारकों और धुन के पक्के कार्यकर्ताओं से वंचित कर दिया है। विवाह से पहले बहुत से पुरुष और स्त्रियाँ तरह-तरह के आन्दोलनों और आदर्शों के साथ खूब जोश से काम करते हैं, लेकिन जब उनके प्रेम और सेवा लिए उनका परिवार हो जाता है तो उनके उच्चतर कर्तव्यों की अवहेलना होने लगती है। फिर, उन्हें सभा सोसायटियों में जाना भी कठिन मालूम होने लगता है। विवाह ने ऐसे कितने ही देश सेवकों का खात्मा कर डाला। हरबर्ट स्पेन्सर ने कहा था कि अगर मेरा विवाह हो जाता तो मैं 'सिंथेटिक फिलासफी'

(समन्वयात्मक दर्शन) पर निबन्ध न लिख सकता । बहुत से वीर स्त्री पुरुष कैद से और आर्थिक हानि से ज्यादहतर इसलिए डरते हैं कि उन्हें अपने बाल बच्चों की बहुत फिक्र रहती है । परिवार आदमी को ऐसे मौकों पर कायर बना देता है ।

इसी दृष्टि से समय समय पर परिवार-प्रथा का घोर विरोध हुआ है । यूनान का दार्शनिक अफलातून (प्लेटो) रक्षक वर्ग या सैनिक वर्ग के लिए परिवार-प्रथा को उठा देना चाहता था । अनेक बौद्ध और ईसाई साधु इसीलिये आजीवन अविवाहित या कुआँरे रहने लगे, जिससे वे परिवार में लिप्त न हों । ऐसी बातें थोड़े से लोगों में ही परिमित रहीं । आम तौर से परिवार-प्रथा बराबर चलती रही है । बात यह है कि पुरुष और स्त्री में मिलकर एक दूसरे के साथ रहने की इच्छा स्वाभाविक है । बालिग होने पर यह प्रवृत्ति एक बार सब में जागती है । अरस्तु (एरिस्टोटल) के शब्दों में 'प्रेम एक समय में एक ही वस्तु के साथ होता है ।' प्रेम केवल विषय वासना की पूर्ति ही नहीं चाहता, वह गहरा व्यक्तिगत स्नेह भी चाहता है । हर आदमी और हर औरत की यह इच्छा होती है कि कोई व्यक्ति ऐसा हो, जिसे मैं खूब चाहूँ, और जो मुझे सब से अधिक चाहे । पति-पत्नि सम्बन्ध की जड़ में यही भावना है । संतान होजाने पर पुरुष और स्त्री दोनों, संतान को प्यार करते हैं, और उसे प्यार करने में दोनों का एक दूसरे के प्रति अनुराग मालूम होता है ।

यह पारिवारिक प्रेम जब मर्यादा से बाहर हो जाता है, जब यह मोह का रूप धारण कर लेता है तो मनुष्य अपने दूसरे कर्तव्यों की अवहेलना करने लगता है । इसलिए अब हम परिवारिक मोह को रोकने के उपायों पर विचार करते हैं ।*

(क) कुछ लोगों की राय है कि पुरुषों और स्त्रियों दोनों को प्यार करने और पालने के लिए दूसरों के बच्चे दिये जायँ; इनके

* Hints for Self-Culture के आधार पर ।

अपने बच्चे न दिये जायँ। क्योंकि पुरुष और स्त्री दोनों का यह स्वभाव होता है कि वे किसी न किसी बच्चे से निजी और स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रखना चाहते हैं, इसलिए वे उस दूसरे के बच्चे से भी अवश्य प्यार करेंगे, परन्तु उनके प्रेम का सामाजिक-करण हो जायगा, वे उस बच्चे की खातिर न तो दूसरे बच्चों को कष्ट पहुँचाने की कोशिश करेंगे, और न समाज या देश के साथ छल-कपट करेंगे।' यह ठीक है कि पुरुष और स्त्री दूसरे के बालक में अपनेपन की भावना इतनी ज्यादह नहीं रख सकते; और इस तरह यह तजवीज इस भावना को रोक रखने के लिए अवश्य उपयोगी है। लेकिन यह बनावटी और अस्वाभाविक है; यह इसका बड़ा दोष है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

(ख) यह कहा जाता है कि बच्चों का पालन पोषण निजी तौर पर न हो, बल्कि सरकारी या राष्ट्रीय शिशु-शालाओं में, सीखे हुए कर्मचारियों की देख-रेख में हो। किसी बालिग आदमी का किसी बच्चे से व्यक्तिगत सम्बन्ध न हो और न कोई बालक किसी व्यक्ति विशेष को पिता या माता के रूप में माने।' इस तजवीज में तर्क या गणित की सी सादगी का गुण है, लेकिन यह सचाई भुला दी गयी है कि मनुष्य का जीवन तर्क या गणित से कहीं ज्यादह पेचीदा है। अगर पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों में एक दूसरे से अपनापन या व्यक्तिगत प्रेम न रहे और सब मशीन के पुर्जों की तरह रहें तो सम्भव है कि वे किसी साधु संन्यासी की तरह परिवार के मोह से बचे रहें, लेकिन वे मनुष्य जाति के अच्छे नमूने नहीं हो सकते। हम चाहते हैं कि पुरुष और स्त्रियाँ पूरी तरह विकसित हों, और उनमें दिल और दिमाग दोनों के सब असली गुण मौजूद हों। जो बालिग आदमी किसी बालक को 'अपना' नहीं कह सकता, वह आम तौर पर उदास, रूखा, और अपनी निजी चिन्ताओं में ही लीन रहेगा। और, जिस बालक को पालने वाले ऐसे आदमी (माता-पिता आदि) नहीं होते, जिनका उसके साथ खास अपनेपन का अनुराग हो, वह कभी ऐसा स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट और प्रसन्न

नहीं होगा, जैसा उसे होना चाहिए। अनाथालयों में रहने वाले और घरों में पलने वाले बालकों में साफ़ फरक होता है। इसलिए व्यक्तियों के सुख, और बच्चों की ठीक-ठीक वृद्धि दोनों दृष्टि से यह प्रणाली हानिकर है, इसे त्याग देना चाहिए।

(ग) अच्छा उपाय यह है कि मां बाप अपने-अपने बच्चों का पालन पोषण तो करें लेकिन पारिवारिक मोह का नियंत्रण करना, उसे काबू में रखना सीखें; उनका प्यार मर्यादा में रहे, वह मोह की सीमा तक न पहुंच जाय। हमें उन महान पुरुषों और स्त्रियों का विचार करना चाहिए जिन्होंने अपनी सन्तान के मोह के लिए देश या समाज की भलाई का त्याग नहीं किया। गौतम बुद्ध ने अपना परिवार इसलिए छोड़ दिया ताकि वह आध्यात्मिक खोज में लग सकें। बाद में उन्होंने अपनी स्त्री और पुत्र को भी समझा-बुझा कर इस बात के वास्ते तैयार कर लिया कि वे निर्धन रह कर मानव समाज की सेवा में अर्पण हो जायँ। सुकरात ने अपनी स्त्री और बच्चों के लिए सम्पत्ति नहीं चाही। उसने निर्धनता में जीवन बिताया और ज़रूरत पड़ने पर निर्धनता में ही मृत्यु का आलिंगन किया।

यूरप में अनेक धर्मनिष्ठ ईसाइयों ने अपने धर्म पर अटल रहने के लिए अपने पारिवारिक मोह का सर्वथा परित्याग कर दिखाया। भारतवर्ष आदि देशों का इतिहास भी ऐसी मिसालों से भरा पड़ा है। स्थानाभाव से यहां यही उल्लेख किया जाता है कि समाजवाद के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स ने और उसकी पत्नी जेनी ने अपनी जन्म भूमि से दूर लन्दन में बड़े संकटों का जीवन व्यतीत किया। उनके बच्चों को कई बार रोटी तक न मिली और भूखा रहना पड़ा। तो भी वीर दम्पति ने मानव समाज की भलाई के लिए पारिवारिक हितों को हँसते-हँसते न्यौछावर कर दिया। उनके बच्चे भी बड़े होकर अपने मां बाप की तरह समाजवाद के प्रचार में लग गए। कैसा अनुकरणीय उदाहरण है! सारा परिवार एक ऐसे उच्च आदर्श

से प्रेरित था, जिसने उसे मोह से सर्वथा मुक्त कर दिया था।*

बस, पारिवारिक मोह के दोषों से सावधान रहो। अपने साथियों और हितचिन्तकों की अवहेलना न करो, जो तुम्हें, परिवार बनाने से पहले, बहुत प्यारे थे। सामाजिक जीवन से केवल इसलिए अलग मत हो कि अब तुम अपने बाल बच्चों के साथ ज्यादह वक्त गुज़ारना चाहते हो। लोगों की भलाई के आन्दोलनों में धन और समय लगाने में कमी न करो। अगर कुटुम्ब से तुम्हारा प्रेम तुम्हें स्वार्थी और लोभी बनाता है तो वह अभिशाप है, वरदान नहीं। सच्चा प्रेम मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करता है, ह्रास नहीं। उससे पुरुष और स्त्री दोनों को यह प्रेरणा मिलनी चाहिए कि वे अपने शरीर और मन को देश और समाज की उन्नति में लगावें। अगर तुम प्रेम के स्वामी रहते हो तो वह आदर्श की तरफ़ तुम्हारी चढ़ाई को आसान कर देता है, लेकिन अगर तुम प्रेम के दास बन जाते हो तो वह तुम्हें पतन के गड्ढे में जा गिराता है।

सारांश यह कि परिवार-प्रथा के रहते हुए भी पारिवारिक मोह हटाया जा सकता है। यदि मनुष्य इसी भावना से परिवार में रहें तो उसके द्वारा अपने बाल बच्चों का पालन पोषण किए जाने से कोई हानि नहीं हो सकती। बच्चों को हमें अपनी निजी मिलकीयत नहीं समझना चाहिए। हमें यह मानना चाहिए कि वे मानव समाज के बच्चे हैं, जो देखभाल के लिए हमारे सुपुर्द किए गए हैं। हमें उनको इस बात का अभ्यास कराना चाहिए कि वे हमसे माता या पिता के रूप में बेजा मोह न करें; उनका प्रधान कर्तव्य मानव समाज के प्रति है, हमारे प्रति नहीं। हमें उनके लिए बहुत अधिक धन कमाने या जोड़ कर रखने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, और न उनके लिए स्कूल, कालिज, व्यापार या राजनीति में अनुचित रियायतें हासिल करने की

* कार्ल मार्क्स, सुकरात और गौतम बुद्ध आदि महापुरुषों के बारे में विशेष इस ग्रन्थमाला की 'श्रद्धांजलि' पुस्तक में लिखा गया है।

कोशिश करनी चाहिए। हमें उनको उनकी योग्यता से अधिक ऊंचे या विशेष आमदनी वाले पदों पर नियुक्त करके या कराके समाजद्रोह या देशद्रोह का दोषी नहीं बनना चाहिए। उनके मस्तिष्क को क्षुद्र पारिवारिक विषयों में कैद नहीं करना चाहिए। हमें उनका ध्यान म्युनिसिपल, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बातों की ओर दिलाना चाहिए। हमें चाहिए कि हम उनमें लड़कपन में ही नागरिकता की भावना का विकास करें, जिससे बड़े होने पर वे अपने सामाजिक कर्तव्यों का ठीक-ठीक पालन कर सकें। यदि हम ऐसा करें तो मानव जाति का हित साधन होगा, और हमारे बच्चों का भी भला होगा। यह काम कुछ कठिन अवश्य है, परन्तु असाध्य नहीं हैं। महान पुरुषों और महान स्त्रियों ने ऐसा कर दिखाया है। वे समाज के बड़े हित के सामने परिवार के हित को गौण समझते हैं। हमें भी इसका अभ्यास करना चाहिए।



चौदहवाँ अध्याय

जाति-भेद और वर्ण भेद

सत्य, दान, क्षमा, शील, नम्रता, तप और दया जिसमें भी मिलें, वह ब्राह्मण है। यदि ये चिन्ह शूद्र में हों और द्विज में न हों तो वह शूद्र-शूद्र नहीं, न वह ब्राह्मण-ब्राह्मण है।

—महाभारत (वन पर्व)

प्रकृति ने मनुष्यों को अलग-अलग रंग देकर चक्कर में डाल दिया है। हम धोखे में आ जाते हैं। रंग के इस पर्दे को अलग करके हमें अपने भाई मनुष्य के मन और हृदय तक पहुँचना चाहिए। इस तरह देखने पर न कोई आर्य मालूम होगा न अनार्य, न यहूदी, न मंगोल, न हबशी। सब आदमी हैं, सब स्त्रियां हैं; सब की एक जाति है—मानव जाति।

—हरदयाल

संसार में तरह-तरह के रंग रूप और शक्ल सूरत के आदमी पाए जाते हैं। कोई गोरा है, कोई गेहुँआ, कोई काला, कोई पीला, कोई ताम्बे के रंग का। किसी का चेहरा चौड़ा है, किसी का लम्बा। तरह-तरह के रंगों और चेहरों को देख कर हम मनुष्य जाति की बुनियादी भीतरी एकता को भूल जाते हैं। मुड़ी हुई नाक और सुनहरी बालों वाला लम्बा गोरा काकेशियन छोटे क़द चपटे चेहरे और पीले रंग वाले जापानी से, या मोटे होंठ और काले रंग वाले हब्शी से अलग मालूम होता है। आकृति, क़द, माथा, नाक, बाल, मुँह आदि के अनुसार आदमी अलग-अलग जातियों के माने जाते हैं।

इन बाहरी भेदों में वर्ण या रंग का भेद आदमियों के मेल मिलाप में बहुत बड़ी बाधा खड़ी करता है। दुनिया की अधिकांश जनता इस रोग से बीमार है। सभ्यता का दम भरने वाली गौरांग जातियों के तो आगे गुण कर्म की बात पीछे पड़ गई। कुछ जातियों के आदमी केवल जन्म या वंश के आधार पर उच्च समझे जाने की मांग करने लगे और अब उन्हें ऐसा कोई सुधार मान्य नहीं होता, जिसके फलस्वरूप उन का उच्चासन डांवाडोल होने की सम्भावना हो, और दूसरे आदमी उनके प्रतिद्वन्दी बन सकें। समाज में उच्च पद, मान, प्रतिष्ठा उनके लिए हमेशा के वास्ते सुरक्षित हो गई है। इसके लिए उन्हें कुछ करने धरने की जरूरत नहीं रही। इसके खिलाफ, दूसरी अनेक जातियां ऐसी भी हो गईं कि उनके आदमी लाख सिर पटका करें, उनका स्थान समाज में हमेशा नीचा ही रहेगा। वे किसी तरह ऊपर चढ़ने की कल्पना नहीं कर सकते। उन्हें अपनी मौजूदा दशा में ही संतोष करना होगा, सामाजिक सुधार के कार्य में आगे बढ़ने का रास्ता उनके लिए बिल्कुल बन्द है; उनको जन्म से यह बात सिखाई जाने लगी, और धर्म-ग्रन्थों द्वारा भी उन्हें यही शिक्षा दी जाने लगी कि तुम जहां हो, वहां ही रहो, तुम्हारा कल्याण इसी में है, और तुम्हारे भाग्य में यही बदा है।

इस तरह भारतीय समाज में श्रम-विभाग के असली आधार गुण कर्म की उपेक्षा हो गई, और जाति-भेद जन्म या वंश परम्परा के कठोर बन्धन में बंध गया। इसके साथ साथ यह अनिष्ट हुआ कि समाज ने श्रम-विभाग को कुछ अंश में अपनाया, पर श्रम की महत्ता को बिल्कुल भुला दिया। पुरोहिताई, पंडागिरी, महन्तगिरी, महाजनी, लेनदेन, जमींदारी, सर्राफा, अध्यापकी आदि कुछ काम तो ऊंचे मान लिये गये, और दर्जी, लुहार, नाई, धोबी, चमार मेंहतर आदि के काम को नीच समझा गया। यह विचार नहीं रहा कि यदि समाज को इनके कामों की जरूरत है, और ये काम सामाजिक व्यवस्था के लिए उपयोगी हैं, तो

फिर इन्हें नीच क्यों माना जाय। प्राचीन काल में जब हर आदमी आम तौर पर अपने कपड़े खुद सी लेता था और धो लेता था तो जब खास जरूरत होने पर उसके इन कामों को कोई दूसरा आदमी कर देता तो वह उसका अहसान मानता था। पर आजकल की परिपाटी में जब कि एक आदमी को दर्जी या धोबी मान लिया गया है, और उसके लिये प्रायः दूसरा कोई काम रहा नहीं है, तो हमें उसके प्रति कृतज्ञ होने की कोई जरूरत नहीं रह गई। हमें यकीन है कि वह आदमी झक मार कर यह काम करेगा, और जब कि हम बाजार दर से उसकी मजदूरी दे देते हैं तो हम उसके ऋण से सदा उऋण ही रहते हैं। यही बात मेहतर चमार आदि के लिये है।

इस जाति-भेद के समर्थन में यह कहा जाता है कि इससे समाज का काम निर्विघ्न चल रहा है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह विचार भी तो करना चाहिए कि हमें इसके लिए कितना मूल्य चुकाना पड़ता है। एक तरफ तो उच्च जातियों के आदमी अपने गुण और योग्यता बढ़ाने के लिये कोई प्रेरणा नहीं पाते, उन्हें मुफ्त में ही ऊंचा बनने का विश्वास रहता है, उनमें अहङ्कार दम्भ आदि दुर्गुणों की वृद्धि होती है और बराबरी, हमदर्दी, भाईचारा, निष्पक्षता और स्वतन्त्र चिन्तन आदि सद्गुणों का उनमें अभाव हो जाता है, दूसरे इस परिपाटी में समाज का खासा हिस्सा सदा दलित और पीड़ित रहता है। वह अपने आपको नीच समझता है दूसरे भी उसे नीच समझते और कहते हैं। इन लोगों के भावों और विचारों का विकास हो ही कैसे सकता है ? ये चरम भाग्यवादी, सन्तोषवादी, अनुत्साही और उन्नति विमुख रहते हैं। जो समाज ऐसे दो ऊंच और नीच भागों में बँटा हो, उसके उद्धार की आशा क्या हो सकती है ! ऐसी सामाजिक व्यवस्था असहनीय है, चाहे उसे किन्हीं शास्त्रों का समर्थन प्राप्त हो।

जात-पाँत की इस प्रथा ने एक तरफ तो कुछ आदमियों को दान-पुण्य की आमदनी पर गुलछर्रे उड़ाने वाला बना दिया है, दूसरी तरफ

लाखों नहीं, करोड़ों आदमियों को जन्म-जन्मान्तर के लिए बहुत नीचे दर्जे की मजदूरी करने के लिए मजबूर कर रखा है। यह विषमता समाज का पतन करती है। यूनान और रोम में गुलामों की बहुतायत थी, और वहाँ के कितने ही दार्शनिक यह मानते थे कि समाज में गुलामों का होना जरूरी है। यह गलत विश्वास ही यूनान और रोम की सभ्यताओं का अन्त करने वाला साबित हुआ। खेद है कि हिन्दू समाज ने उससे शिक्षा न ली।

हिन्दुओं की 'वर्ण व्यवस्था' ने कई करोड़ आदमियों का सामाजिक पद बेहद गिरा रखा है भारत के नये विधान ने शासन कार्य में अस्पृश्यता का अन्त कर दिया है, तथापि व्यवहार में हमारे कितने ही भाई अस्पृश्य या अछूत माने जाते हैं। यह प्रथा मनुष्य में ऊँच नीच का भेद भाव पैदा करती है, उनके विकास में बाधा डालती है, और मानव समाज का विशाल संगठन नहीं होने देती पिछले वर्षों में अनेक महापुरुषों ने भारतीय समाज को जात-पांत के इस रोग से मुक्त करने का उद्योग किया है। धन्य हैं वे सज्जन जो अपना समय और शक्ति इस महान कार्य में लगा रहे हैं, जिनका आदर्श है कि समाज से विषमता और कटुता दूर होकर सब मनुष्यों की एक जाति हो, गुण कर्मों के अनुसार हर आदमी को आगे बढ़ने का अवसर मिले, क्षुद्र रूढ़ियाँ या परम्पराएँ अब हमारी प्रगति को रोकने वाली न रहें! समाज की स्थिति में ऐसा परिवर्तन या सुधार करना कुछ सरल काम नहीं है। इसके लिए व्याख्यान देना या लेख लिखना काफी नहीं है। सुधारकों को स्वयं उदाहरण बनने की आवश्यकता है।

वर्ण-भेद

जाति-भेद के बारे में इतना कहकर, अब वर्ण-भेद की बात लें। जुदा-जुदा प्रदेशों के आदमियों में रंग का जो अन्तर दिखाई देता है, उसका कारण उनके निवास-स्थानों की जलवायु की भिन्नता है। प्राचीन

काल में यातायात और जन-सम्पर्क कम था, तब अलग-अलग प्रदेशों के निवासी कई-कई पीढ़ियों तक, कुछ दशाओं में तो कई-कई हजार वर्ष तक बहुत कुछ एक ही प्रकार के जलवायु के प्रभाव में रहे और उनका रंग कुछ खास-खास तरह का हो गया। अब आवाजाई के साधन बढ़ गए हैं, और बढ़ते जा रहे हैं, दूर-दूर के निवासियों को मिलने-जुलने और पास-पास रहने के अवसर अधिक आते हैं। इससे उनका रंग-भेद धीरे-धीरे कम होगा। अवश्य ही इसमें काफी समय लगता है। जो हो, हमें वर्ण-भेद के कारण मनुष्य-जाति की बुनियादी एकता को नहीं भूलना चाहिए।

इस विषय की भूल से संसार में कितना अनिष्ट या अत्याचार होता है। इसका सबूत गौरांग जातियों के उस व्यवहार से मिलता है, जो उन्होंने अपने उद्योग-धन्धों और व्यापार की उन्नति की धुन में रंग-दार जातियों के प्रति किया है। कई रंगदार जातियों को उनके दुर्व्य-हार और अत्याचार के कारण न केवल अपने रीति-रिवाज, रहन-सहन, सभ्यता और संस्कृति से हाथ धोना पड़ा, और अपनी आज़ादी से ही वंचित होना पड़ा, बल्कि अपने प्राणों की बलि चढ़ा कर पृथ्वी से अपना नामोनिशान तक मिटा लेना पड़ा। यह सारा इतिहास अमानु-षिक अत्याचारों की एक लम्बी कहानी है, जिसे सुनाने के लिए बड़े-बड़े स्वतंत्र ग्रन्थों की आवश्कता है। पाठक मानव समाज के इस घातक रोग से होने वाली भयङ्कर हानि का कुछ अन्दाजा लगा सकें, और खुद अपने को इस रोग से बचाते हुए दूसरों को भी इससे रक्षा करने के लिए प्रेरित हों, इस हेतु यहाँ इसका कुछ दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है।

दक्खिन अमरीका में एजटेक, मय और इन्का सभ्यताएँ ईसवी सन् के पहले बहुत उन्नत रह चुकी हैं। कहा जाता है कि ये सभ्यतायें भारत और चीन से चलकर प्रशान्त महासागर को पार करके वहाँ पहुँची थी। एजटेक सभ्यता ने मध्य अमरीका में आश्चर्यजनक उन्नति की थी।

इसकी वास्तुकला के सुन्दर नमूने, पत्थर के वे कैलैन्डर हैं, जो वर्ष के भिन्न-भिन्न भाग प्रदर्शित करते थे। संगीत विद्या में भी यह जाति कम उन्नत नहीं थी। लोहे, सोने, चाँदी आदि धातुओं के गहने और औज़ार बनाने में भी ये बहुत दक्ष थे। कपड़े आदि बुनने और ख़ासकर समूर (फर) को कपड़े के तौर पर काम में लाने में भी वे बहुत कुशल थे। इस जाति को यूरोप के लालची लोगों के अनुसंधान के कारण लोप होना पड़ा। मय सभ्यता भी, कई यूरोपीय विद्वानों के मत से, मानव संस्कृति की सर्वोच्चता की प्रतीक थी। उसकी कला के नमूने अत्यन्त सुन्दर थे। राजनीति, अर्थनीति, और ज्योतिष में उसका ज्ञान किसी समय बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उसने पत्थर के बने मकानों के बड़े-बड़े शहर बसाए थे, जो देखने योग्य थे। यह सब वर्णन ईसा की पाँचवीं सदी का है।

इन्का सभ्यता की सर्वोत्तम शासन प्रणाली, आने जाने और व्यापार के सुगम साधन, सिंचाई के लिए नहरें, अच्छी-अच्छी सड़कें, कृषि की उत्तमोत्तम व्यवस्थाएँ, निर्माण कला और दस्तकारी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। इसकी भाषा और समाज की सुरक्षा के क़ानून बहुत अच्छे थे। स्पेन की हुकूमत ने इस सभ्यता को मिटा दिया। स्पेन के सभ्य कहलाने वालों ने दक्खिन अमरीका में मीता-प्रथा प्रचलित की, जिसके अनुसार वहाँ के लोगों को ज़बरदस्ती दूसरों के लिए काम करना पड़ता था। इसके फल-स्वरूप कई जातियाँ समूल नष्ट हो गईं। उन्हें इतनी घोर अमानुषिक यातनाएँ दी जाती थीं कि इनमें से कई जातियों ने आपसी समझौते करके एक दूसरे को मार डाला, और छोटे-छोटे बच्चों को मा-बाप ने अपने मरने के पहले अपने हाथ से मार दिया। कई जगह इन अभागों ने यह शपथ लेली कि वे अब सन्तान पैदा न करेंगे। इस तरह एक के बाद दूसरी जाति मरती गई और अपनी मातृभूमि को इन 'सभ्यों' के हवाले करती गई। दक्खिन अमरीका में इस समय कई छोटे-बड़े स्वतन्त्र राष्ट्र हैं। ब्राज़ील, चाइल, पेरू, पनामा,

पेरेगुए इत्यादि ऐसे देश हैं, जिनमें गोरी जातियों के कुछ हज़ार लोग ही सारे देशों पर अपना कब्ज़ा जमाए हुए हैं। यूरोपीय सभ्यता के प्रभाव में होने के कारण ये दूसरी जातियों को वहाँ बसने नहीं देते।

संयुक्तराज्य अमरीका स्वतन्त्रता का पुजारी मशहूर है; क्या वह वर्ण विद्वेष की इस बुरी भावना से बचा? वहाँ की सरकार ने अमरीका के असली पुराने बाशिन्दों को नष्ट करने के लिए 'कैपिटेशन ग्रांट' नाम की प्रथा जारी की थी, जिसके अनुसार पुराने बाशिन्दों की खोपड़ी इकट्ठा करने वालों को अमरीका की सरकार की तरफ़ से इनाम मिलता था। इस प्रोत्साहन के कारण गौरांग पार्टियों द्वारा उन लोगों का खूब शिकार किया गया। वहाँ के ईसाई पादरियों ने इस 'धर्म कृत्य' (!) को परलोक प्राप्ति का एक साधन बतला कर आशीर्वाद दिया। नतीजा यह हुआ कि अधिकांश मूल निवासी मार डाले गए, कुछ काम लायक़ बना लिए गए, और, कुछ दूसरे देशों में ले जाकर बेच दिए गए।*

अमरीका में रेड इंडयन या नीग्रो ही पहले भूमि के स्वामी थे। वहाँ यूरपवालों की बस्तियाँ (उपनिवेश) बस जाने पर इन्हें यूरपवालों की अधीनता या दासता में रहना पड़ा। इन्होंने जहाँ तक बन पड़ा गोरों के रीति-रिवाज और वेशभूषा को अपनाया। अनेक बाधाएँ होने पर भी इन्होंने गोरे लोगों की भाषा सीखी और उसी में शिक्षा हासिल करने की चेष्टा की। संगीत में तो उन्होंने बहुत ही उन्नति कर दिखाई। यह सब होते हुए भी वे गौरांग लोगों की सहानुभूति और प्रेम के पात्र न बन सके। समता और स्वाधीनता का दम भरते हुए भी वहाँ की सरकार ने इनके साथ न्याय न किया। बहुत साधारण और अप्रामाणित अपराधों पर इन्हें कठोर-से-कठोर दण्ड दिए गए। वर्तमान महायुद्ध से पहले तक इन्हें क्रूर दंड दिए गए हैं। गोरों द्वारा इनका

* श्री० कालूराम कानूनगो एम० ए० के 'वीणा' में प्रकाशित लेख से।

'लिंचिंग' होना सभ्यता के लिए एक बहुत बड़ा कलंक है। छोटी-छोटी बातों पर इन्हें आग से जला कर मृत्यु-दण्ड दिया जाता रहा है।

आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड में भी वहाँ के मूल निवासियों का भाग्य कुछ कम खराब नहीं रहा। जब से अंगरेज़ वहाँ पहुंचे, तभी से इन उपनिवेशों की नीति रंगीन जातियों के साथ सौतेले भाई की सी रही। 'देश केवल गोरे लोगों के लिए', या 'रंगदार आदमियों का प्रवेश निषेध' इनका आदर्श वाक्य रहा। आस्ट्रेलिया अपने क्षेत्रफल में भारतवर्ष से भी बड़ा है, और इसकी कुल आबादी करीब सत्तर लाख है। इसमें वहाँ के मूल निवासियों की संख्या अब केवल पचहत्तर हज़ार रह गई है। ये लोग मैदानों को छोड़कर घने जंगलों में चले गए हैं। पिछली दो सदियों में इन अभागों का पशुओं की तरह शिकार हुआ।

गौरांग जातियों के उपनिवेशों में से कुछ में रंगदार मूल निवासियों पर क्या बीती, यह संक्षेप में ऊपर दिखाया गया है। और भी उपनिवेश हैं, टापू भी अनेक हैं। कहाँ-कहाँ की चर्चा की जाय। सब जगह की यही दुख भरी कहानी है। उसके पढ़ने में भी हृदय पर चोट लगती है। गोरे वर्ण का हो या पीले, गेहुंए, भूरे या काले रंग का हो, मनुष्य के पतन की कथा दुखदायी हुए बिना नहीं रहती। उसका उल्लेख करना अरुचिकर है। इसीलिए गई गुजरी बातों को छोड़ दिया जाता है। फिर भी यह तो बताना ही होगा कि अब भी सभ्यताभिमानियों का रवैया कुछ सुधरा नहीं है।

यूरोप और अमरीका के कई देशों के नाचघर, जलपान घर, होटल, सिनेमा और नाटकघरों में और कई दूसरे तमाशों में रंगदार आदमियों को इसलिए जगह नहीं दी जाती कि उनके मेनेजर जानते हैं कि वैसा करने से उनके गोरी जातियों के गाहक बुरा मानेंगे। काला आदमी चाहे जितना शिक्षित हो, वह चाहे उसी ईसाई सम्प्रदाय का हो; और उसी देश का निवासी हो, बहुत से अमरीकी उसे 'अस्पृश्य' मानते हैं।

गोरों का यह आग्रह रहता है कि काले आदमियों को हमारे स्कूल, गिरजा और क्लब आदि से वहिष्कार रहे, यहां तक कि उनके मरने पर उन्हें हमारे कब्रिस्तान में जगह न दी जाय।

दक्खिन अफ्रीका की रंग-भेद की नीति तो मशहूर है ही। एशिया वालों से अपने यहाँ के अँगूठे के निशान लगवाना, पोल टेक्स अर्थात् प्रति व्यक्ति कर, गिरमिटिया प्रथा, रंगीन लोगों की अलग बस्तियों आदि की बातें सब जानते हैं। वहाँ की यूनियन सरकार ने 'पेगिंग एक्ट' पास करके गोरे लोगों की बस्ती में हिन्दुस्तानियों के न बस सकने का जो अपमानपूर्ण कानून बनाया था, उसके अनुसार २६ नवम्बर १६४३ को श्री० पाथर नामक पहले हिन्दुस्तानी को पाँच पौंड (लगभग सत्तर रुपये) का जुर्माना या सात दिन की कैद की सजा दी गई थी क्योंकि उसने मूर रोड नामक गोरे मोहल्ले के एक मकान में रहने का साहस किया था! यह बात ऐसे समय की है जब कि महायुद्ध के रूप में मौत सब के सिर पर नाच रही थी और संसार में शान्ति और समता कायम करने के लिए नई-नई योजनाएँ बन रही थी!

दक्षिण-अफ्रीका के भेद-भाव भरा व्यवहार का भारतीयों को इतना लम्बा और कड़वा अनुभव है कि यहां इसके सम्बन्ध में अधिक विस्तार से लिखने की जरूरत नहीं। म० गांधी की निष्क्रिय प्रतिरोध के रूप में सत्याग्रह का श्रीगणेश पहले यहां ही करना पड़ा था। युग बीत गया पर इस राज्य की भेद भाव नीति में कमी न हुई। स्मटस-सरकार के बाद मलान-सरकार आई। उसका व्यवहार और भी खराब है। इसके फल-स्वरूप इन पंक्तियों के लिखे जाने के समय भारत ने दक्षिण अफ्रीका के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बन्द कर रखा है, और इस राज्य के विरुद्ध सयुक्तराष्ट्र में फरियाद की हुई है। दक्षिण अफ्रीका की सरकार यहां के मूल निवासियों के प्रति कैसा क्रूरता का व्यवहार करती है यह पहले (ग्यारहवें अध्याय में) बताया जा चुका है।

लाला हरदयाल ने वर्ण-भेद दूर करने के लिए व्यंग पूर्वक एक

रासायनिक उपाय बतलाया है—'वैज्ञानिकों को एक ऐसे रोगन का आविष्कार करना चाहिए, जो दुनिया भर के पुरुषों और स्त्रियों के शरीर को रंगने के लिए अच्छा समझा जाय। रंग की गहराई कम ज्यादह हो तो हर्ज नहीं, मुख्य बात यह है कि रंग एक ही हो। एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति कोई एक रंग पसन्द कर ले। गोरा, काला, मटियाला, भूरा, गेहुँआ, खाकी, पीला, बसन्ती आदि। हर नवजात शिशु इस निर्धारित रोगन से रंग दिया जाया करे, और, पीछे उसके जीवन-काल में समय समय पर इसकी पुनरावृत्ति होती रहे। रोगन का रंग वही रहे कोई दूसरा न हो इससे वर्ण-भेद की समस्या हमेशा के लिए हल हो जायगी।' लाला हरदयाल की इस चुटकी में मानव जाति के लिए बड़ा दर्द छिपा हुआ है। क्या हम अब भी ऐसी मूर्खता की बातें सोचते रहेंगे कि गोरे रंगवाले आदमी सब से श्रेष्ठ होते हैं, भूरे रंगवाले उनसे कम श्रेष्ठ, और काले रंगवाले सब से नीचे दर्जे के।

हम अपने आपको बहुत बुद्धिमान और विचारवान कहते हैं। लेकिन जब हम रूप रंग आदि के फरक को देखते हैं तो हम भूल जाते है कि सब आदमियों में एक सोचनेवाला मस्तिष्क और प्रेम करने वाला हृदय होता है। अमरीका में गोरे बालक अपने साथ हबशी बालकों के काले रंग से अरुचि प्रकट नहीं करते, वे उनके साथ खूब हिलमिल कर रहते और खेलते हैं। इस तरह बालक हमें बुद्धिमानी सिखाते हैं। पुरुष और स्त्री का प्रेम जाति या रंग से परे होता है। वह कानून बन्धनों या सीमाओं को स्वीकार नहीं करता। मध्य अमरीका में गोरे और काले के मेल से भूरे रंग की सुन्दर सन्तानें हुई हैं। हमें भाई-चारे का खूब प्रचार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, हमें संस्कृति के उन अनेक तत्वों का विचार करने का अभ्यास करना चहिए जो सब जातियों में समान रूप से मौजूद हैं। बालकों को घर पर तथा बाहर उदार शिक्षा मिलनी चाहिए। प्रेम और सहयोग के भावों की वृद्धि करने वाले साहित्य का प्रचार होना चाहिए। तभी हम उन विकारों से बच

सकते हैं, जो शकल सूरत के भेद से हमारे मन में पैदा हो जाते हैं। वर्ण-भेद का रोग पुराना है, पर असाध्य नहीं है। मानव जाति के सुन्दर भविष्य में विश्वास रखते हुए उसकी धैर्य पूर्वक चिकित्सा की जानी चाहिए। सफलता निश्चित है।

—o—

पन्द्रहवां अध्याय

भाषा-भेद

—:o:—

'अपने मुझे भाषा सिखाई और मुझे फायदा यह हुआ कि मैं दूसरों को कोसना सीख गया।' —शेक्सपीयर

'जापानियों ने अपने देश की भलाई को सामने रख कर अपनी देहाती बोलियों और अपनी बहुत सी परम्परागत रूढ़ियों. रस्म रिवाजों को त्याग कर एक भाषा और एक कौम का निर्माण कर दिखाया। और, एक हम हैं, जो अपने देश में बहुत सी भाषाओं के होते हुए भी सन्तुष्ट नहीं हैं. उनकी तादाद घटाने के बदले बढ़ाने पर तुले हुए हैं।' —भवानीदयाल संन्यासी

भाषा या जबान मनुष्यों को मिलाने का बहुत अच्छा जरिया है। एक जबान बोलने वाले आदमी एक दूसरे का दुःख सुख जान लेते हैं; धीरे-धीरे उनमें एक दूसरे की सहायता और एक दूसरे से हमदर्दी के भाव बढ़ते जाते हैं, बातचीत से उनमें विचारों का तबादला होता है, और इससे विचारों में एकता आती है। उनका एक दूसरे से सम्बन्ध ज्यादह गहरा होता जाता है। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना जरूरी है कि भाषा की अलहदगी से जनता को नाइत्तफाकी जाहिर होती है। मानव जाति अलग-अलग टुकड़ों में बंट रही है और उनमें भेद-भाव, एक दूसरे से नफरत और कलह बनी हुई है।

यह स्वाभाविक ही है कि उन अनजान, अजनबी या अपरिचित लोगों से हम भाई चारा क़ायम न कर सकें, या न करना चाहें, जिनकी भाषा हम नहीं समझ सकते, और जिनके साथ हम बातचीत नहीं कर सकते। सहयोग या मेल मिलाप की ज़रूरी शर्त यह है कि आदमी एक दूसरे की बात समझें। शुरू की हालत में बोलियाँ या उपभाषाएँ अनगिनती होती हैं। इसलिए लोगों का एक दूसरे से सम्बन्ध छोटे-छोटे दायरों में महदूद या परिमित रहता है। धीरे-धीरे एक बोली विकसित होकर राष्ट्र-भाषा या क़ौमी ज़बान बन जाती है, और राष्ट्र-भाषा ही के आधार पर जनता का राष्ट्र-राज्य नाम से राजनैतिक संगठन हो जाता है। फिर भी राष्ट्र के सब हिस्सों में एक ही भाषा नहीं बोली जाती, अलग-अलग हिस्सों में बोलचाल की अलग-अलग भाषाएँ बनी रहती हैं, जिनमें दूरी के हिसाब से फ़रक़ बढ़ता जाता है। जिन देशों में शिक्षा का प्रचार ठीक-ठीक नहीं हुआ है, और आने जाने के ज़रियों आदि की कमी के कारण दूर-दूर के लोगों का एक दूसरे से मिलना कम होता है, वहाँ थोड़ी-थोड़ी दूर पर ही इन उपभाषाओं या बोलियों में काफ़ी फ़रक़ होता है, इसलिए क़ुदरती तौर पर वहाँ उपभाषाओं या बोलियों की तादाद उन्नत या ज़िन्दा राष्ट्रों की निस्बत कहीं ज्यादा होती है। हाँ, लोगों की सामाजिक, राजनैतिक और तिजारती ज़रूरतों के कारण उन उपभाषाओं में से, जो राष्ट्र-भाषा की जगह लेने के क़ाबिल होती है, वही शिक्षा और साहित्य की भाषा बनाई जाने के योग्य समझी जाती है। राष्ट्र-भाषा में उपभाषाओं के शब्द और मुहावरे (लोकोक्तियाँ) शामिल होते रहते हैं; यही नहीं, उसमें ज़रूरत और मेल मिलाप के साथ-साथ विदेशी शब्दों और कभी-कभी विदेशी वाक्य रचना की शैलियों को भी अपनाने का काम चलता रहता है। जितना-जितना इस राष्ट्र-भाषा का प्रचार बढ़ता जाता है, उतना-उतना ही राष्ट्र के सब लोगों का एक दूसरे से सम्बन्ध ज्यादह गहरा होता जाता है। राष्ट्र-भाषाओं का मनुष्य-जाति के विकास में एक ख़ास स्थान है।

पहले यह हालत रह चुकी है कि दस बीस मील के अन्दर के आदमी ही एक दूसरे से बातचीत कर सकते थे, वे ही आपस में सम्बन्ध रखते थे। उस दायरे से बाहर वालों से बातचीत करना उनके लिए सम्भव न था, इशारों की मदद से, जैसे तैसे वे बाहर के आदमियों को अपना मतलब बता पाते थे, और उनका मतलब समझने की कोशिश करते थे। इस तरह हर दस बीस मील के अन्दर के आदमियों की एक अलग दुनिया थी। पाठक अनुमान कर सकते हैं कि आज कल जिसे हम एक देश या मुल्क, या एक राष्ट्र कहते हैं, वह पहले कितने सौ या कितने हज़ार टुकड़ों में बंटा हुआ रहा होगा, और हमारी यह कुल धरती तो और भी ज्यादह हिस्सों में बंटी हुई होगी। परन्तु जीवन गतिशील है, वह बदलता रहता है। वह एकसा अर्थात् एक ही हालत में नहीं रहता, उसमें परिवर्तन होता रहता है। धीरे-धीरे लोगों को यह मालूम होने लगा कि बिलकुल एकांगी जीवन व्यतीत करने में बहुत कठिनाइयाँ हैं। सामाजिक या तिजारती और दूसरी ज़रूरतों से एक हिस्से के लोगों का दूसरे हिस्से के रहने वालों से मेल-मिलाप बढ़ता गया। उन्होंने एक मिली हुई भाषा की ज़रूरत और उसके फ़ायदों को अनुभव किया। कुछ लोगों ने इन मिली हुई भाषाओं के बनाने में असली हिस्सा लिया, और कुछ ने अनजाने ही उसमें साथ दिया। हाँ, कुछ को यह काम नापसन्द भी हुआ, उन्होंने इसका अपने-अपने ढंग से विरोध किया। परन्तु परिवर्तन-चक्र चलता रहा, इनक़लाब का पहिया नहीं रुका, मिली-जुली या विकसित भाषाओं का प्रादुर्भाव होकर रहा, और जो लोग इनसे कुछ बचना चाहते थे, उन्हें भी जल्दी या देर में इनका उपयोग करना पड़ा। मिली-जुली भाषाओं ने जुदा-जुदा भू-भागों को मिलाया। यह क्रिया जारी रहने का ही यह नतीजा है कि हम दुनिया भर में आजकल की राष्ट्र-भाषाओं और राष्ट्र-राज्यों तक पहुँचे हैं।

अपनी प्रगति की इस मंज़िल पर खड़े होकर हम सोचते हैं कि

हम कहाँ से कहाँ आगए। हमने बहुत यात्रा तय कर ली है, हमारे रास्ते में समय-समय पर रुकावटें आईं। फिर भी हम निरन्तर आगे ही बढ़ते रहे हैं। हम उस जगह को दूर छोड़ आए हैं, जहाँ से हम रवाना हुए थे। परन्तु जब हम यह सोचते हैं कि हमें कहाँ पहुँचना है, तो अभी भी दिल्ली दूर ही नज़र आती है। राष्ट्र-भाषाओं का कार्य अभी पूरा नहीं हुआ। फिर राष्ट्र-भाषाओं ने हमें जो राष्ट्रीयता दी है, वह भी आजकल की दुनिया में कई दृष्टियों से एक बन्धन ही मालूम हो रही है। यह एक दूसरा ही विषय है। जो हो, राष्ट्र-भाषा हमारी राष्ट्रीय ज़रूरतों को पूरा करने के काम आती है। इसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के सहारे हमारे अन्तर्राष्ट्रीय काम पूरे होते हैं; अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं कायम होती हैं। इसी क्रम या सिलसिले से यह उम्मीद की जाती है कि एक दिन विश्व-भाषा का विकास होकर वह विश्व-राज्य के क़ायम करने में सहायक होगी।

परन्तु अभी इस समय क्या हालत है। पुराने ज़माने की हज़ारों भाषाएँ लोप होकर दुनिया भर में साहित्यिक भाषाएँ कुल चार पाँच दर्जन ही हैं। फिर भी हर राष्ट्र और हर देश में कई-कई उपभाषाएँ मौजूद हैं। और, एक उपभाषा बोलने वालों के लिए दूसरी उपभाषा समझना कठिन होता है। मिसाल के लिए ब्रिटिश द्वीप की बात लें, जो क्षेत्र फल में पञ्जाब से भी कम है, और जहाँ आने जाने के साधनों की तरक्क़ी काफ़ी होने से लोगों का आपस में मिलना-जुलना भारत-वासियों के आपस के सम्बन्ध के मुकाबले में बहुत ज़्यादह है। वहाँ इंगलैंड, वेल्ज़, स्काटलैंड और आयर्लैन्ड में अँगरेज़ी के कई भेद या रूप मिलते हैं, जो एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि एक को बोलचाल के काम में लाने वाले दूसरे रूप को आसानी से नहीं समझ पाते। ख़ुद इंगलैंड की ही अलग-अलग काउंटियों (ज़िलों) में बोली जाने वाली अंगरेज़ी भाषा के उच्चारण में, शब्दों में और वाक्य-रचना में काफी फ़रक़ है। परन्तु अंगरेज़ों की इन उपभाषाओं में से हरेक में स्वतंत्र

साहित्य पैदा करने को वहाँ के विद्वान प्रोत्साहन नहीं देते। शिक्षा और साहित्य-रचना के लिए एक सामान्य अंगरेज़ी भाषा का इस्तेमाल करके ही सब अपना काम चलाते हैं। वे यह समझते हैं कि यदि हरेक उप-भाषा को शिक्षा और साहित्य की भाषा माना जायगा, तो जनता को मानसिक उन्नति, दिमाग़ी तरक्की या प्रगति में रुकावट होगी, और आज दिन अंग्रेज़ी भाषा को साहित्य की दृष्टि से जो ख़ास जगह मिली हुई है, वह भी न रहेगी। इसलिए उन्हें अपने-अपने यहाँ की अलग-अलग उपभाषाओं का मोह सीमित करना या रोक कर रखना पड़ता है। सार्वजनिक उत्थान या सबकी तरक्की और भलाई के लिए मनुष्यों या समूहों को अपनी-अपनी बात या भावना कुछ अंश तक छोड़ देने से ही मनोरथ सिद्ध होता है।

इस विषय पर प्रकाश डालने के लिए अब हम भारतवर्ष की हालत पर विचार करें। यहाँ हिन्दी (उर्दू या हिन्दुस्तानी) बंगला, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलगू, कन्नड़, और मलयलम भाषाएँ मुख्य हैं। इनमें शिक्षा और साहित्य का काम हो रहा है। इनमें से हरेक की बहुत सी उपभाषाएँ हैं, जो एक दूसरे से काफ़ी अलग हैं। ऊपर की भाषाओं में से हिन्दी एक ऐसी भाषा है, जो, बिहारी, राजस्थानी, पंजाबी आदि अपनी उपभाषाओं और बोलियों को मिलाकर भारतवर्ष के हर सात आदमियों में से तीन की भाषा है, जिसे वे रात दिन बोलते हैं। तीन चौथाई से ज्यादह भारतवासी अपना काम चलाने योग्य हिन्दी समझ सकते हैं। कुछ साल पहले मंदरास और आसाम आदि के आदमी हिन्दी नहीं समझ सकते थे, पर अब कोशिश करने से वहाँ भी समझने लग गए हैं। इस तरह यह भाषा हिन्दुस्तान की राष्ट्र-भाषा या कौमी ज़बान होने के ज्यादह क़ाबिल हो गई है।

ऊपर कहा जा चुका है कि हिन्दी के कई भेद या इसकी छोटी-छोटी बहुत सी उपभाषाएँ थोड़ी-थोड़ी दूर पर मौजूद हैं। हमारा हित

और भला इसमें है कि इन्हें अनावश्यक महत्व न दिया जाय। सारी मनुष्य जाति की प्रगति और उसके भले का विचार करते हुए हमें भारतवर्ष में हिन्दी और ऊपर लिखी मुख्य-मुख्य भाषाओं को ही शिक्षा और साहित्य की भाषाएँ मानना चाहिए। हाँ, इनकी जो उपभाषाएँ हैं, भाषा-विज्ञान या समाज-शास्त्र प्रेमी सज्जन उनका अध्ययन करते रहें। उनका जो कुछ साहित्य—गीत, गाथाएँ, कहावतें, मुहावरे, शब्द आदि मिल सकते हैं, उनका संग्रह करके उसे सुरक्षित रखने की व्यवस्था भी होनी चाहिए, जिससे उसका उपयोग हो सके परन्तु इन उपभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने या उनमें अब उच्च कोटि का साहित्य रचने का आयोजन नहीं होना चाहिए। ऐसा करना विकास के सारे क्रम को उलट देना होगा।

खेद है कि यह बात हमारे कुछ अच्छे अच्छे विद्वानों की भी समझ में जल्दी नहीं आती। वे 'जनपदों की भाषा' और जनपदों के साहित्य' का नारा बुलन्द करते हैं। वे कहते हैं कि हिन्दी तो इन जनपदों की केवल राष्ट्र-भाषा है, मातृ-भाषा नहीं, और इसलिए हिन्दी से हमारा सम्बन्ध केवल राष्ट्र की ज़रूरतों के नाते से ही रहे, प्रारम्भिक शिक्षा आदि का काम जनपद की भाषा से लिया जाय। ऐसी बातों की ओर भावुक और भोली जनता बहुत जल्दी आकर्षित हो जाती है। कुछ नेतृत्व या ख्याति के इच्छुक लोगों को नया धन्धा मिल जाता है और वे इस कार्य में सहयोग देने लगते हैं। परन्तु इससे देश की कितनी शक्ति बँट जाती है, और उस शक्ति का कितना अपव्यय होता है! क्या यह उचित है? हमें अभी कितनी साहित्यिक प्रगति करनी बाकी है, विश्व-भाषाओं में अपनी भाषा को कैसा स्थान पाने के योग्य बनाना है, इन प्रश्नों पर हमें गम्भीरता के साथ विचार करने की ज़रूरत है।

ऊपर हमने भारतवर्ष को सामने रखकर जो बात कही है, वह सभी देशों के सम्बन्ध में विचारणीय है। हमें समझ लेना चाहिए कि छोटे छोटे देशों में भी समय समय पर अनेक भाषाओं का प्रादुर्भाव हुआ।

अपने समय में उन्होंने जनता का खूब काम चलाया, उनकी उस समय की उपयोगिता को भुलाया नहीं जा सकता। पर कालचक्र चलता रहता है। वे सब भाषाएँ आज दिन तक जीवित नहीं रह सकीं और यदि उन्हें जीवित रखने की कोशिश की जाय, तो उसके लिए मानव विकास की रुकावट के रूप में बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ेगी। मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपनी पुरानी आदत, अभ्यास रस्म रिवाज, रूढ़ि परम्परा को याद बनाये रखना चाहता है; परन्तु यह बात एक खास हद तक ही उपयोगी होती है। कभी-कभी ऐसा देखने में आया है कि बालक एक कपड़ा पहने हुए है, वह मैला हो गया है, शायद फट भी गया है। मा चाहती है कि उस कपड़े को उतार कर बालक को नया वस्त्र पहना दिया जाय। परन्तु बालक अपना कपड़ा उतारना पसन्द नहीं करता, उसे इसमें कष्ट या झंझट मालूम होता है, वह अपना कपड़ा उतारे जाने का विरोध करता है। और, मा को बालक की इच्छा के विरुद्ध अपना काम करना पड़ता है। माता का स्नेह और बालक का हित दोनों इसी में है। बालक उस समय अपने भले बुरे का विचार करने योग्य नहीं होता। इसलिए वह माता के काम में अरुचि और अप्रसन्नता प्रकट करता है। हाँ, कुछ देर बाद नया कपड़ा पहन चुकने पर, बालक को भी यह अनुभव होने लगता है कि अच्छा हुआ, मा ने मुझे नया वस्त्र पहना, दिया, अब इस कपड़े में मैं पहले से अच्छा दिखाई देता हूँ. अगर बालक में कुछ सोचने की शक्ति हो, तो उसे अवश्य ही इस बात पर खेद हो कि उसने पुराना कपड़ा उतारने का इतना विरोध क्यों किया था।

भाषा सम्बन्धी नीति में आजकल हम प्रायः बाल-मनोवृत्ति का परिचय दिया करते हैं। प्रकृति माता चाहती है कि हम अधिकाधिक विकसित भाषा का उपयोग करके अपने विकास और प्रगति में सहायक हों, परन्तु हम अपनी कम विकसित उपभाषा या बोली से ही चिपटे रहना चाहते हैं। हमारा उसके प्रति मोह होता है। हम उसे शिक्षा

और साहित्य की भाषा बना कर सृष्टि-क्रम के विरुद्ध भी उसे अमर बनाने के उत्सुक रहते हैं। संसार में मानव जाति के काम में आनेवाले साधना का निरंतर विकास और रूपान्तर होता रहा है, और होता रहेगा। हम अपनी अनुदारता, संकीर्णता, तंगदिली या मोह वश इस गति को रोकने की कितनी हो कोशिश करें, हम उसमें पूरी तरह कामयाब नही हो सकते। प्रकृति रूपी घड़ी की सुइयो को आगे बढ़ने से रोक रखना हमारे वश की बात नहीं है। दुनिया में अनेक उपभाषाएँ या बोलियाँ लुप्त हो कर अपनी जगह किसी एक भाषा को देती रहती हैं, उन्हें कृत्रिम या बनावटी साधनो से बल प्रदान करना और जीवित रखना मानव विकास-क्रम के विरुद्ध है।

उपभाषाओं की बात छोड़ कर अब हम संसार की बड़ी बड़ी मुख्य-मुख्य भाषाओं का विचार करें, तो प्रायः यह बात देखने में आती है कि हर एक भाषा अपने पास की दूसरी भाषा से थोड़ी-बहुत मिलती है। इन भाषाओं में यह तय करना कठिन हो जाता है कि कहाँ एक समाप्त होती है और दूसरी शुरू होती है। जो जिले दो प्रान्तों के बीच में सरहद पर होते हैं, उनकी भाषा प्रायः दोनों प्रान्तों की भाषाओं के मिले जुले रूप में होती है। इसके अलावा आनेजाने और मेल ज़ोल के बढ़ने के साथ साथ दूसरी भाषाओं के शब्द और मुहावरे भी हर भाषा में आते रहना लाजमी है। इस तरह संसार की विविध भाषाओं में लेन देन का व्यवहार जारी रहता है। कुछ हम दूसरा से लेते हैं, और कुछ दूसरे हम से लेते हैं। यह लेन देन की क्रिया अधिक तर हमारे बिना जाने ही होती रहती है। कोई आदमी यह अभिमान नहीं कर सकता कि मैं बिल्कुल स्वावलम्बी हूँ, मुझे किसी से कोईचीज लेने की जरूरत नहीं है। इसी तरह कोई भाषा भी ऐसी पूरी होने का दावा नहीं कर सकती। कि उसकी और उन्नति या विकास की आवश्यकता न हो। यदि वह अपने चारों तरफ व्याकरण के नियमों आदि की ऐसी दीवार खड़ी करेगी कि उसमें किसी तरह का परिवर्तन न हो, और

उसमें नये शब्दों और मुहावरों आदि को स्थान न मिल सके, तो वह भाषा ऐसे प्राणी की तरह होगी, जिसका ताजी हवा न मिलने के कारण दम घुटता है, और जिसकी अन्त में मुर्दों में शामिल होने की सम्भावना होती है। जो पानी बहता नहीं रहता, वह सड़ जाता है; और, जो भाषा सुधार, संशोधन, बढ़ने या फैलने से बचती है, वह थोड़े ही समय में मृत-भाषा बनने की तैयारी करती है।

खेद है कि अनेक सज्जन इस साधारण नियम की अवहेलना करते हैं। वे भाषा के विषय में कट्टर साम्प्रदायिकता का परिचय दिया करते हैं। उन्हें हर दम यह खटका लगा रहता है कि हमारी भाषा में दूसरी भाषाओं के संसर्ग से कुछ दोष न आजाय। वे छांट छाँट कर ऐसे ही शब्दों का प्रयोग करते हैं जिन्हें वे ठेठ उसी भाषा का समझते हैं। दूसरे शब्दों का वे पूरा पूरा बहिष्कार करने के पक्ष में होते हैं। इस तरह कुछ हिन्दी-भक्त ऐसी भाषा लिखते पढ़ते हैं, जिसमें संस्कृत के तो कठिन से कठिन शब्द आ जायें पर उर्दू फारसी आदि दूसरी भाषाओं का शब्द ढूंढे भी न मिले। इसी तरह उर्दू के कुछ प्रेमी अपनी भाषा में अरबी फारसी के तो मुश्किल से मुश्किल शब्द काम में ले आवेंगे, पर ऐसा कोई शब्द इस्तेमाल करना पसन्द न करेंगे जो मूल में संस्कृत का रहा हो। इन दोनों कट्टर गिरोहों की नीति का ही यह फल है कि हिन्दी और उर्दू जो पहले एक ही भाषा के दो नाम थे, अब एक दूसरे से ज्यादह से ज्यादह दूर होती जा रही हैं। हम हिन्दी वाले अपनी ताकत इस बात में लगा रहे हैं कि हमारी भाषा किस तरह उर्दू से बिलकुल अलग दिखाई दे। हम कदम कदम पर कोष और व्याकरण की कसौटी से काम लेते हैं। हम भूल जाते हैं कि कोष और व्याकरण को भाषा का सहायक होना चाहिए न कि उसका जेलर। यदि वे समय-समय पर परिस्थिति और जरूरत के अनुसार बदलते नहीं है, तो वे भाषा को कैद करने, उस के विकास तरक्की और बढ़ती को रोकने वाले बन जाते है।

हमारा यह मतलब नहीं कि आदमी ख्वामख्वाह भाषा में नये नये दूसरी भाषाओं के शब्दों आदि का प्रयोग किया करे, चाहे वे सुनने और पढ़ने वालों की समझ में आवें या न आवें। कई कई भाषाओं को जबरदस्ती मिलाकर खिचड़ी भाषा का व्यवहार करना बेजा और हानिकर है। हमारा मतलब सिर्फ यह है कि जिस शब्द या शैली या मुहाविरे को जनता-जनार्दन ने अपना लिया है, उसकी शुद्धि को परखना साहित्यकार के लिए गैरजरूरी और अनधिकार चेष्टा है। हमें उनसे परहेज करने की बिलकुल जरूरत नहीं है। जहां तक बन आवे, हमें अपनी जबान को आमफहम यानी सरल और सुबोध रखने की कोशिश करनी चाहिए, जिससे वह ज्यादह से ज्यादह जनता के काम में आ सके, और देश में आपसी मेल का ही कारण बने, फूट का नहीं। हर भाषा के शुभचिन्तकों को चाहिए कि वे अपने व्यवहार से भाषा के बढ़ने या विकास को रोकने के दोषी न बनें। उनका फर्ज है कि अपनी ताकत को व्यर्थ के वाद विवाद में न लगा कर अच्छी रचनाओं द्वारा भाषा का भंडार भरें, उन रचनाओं के लिए वे तन मन से खूब मेहनत करें। उनकी साहित्य-सेवा का लक्ष्य सचमुच साहित्य की सेवा हो, यही उनकी जिन्दगी का ब्रत और मकसद हो।

सच यह है कि अच्छे साहित्य को बनाने के लिए लेखक को खुद अपना जीवन निर्माण करना, होगा, अच्छे गुणों का अभ्यास करना और अच्छे विचारों को अमल में लाना होगा। ऊँचे चरित्र के बिना पूरे प्रभावशाली या बाअसर साहित्य की रचना नहीं होती। पर चरित्र-निर्माण एक अलग ही विषय है। इस पर विचार किसी दूसरे मौके पर किया जायगा।

यहाँ कहने की मुख्य बात यह है कि हमें इस भाषा-भेद को धीरे धीरे हटाते रहना चाहिए, जिससे ज्यादह से ज्यादह आदमियों में बातचीत और विचार-विनिमय करने और एक दूसरे से मिलने जुलने

का रास्ता साफ हो; एक सूबे के आदमी दूसरे सूबे वालों के, और एक देश के आदमी दूसरे देश वालों के, नजदीक आ सकें। इस भाषा-भेद के कारण जो बड़ी बड़ी दीवारें मनुष्य-समाज को अलग अलग टुकड़ों में बांट रही हैं, उन्हें गिराने में, और विश्व-भाषाके लिए रास्ता साफ करने में सहायक होना हर विचारशील प्रगतिवादी आदमी का परम कर्तव्य है।

—०—

सोलहवां अध्याय

धर्म और सम्प्रदाय

—:०:—

सम्प्रदायवाद ने हर सम्प्रदाय की छोटी से छोटी रूढ़ियों, रिवाजों, पूजा के तरीकों आदि को जो एक-दूसरे के विरुद्ध हैं, अमर और एक मात्र सत्य या कल्याण का एक मात्र उपाय साबित करने और बनाये रखने की कोशिश की है। यदि इन आधारों को न हिलाया गया, उनमें बुद्धि और तर्क से छान-बीन करके दूध-का-दूध और पानी का पानी अलग अलग न किया गया तो विविध सम्प्रदायों के वे आपसी झगड़े और मत-भेद जो इस समय संसार की उन्नति में कंटकों का काम दे रहे हैं, कभी दूर नहीं हो सकते।

—रघुवीरशरण दिवाकर

मानव समाज के संगठन के बढ़ने और ज्यादह व्यापक होने में एक बड़ी रुकावट साम्प्रदायिकता या धार्मिक भेद-भाव है। असल में 'धर्म' शब्द बहुत व्यापक है। इसका अर्थ कर्तव्य या फर्ज है। इसी तरह 'मजहब' का अर्थ रास्ता है। धर्म के आधार पर बने हुए सब संगठनों का आपस में मेल होना चाहिए, लेकिन व्यवहार में इसका उलटा है। आम तौर पर धर्म का मतलब अलग अलग मतमतान्तर

या सम्प्रदाय लिया जाता है। ये मत मतान्तर समाज-संगठन में किस तरह बाधक होते हैं, इसका विचार करने के लिए हम पहले यह सोचें कि मनुष्य में धर्म की भावना क्यों होती है, और उससे क्या लाभ होता है।

मनुष्य का ज्ञान बराबर बढ़ता रहा है, फिर भी दुनिया की बहुत सी चीज़ें और घटनाएँ आदमी के लिए अभी तक रहस्यमय ही हैं। उनमें आदमी की अक्ल काम नहीं करती। आदमी चाहे या न चाहे, वह यह सोचने को मजबूर होता है कि उसकी पहुँच से परे कोई न कोई ऐसी अदृष्ट शक्ति है, जो दुनिया में समय-समय पर तरह-तरह के परिवर्तन करती रहती है जो सब जानदार और बेजान चीज़ों पर शासन करती है; अन्त में सब जानदारों का जीना, मरना, सुख दुख, हानि-लाभ आदि उसी के अधीन हैं। आदमी इस अदृष्ट शक्ति को जान नहीं पाता, पर वह इसके अस्तित्व से इनकार भी नहीं कर सकता। इस महान, सर्वोपरि और सर्वनियंता शक्ति के सामने उसका अहंकार नष्ट हो जाता है, और वह श्रद्धा और विनय के साथ अपना सिर झुका देता है।

मनुष्यों ने उस शक्ति के अलग-अलग नाम रखे हैं, कोई उसे परमात्मा कहता है, कोई खुदा, और कोई 'गाड'। अपनी बुद्धि के अनुसार कोई उसे निराकार मानता है; कोई साकार। साकार मानने वाले तरह-तरह के देवी देवता, अवतार, पीर आदि की पूजा करते हैं। लोग विश्वास करते हैं कि ईश्वर या देवी देवताओं की आराधना से उनकी सुख शान्ति बढ़ेगी, अनिष्ट का निवारण होगा; और इस जीवन के बाद, मरने पर परलोक में भी उनका कल्याण होगा। यही भावनाएं तरह-तरह के धर्मों को जन्म देती हैं। संसार के अलग-अलग हिस्सों में समय-समय पर अनेक धर्म हुए हैं। उनमें से कुछ का रूपान्तर हो गया है, और कुछ लोप हो गए। फिर भी इस समय कई धर्म और उनकी शाखाएँ मौजूद हैं। यदि हम जापान से शुरू करके पच्छिम को चलें

तो हमें नीचे लिखे मुख्य-मुख्य धर्म मिलते हैं (१) शिन्तो धर्म जिसका जन्म जापान में हुआ; (२) ताओधर्म और (३) कनफ्यूसियस धर्म चीन में; (४) वैदिक धर्म, जिसे अब हिन्दू धर्म कहते हैं (५) बौद्ध धर्म, (६) जैन धर्म और (७) सिक्ख धर्म भारतवर्ष में; (८) ज़रदुश्ती धर्म या पारसी धर्म ईरान में; (९) यहूदी धर्म और (१०) ईसाई धर्म फ़िलिस्तीन (पेलेस्टाइन) में; और (११) इसलाम धर्म अरब में। इनमें से वैदिक धर्म और शिन्तो- धर्म को छोड़ कर और सब धर्म किसी-न-किसी महापुरुष (अवतार या पैगम्बर आदि) द्वारा चलाए हुए हैं।

हर एक धर्म ने कुछ खास-खास आदर्शों या सिद्धान्तों पर विशेष ज़ोर दिया है। कारण यह है कि हर धर्म का उदय एक खास देश काल में हुआ और उस परिस्थिति में वहां के लोगों की कुछ खास ज़रूरतें थीं। श्री० कन्हैयालाल जी राजदान ने एक लेख में लिखा है कि 'हर धर्म का रंग अलग-अलग है। आत्मा सब में एक ही है, पर शरीर का रूप रंग जुदा-जुदा है, जिससे लाभ ही है न कि हानि। इन रंगों में से कोई भी ऐसा नहीं है, जिसे आगामी विश्व-धर्म में से निकाल फेंका जा सके। हिन्दुस्तान से हमें परमात्मा की सर्वव्यापकता और मनुष्य जाति की एकता लेनी होगी; पारस से पवित्रता की शिक्षा; मिश्र से विज्ञान, जो धर्म का एक अंग है, न कि किसी तरह उसके विरुद्ध है; यूनान से सौंदर्य; रोम से नियम-पालन; यहूदी धर्म से भलाई; और ईसाई धर्म से आत्म त्याग।' ये सभी गुण समाज के लिए ज़रूरी हैं। इसलिए सब धर्मों ने अपने-अपने समय और क्षेत्र में समाज का उपकार किया है। इस समय भी जो लोग किसी एक धर्म के या उसकी किसी एक शाखा या उपधर्म के अनुयायी होते हैं, वे आपस में एकता अनुभव करते हैं, एक दूसरे से सहानुभूति और प्रेम रखते हैं।

मनुष्य की अनुदारता और नासमझी द्वारा हर धर्म में विकार आ गए। विविध धर्म रूढ़ियों और अंधविश्वासों के भंडार बन गए। इनसे प्रेम की जगह परस्पर कलह और द्वेष का प्रचार होने लगा। यहाँ

तक कि धर्म के नाम पर अनेक कुरीतियों का समर्थन हुआ, और ऐसे-ऐसे अत्याचार हुए जिन्हें पढ़ सुन कर हृदय काँप उठता है। न-जाने कितने करोड़ पुरुषों, स्त्रियों और बालकों को धर्म के नाम पर मौत के घाट उतारा गया, या अंगहीन और घायल किया गया। लोगों की गाढ़ी मेहनत से कमाई हुई कितनी सम्पत्ति धर्म की खातिर नष्ट की गई इसका कोई हिसाब नहीं है।

जो हो चुका, वह हो चुका; किन्तु अभी तक भी हालत ठीक-ठीक सुधरी नहीं है। एक धर्म के कट्टर भक्त दूसरे धर्म वालों को अपने में मिलाने के लिए क्या-क्या ज़ोर-जुल्म नहीं करते! वे दूसरों का सिर फोड़ने, और कहीं-कहीं खुद शहीद बनने के लिए तैयार रहते हैं। रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट ईसाइयों, शियाओं और सुन्नियों, मुसलमानों और ईसाइयों, हिन्दुओं और मुसलमानों, मुसलमानों और यहूदियों के और दूसरे सम्प्रदायों के आपसी झगड़ों ने कई देशों को कलह का घर बना रखा है।

ऐसा क्यों होता है? बात यह है कि यद्यपि सभी धर्मों के मूल तत्त्व प्रायः एक से हैं, सभी सचाई, दया प्रेम आदि पर ज़ोर देते हैं, पर हर धर्म ने लोगों के रहनसहन के सम्बन्ध में जो रीति, नियम या पद्धतियाँ तय कर रखी हैं, वे अलग-अलग हैं। अलग-अलग धर्मों का जन्म अलग-अलग देश काल में होने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी था। आदमी अपने व्यवहार में धर्म के मूल तत्त्वों को बहुत कुछ भुला देता है, और बाहरी तथा गौण बातों में फँसा रहता है, जैसे पूजा किस तरह करनी चाहिए, कैसे स्थान में करनी चाहिए, खाने कौन-कौन सी चीजें निषिद्ध माननी चाहिए, किसके हाथ का खाना चाहिए, विवाह आदि किस तरह करना चाहिए, बालक के जन्म के समय क्या-क्या रीति रस्म बरतनी चाहिए, मृतक संस्कार किस तरह होना चाहिए; यात्रा, व्यापार; विवाह-शादी, लड़ाई, या मुकदमा आदि कोई काम शुरू करने के लिए कैसा समय (मुहूर्त) अच्छा होता है, किन-किन बातों से अच्छा

शकुन माना जाता है, और किन से अपशकुन, इत्यादि। ये बातें लोगों की व्यक्तिगत श्रद्धा पर, और अधिकतर अज्ञान और अंध श्रद्धा पर निर्भर होती हैं।

इन बाहरी बातों में, विविध धर्मों में भिन्नता है। इसके अलावा हर धर्म के अनुयायी अपनी इस तरह की बातों को तर्क संगत और वैज्ञानिक, और दूसरे धर्म वाले की इसी तरह की बातों को अज्ञानता और असभ्यता सूचक समझते हैं। ये दूसरों से भी अपनी ही बातों का अनुकरण कराना चाहते हैं। यही सब झगड़े की जड़ है।

शुरू ज़माने में जब लोग छोटे-छोटे समूहों में रहते थे, एक समूह के आदमियों का अपना एक देवता था, वे सब एक ही तरह की पूजा पाठ करते और रीति रस्म मानते थे। इससे उन लोगों में प्रेम और एकता बढ़ती थी। अब हम उस शुरू के जीवन को बहुत पीछे छोड़ आए हैं। करीब-करीब हर देश में अलग-अलग धर्मों के मानने वाले और जुदा-जुदा रीतिरस्मों का पालन करने वाले रहते हैं। ऐसी दशा में यदि एक सम्प्रदाय के आदमी दूसरे सम्प्रदाय वालों से प्रेम, सहानुभूति और सहयोग का भाव न रखें, सब अपने-अपने ही स्वार्थ सिद्ध करने में लगे रहें और उसके लिए दूसरों को कष्ट देने में सकोच न करें तो परस्पर कलह और संघर्ष होना लाजमी है। यदि किसी धर्म या सम्प्रदाय वाले बाढ़, महामारी, अकाल आदि के मौके पर ऐसी संस्था बनाएँ, जो केवल उनके ही सम्प्रदाय वालों का विचार करे, और दूसरों की परवाह न करे तो यह किसी तरह धर्म नहीं है, और न किसी धर्म या सम्प्रदाय को शोभा देता है।

हमें इस तरह की सब संकीर्णताओं और क्षुद्रताओं से जल्दी-से-जल्दी अपना पिंड छुड़ाना चाहिए। हर धर्म में से अपने और पराए का भेद भाव दूर करना चाहिए। यह कैसे हो? ज़रूरत यह है कि हर धर्म के कुछ उदार हृदय के लोग इस बात के लिए कमर कसें, वे अपने व्यवहार से और प्रचार से अपने सहधर्मियों का दृष्टिकोण व्यापक

बनाएँ। वह उन्हें समझाएँ कि सेवा या सहायता करते समय अपने पराए का विचार न कर केवल यह सोचना चाहिए कि पीड़ित या मोहताजों में किसे सहायता की ज्यादह ज़रूरत है या हमें किस की मदद करने की सुविधा अधिक है। यदि दस आदमी नदी में डूब रहे हैं तो उन्हें बचाते समय हम यह देखने न बैठें कि छाँट छाँट कर पहले हिन्दू-हिन्दुओं को बचाया जाय, उसके बाद मुसलमानों या ईसाइयों को। जो भी हमारे हाथ से बच सके, उसे बचाने की हम भरसक कोशिश करें। इसी तरह यदि भूखों की भीड़ को कुछ भोजन देने का अवसर आता है तो उस समय हमारा सहधर्मी और विधर्मी आदि का विचार करने लगना अनुचित और पाप है।

हर आदमी को यह भी सोचना है कि हमें निस्पक्ष हो कर सब के गुणों की प्रशंसा और दुर्गुणों की निन्दा करनी चाहिए। हम इतने संकीर्ण हृदय के हो गए हैं कि अगर कोई दूसरे धर्म वाला त्याग और कष्ट सहन की मिसाल पेश करता है तो हम उसकी तारीफ नहीं करते; यदि कहीं उसका उल्लेख करना ही हो तो अपने शब्दों में कृपणता का परिचय देते हैं। इसके खिलाफ हम अपने सहधर्मी के मामूली से भले काम की भी खूब सराहना करते हैं, उसकी प्रशंसा के पुल बांध देते हैं। अनेक बार अच्छे अच्छे लेखक, कवि, इतिहासकार और सम्पादक भी इस विषय में दोषी पाये जाते हैं।

इसी तरह यदि कोई अपराधी हमारे धर्म का अनुयायी होता है तो हम उससे सहानुभूति रखते हैं, और जहां तक बने उसे कानूनी सजा से बचाने की कोशिश करते हैं। और अगर उसे फांसी दी जाती है तो हम उसका शहीद के रूप में आदर मान करते हैं। इसके खिलाफ अगर अपराधी दूसरे धर्म या सम्प्रदाय का है तो हम उसे बदनाम करते हैं और उसे अधिक से अधिक सजा दिलाने का प्रयत्न करते हैं, उसके साथ ही उसके दूसरे सहधर्मियों को भी षडयन्त्र में शामिल समझते हैं। इस तरह हम मामूली मामलों को दो सम्प्रदायों के बीच कलह का रूप देदेते हैं।

जो धर्म हमें इतना पक्षपाती और अन्यायी या अन्याय पसन्द करने वाला बनाता है, मानव समाज में अपने पराये का भेद-भाव पैदा करता है, उसे 'धर्म' कहना गलत है। हर देश में समय-समय पर ऐसे महानुभाव हुए हैं, जिन्होंने अपराध करने वाले को उस अवस्था में भी दंड दिया या दिलवाया जब कि अपराधी स्वयं उनका भाई, बेटा या और कोई रिश्तेदार था। ये उदाहरण अनुकरणीय हैं। परन्तु आजकल के धर्मों और सम्प्रदायों के अनुयाइयों में ऐसी भावना कितनी कम है!

खान अब्दुल गफ्फार खां ने कहा है—"पहले किसी जमाने में मसजिद में सब मजहब वालों को जाने की इजाजत थी। मदीने में जो मसजिद है, उसमें पहले मुसलमान भी नमाज पढ़ते थे और ईसाई भी दुआ करते थे। बदकिस्मती से वह दिन आज नहीं रहा। आज क्या-से-क्या हो गया है लोग पुराने जमाने के मजहब को भूल गये हैं।" बहुत सी बातें हम केवल सिद्धान्त रूप में ही मानते हैं; हमारा व्यवहार उनके अनुसार नहीं होता। हिन्दू ईश्वर को सर्वव्यापी मानता है, पर उसका दर्शन करने के लिए मंदिरों में ही जाता है, वह इसके लिए मसजिद या गिरजा में जाने का विचार नहीं करता। और उसे यह भी सहन नहीं होता कि कोई दूसरे धर्म वाला उसके मंदिर में आसके। वह 'हिन्दू देवी देवताओं' में विश्वास रखने वाले अपने हरिजन भाई को भी मंदिर-प्रवेश की इजाजत देने में झिझकता है। जो हिन्दू हरिजनों के प्रति कुछ 'उदारता' का भाव रखने लगे हैं, उनमें से भी कितने ही यह सोचते हैं कि किसी मुसलमान या ईसाई के आने से तो मंदिर अपवित्र हो ही जायगा।

निदान, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और दूसरे धर्मों के कट्टर अनुयायी अपने-अपने को एक दूसरे से अलग मानते हैं। अफसोस की बात है कि किसी भी देश में धर्म के नाम पर कोई गिरोह यह मांग करे कि व्यवस्थापक सभाओं आदि के लिए चुनाव साम्प्रदायिक आधार पर हो, हमारे

सदस्यों के लिए स्थान सुरक्षित रहें उनका जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व हो हमारे सम्प्रदाय वालों को अमुक संख्या में सरकारी नौकरियां अवश्य मिलें, चाहे उनमें उसके लिये योग्यता हो या न हो, और चाहे इस से दूसरे धर्म वालों के साथ अन्याय होने होने के अलावा शासन के काम में भी कठिनाई पैदा हो।

कुछ लोग धर्म के ही आधार पर राष्ट्र या कौम बनाना चाहते हैं, जिससे अन्त में देश के भी टुकड़े-टुकड़े होने की बात सामने आती है। पिछले वर्षों में कुछ मुसलिम नेताओं ने भारत में दो राष्ट्र की बात उठा कर पाकिस्तान की मांग शुरू की। इसके साथ सिक्ख जाट, द्राविड़ अछूत और ऐंग्लो इंडयन आदि जातियों के भी कुछ नेताओं ने अपनी अपनी जातियों के लिए अलग-अलग 'स्थान' का नारा लगाया। सौभाग्य से सिक्ख स्थान, जाट स्थान आदि की मांग को कुछ बल नहीं मिला। परन्तु अंगरेजों की कूटनीति का सहारा पाकर मुसलिमलीग के नेता तो पाकिस्तान राज्य बनाने में सफल हो ही गए। भारतवर्ष खंडित हो गया इससे इसे स्वतन्त्र होने का पूरा लाभ न मिला। भारत और पाकिस्तान दोनों नए राज्यों को विविध कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अस्तु, जब कि किसी धर्म के लोग किसी देश भर में फैले हुए हों, और शिक्षा, आजीविका आदि के लिए उनका अलग अलग स्थानों में रहना जरूरी और उनके लिए लाभदायक हो तो उन सब को एक ही जगह में रखना अव्यावहारिक और अहितकर है। और, कोई देश उस समय तक सभ्य कहलाने का हकदार नहीं है, जब तक उसके धर्म की पूरी आजादी न हो; न वह मनुष्य कहला सकता है, जो दूसरे धर्म वालों के साथ प्रेम से मिल-जुलकर अच्छे पड़ोसी की तरह न रह सके। धर्म के आधार पर अलग अलग राष्ट्रों की कल्पना, और उसी आधार पर किसी एक देश के टुकड़े करने की प्रवृत्ति दोनों मनुष्य की भावी उन्नति और मानव समाज की भावी एकता में बहुत बड़ी रुकावटें हैं।

कितने दुख का विषय है कि विविध धर्म आज मनुष्य समाज को अलग अलग टुकड़ों में बांट रहे हैं, और विश्व बंधुत्व जैसे असूलों, सिद्धान्तों या आदर्शों की बात करते हुए भी मानव समाज के बीच स्वयं ऊंची दीवारों के रूप में खड़े हैं, जिन्हें पार करके मनुष्य के लिए एक-दूसरे को गले लगाना, और एक दूसरे के सुख दुख में साथ देना बहुत ही कठिन हो रहा है। इन दीवारों को तोड़ने, या इनके बीच में आने जाने के लिए दरवाजे बनाने के समय-समय पर प्रयत्न हुए हैं, उन में अभी तक पूरी सफलता नहीं मिली, परन्तु विशाल मानव समाज के हित के लिए यह काम करना ही होगा।

एक बात और ध्यान देने की है। बहुत से आदमियों के लिए धर्म इस जीवन की, या नकद व्यवहार की, चीज न होकर केवल उधार या भविष्य का ही कारोबार रह गया है। जिस तरह कुछ लोग तरह-तरह के कष्ट सहकर भविष्य के लिए धन सम्पत्ति जोड़-जोड़ कर रखते हैं, उसी तरह दान-पुण्य पूजा पाठ आदि बातों में हमारी नजर केवल इसी तरफ रहती है कि हमारा परलोक सुधरे मरने पर हमारी सद्गति हो। हम यह सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि हमारे कार्यों से हमारा नागरिक जीवन अच्छा बने, हमारा विकास हो, और दूसरे आदमियों की उन्नति में सहायता मिले। जब हमारी सब कामों की कसौटी केवल परलोक ही का सुधार होती है तो धर्म के नाम पर अनन्त धन और सामान का दुरुपयोग करते रहते हैं। मिसाल के तौर पर एक आदमी सवेरे से शाम तक कोई मेहनत मजदूरी नहीं करता, कोई ऐसा मानसिक या शारीरिक काम नहीं करता, जिससे नगर-निवासियों का हित हो। वह केवल स्नान, ध्यान, पूजा पाठ में ही लगा रहता है। उसे धर्मात्मा क्यों कहा जाय, और उसे दूसरे नागरिकों द्वारा उत्पन्न सामग्री से अपने लिए अन्न वस्त्र की जरूरतें पूरी करने की सुविधाएँ क्यों दी जाएँ! अगर उसके पास उसके माता पिता आदि की कमाई हुई सम्पत्ति है तो भी उसे अपने लिए खर्च करने का अधिकार है। जबकि वह खुद कुछ काम नहीं करता!

वह सम्पत्ति दूसरे आदमियों के सहयोग से ही पैदा हुई है और समाज के हित के लिए खर्च की जानी जाहिए।

कोई आदमी यदि किसी ऐसी जाति या वंश में पैदा हुआ है, जिसे 'धार्मिक' कहे जाने वाले ग्रन्थों में ऊंचा माना गया है तो इसमें उसे क्या श्रेय है, इससे उसे दूसरों की अपेक्षा विशेष सुविधाएँ या रियायतें क्यों मिलनी चाहिएँ ! इसी तरह नीची मानी जाने वाली जाति में पैदा होने वाले आदमी ने क्या अपराध किया है कि वह अपने दूसरे भाईयों द्वारा अस्पृश्य या घृणित समझा जाय !

क्या यह लज्जा और शोक का विषय नहीं है कि जिन स्थानों को धर्म का केन्द्र या तीर्थ माना जाता है, वहां का ही नागरिक जीवन प्रायः सबसे अधिक खराब है, वहां ही सबसे अधिक मुफ्तखोरे, सबसे अधिक स्पृश्यास्पृश्य विचार, सबसे अधिक भिखारी, सबसे अधिक धर्मान्धता, कायरता और जी हुजूरी है।

बड़े बड़े मन्दिरों के लिए जो आलीशान और भव्य मकान हैं, और उनमें जो असंख्य जनता की गाढ़ी कमायी का पैसा है, उसको जनता के लिए क्या उपयोग है ! इन्हीं जगहों में अनेक आदमी बिना घर के और बिना किसी खाने पीने के साधन के रहते हैं। कैसी विषमता है ! यदि मंदिरों की इमारतो और संम्पत्ति का बँटवारा इन दरिद्रो में हो जाय तो क्या भगवान को इस बात की प्रसन्नता न होगी कि उसकी इतनी सन्तान की दशा सुधारने में मन्दिरों का उपयोग हुआ ! और परम पिता भगवान को अपने लिए इस विलास-सामग्री के उपयोग की क्या आवश्यकता है, जब कि उसकी प्यारी सन्तान अन्न वस्त्र के लिए तरस रही हो !

एक उदाहरण लीजिए। ६ फरवरी १९४४ को देहली में शतकोटि महायज्ञ समाप्त हुआ। कहा जाता है कि इसमें पाँच लाख रुपया खर्च हुआ और ७६० मन अन्न (तिल, राई, जौ, चावल) ११ मन चन्दन, १० मन चीनी, ५०० मन घी और ८०० मन लकड़ी काम आई। यह सब सामग्री ऐसे समय में अग्नि की भेंट की गई, जबकि भारतवर्ष के

बंगाल आदि कई प्रान्तों में लाखों मर्द, औरत और बच्चों ने भूख से तड़फड़ा-तड़फड़ा कर प्राण दिए, और कितनों ही ने दरख्तों की छाल, पत्ते या घास खा-खा कर अपनी जान बचाने की कोशिश की, और इनमें से बहुत से पीछे तरह-तरह की बीमारियों के शिकार हुए। अगर ऊपर लिखी हुई सामग्री भूख से व्याकुल दरिद्रनारायण को दी जाती तो कितना उपकार होता और ईश्वर भी प्रसन्न होता। लेकिन भावुक धर्म-प्रेमी लोगों का कहना है कि यज्ञ करने से वह सामग्री न जाने कितनी गुनी अधिक मात्रा में फिर पैदा होगी। ऐसे लोगों से तर्क करना व्यर्थ हो जाता है। ये अंधविचार मनुष्य-समाज की आर्थिक और नागरिक उन्नति में भयानक रूप से बाधक हैं।

बात यह है कि अलग-अलग सम्प्रदायों के अपने धार्मिक विचार या अलग-अलग रीति-रिवाज ही नहीं होते, उनके तरह-तरह के अद्भुत सामाजिक या राजनैतिक सिद्धांत भी होते हैं। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के बहुत से लोगों को लोकतंत्र राज्य और तलाक का अधिकार मान्य नहीं है। बहुत से मुसलमान इस बीसवीं सदी तक खलीफा को धर्म के नाम पर अनियंत्रित सत्ता देना चाहते रहे हैं। बहुत से सनातनी हिन्दू बाल-विवाह और छुआछूत को शास्त्रों से अनुमोदित मानते हैं, बहुत सों ने पिछले वर्षों में इन रिवाजों के, कानून द्वारा, सुधारे जाने का घोर विरोध किया। इस तरह सम्प्रदायों में ऐसी अनेक बातें हैं, जो मानव समाज के हित से मेल नहीं खातीं। ज़ाहिर है कि साम्प्रदायिक रीति रस्मों, रूढ़ियों और अंधविश्वास के आधार पर समाज का संगठन नहीं हो सकता। उसके लिए व्यापक बौद्धिक, आर्थिक, नैतिक, और सांस्कृतिक आधारों ही से काम चलेगा। ज़रूरत है कि धर्म में इस उदार दृष्टिकोण को स्थान दिया जाय, तभी वह धर्म नागरिक जीवन के सुधार में सहायक हो सकता है और भविष्य के लिए सच्चे धर्म का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

सतरहवाँ अध्याय

राष्ट्रवाद

—:o:—

वह समय जल्दी आ रहा है, जब किसी आदमी को देशभक्त कहना उसका बहुत ही अपमान करना समझा जायगा। देशभक्ति का अर्थ अब यह रह गया है कि जिस राज्य में हमारा जन्म हुआ है, उसके खास-खास अधिकार-प्राप्त वर्गों के हित के लिए दूसरे देशों को लूटा जाय। —*टाल्स्टाय*

जहां एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को गुलाम बनाने या बनाए रखने के लिए कोशिश करे, वहां मनुष्य का कर्तव्य होगा कि वह राष्ट्रीयता के उन्माद का - मानवता के प्रतिकूल राष्ट्रीयता के इस कुत्सित स्वरूप का—विरोध करे और उसे क्षत-विक्षत करने में जान की बाजी लगादे। — *रघुवीरशरण दिवाकर*

हम पहले कह चुके हैं कि सामाजिक संगठन में गाँव और नगर के बाद राष्ट्र भी एक ज़रूरी और उपयोगी सीढ़ी है। सार्वभौम या विश्व-राज्य तक पहुंचने के लिए राष्ट्र भी एक मंजिल है। परन्तु इस लक्ष्य को भुला देने पर राष्ट्रीयता मानवता के वास्ते अहितकर और विघातक हो जाती है। यह राष्ट्रवाद का दुरुपयोग है। इसी पर यहाँ विचार करेंगे। पर इससे पहले नागरिक भावना या प्रान्तीयता के दुरुपयोग का भी उल्लेख कर दिया जाय, क्योंकि राष्ट्र ग्राम, नगर और प्रान्तों का ही बनता है।

'गाँव और नगर' शीर्षक अध्याय में हमने बताया है कि हर

नागरिक को अपने गाँव या नगर से खूब प्रेम होना चाहिए और उसकी उन्नति या सुधार की कोशिश करनी चाहिए। लेकिन इसके साथ ही हम यह भी याद रखें कि हम विशाल मानव जाति के अंग हैं और उसके प्रति भी हमारा कर्तव्य है। कहा जाता है कि प्रेम अन्धा होता है। अपने गाँव या नगर का प्रेम हमें अपने दूसरे कर्तव्यों से विमुख न करदे। अगर हमारा कोई नागरिक भाई कोई खराब काम करे या दूसरी जगह के रहने वालों को हानि पहुँचावे तो हमें यह सोच कर उसका पक्ष न लेना चाहिए कि वह हमारे गाँव या नगर का है। इसी तरह अगर कभी नगर भर के आदमी कोई बेजा काम करें तो हमें उन सबका विरोध करने को तैयार रहना चाहिए, चाहे इससे हमें कितना ही कष्ट सहना पड़े। विश्वबन्धुत्व के लिए यह हमारे अपने स्थानीय प्रेम की आवश्यक मर्यादा है।

गांव और नगर से आगे बढ़ कर हम देश या राष्ट्र पर आते हैं पर कुछ लोगों की दृष्टि अपने प्रान्त तक ही परिमित रहती है। वे उससे आगे राष्ट्र-हित का विचार नहीं करते। यही नहीं, कभी-कभी यह जानते हुए भी कि उनकी नीति के अनुसार काम होने से राष्ट्र को हानि पहुँचेगी, वे अपना दृष्टिकोण बदलने को तैयार नहीं होते। मिसाल के तौर पर हिन्दुस्तान को ही लीजिए। यहाँ अनेक शिक्षित और समझदार कहे जाने वाले लोग भी प्रान्तीयता के शिकार बने हुए हैं। खास कर सन् १९३५ ई० के शासन-सुधारों के बाद यह रोग बहुत बढ़ गया है। कहीं हम बंगाली-बिहारी समस्या देखते हैं, कहीं बंगाली-मारवाड़ी, कहीं महाराष्ट्रीय-हिन्दुस्तानी और कहीं तामिल-तैलिगू आदि। जैसा कि श्री केलाजी की 'हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ' पुस्तक में बताया गया है, राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय उन्नति का ध्यान रखते हुए ही हमें अपने प्रान्त की भलाई की कोशिश करनी चाहिए। हर प्रान्त के निवासियों को चाहिए कि वे दूसरे प्रान्तों से यहाँ आकर बसे हुए लोगों के प्रति किसी तरह का द्वेष भाव न रखें; वे यह न भूलें कि ये दूसरे प्रान्तों वाले भी हमारे

ही राष्ट्र के हैं। साथ ही जो व्यक्ति अपने प्रान्त से बाहर किसी दूसरे प्रान्त में रहते हों, उनका भी कर्तव्य है कि वे उस प्रान्त की भाषा सीखें, वहाँ की तरह-तरह की उपयोगी संस्थाओं की तरक्की में हिस्सा लें और वहाँ के निवासियों से मिल-जुल कर रहें। जब तक ऐसा न होगा, और आदमी प्रान्तीयता के शिकार रहेंगे, तब तक राष्ट्र-हित की अवहेलना तो होगी ह, किसी प्रान्त की भी असली और टिकाऊ उन्नति नहीं हो सकती।

इसी तरह राष्ट्रीयता के सवाल पर विचार किया जाना चाहिए। हम पहले कह आए हैं कि सच्ची और उदार राष्ट्रीयता मानवता की विनम्र और वफ़ादार सहायक है। दुर्भाग्य से ऐसी राष्ट्रीयता बहुत कम है, और हमारे सामने राष्ट्रीयता के दुरुपयोग के ही उदाहरण अधिक आते हैं। अपने इस संकुचित और उग्र रूप में राष्ट्रवाद मानव जाति के टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। यह राष्ट्रवाद एक देशीय होता है। इसका उद्देश्य एक खास राष्ट्र को ही लाभ पहुँचाना होता है। इसके चक्कर में आकर आदमी दूसरे देश वालों के साथ पागलों का सा व्यवहार करने लगता है। ऐसे आदमियों के, लाला हरदयाल ने कई लक्षण बताए हैं; उनमें से कुछ ये हैं —

(क) वे केवल अपने ही राष्ट्र के बारे में सोचते और बातें करते हैं। दूसरे राष्ट्रों के भले की उन्हें कुछ चिन्ता नहीं होती। विशाल पृथ्वी के सारे नक्शे पर उन्हें सिर्फ अपना छोटा सा देश दिखाई देता है। ये अपने काव्यों में, अपने साहित्य में, और अपने इतिहास में दूसरे देशों का ज़िक्र अपमान, ईर्षा और घृणा के साथ करते हैं, और अपने राष्ट्र की हर बात को बढ़िया रंगों में चित्रित करते हैं। अंगरेज कवि टैनिसन फ्रांसीसियों के स्वाधीनता-प्रेम को 'स्कूल के लड़कों का जोश' कहता है। शेक्सपीयर ने इंगलैंड की तारीफ में अपने देश को 'तेज़ोमयी भूमि मंगल देवता का निवास-स्थान' आदि कहा है। जर्मनी ने युद्धगीत में गाया है कि "परमात्मा इंगलैंड को दंड दे।" भारत का

कवि कहता है—

"निगाहों में मेरी भारत तू ही कुल जहाँ मेरा।"

(ख) ऐसे लोग अपने ही देश का इतिहास पढ़ते हैं, और उसकी छोटी-छोटी बातों को भी खूब महत्त्व देते हैं बिलकुल मामूली अप्रसिद्ध तिथियों को याद रखने की चेष्टा करते हैं, लेकिन उन्हें संसार के इतिहास से कुछ मतलब नहीं होता, वे दूसरे देशों की बड़ी-बड़ी घटनाओं की ओर भी ध्यान नहीं देते।

(ग) इस तरह के राष्ट्रवादी यह विश्वास करते हैं या विश्वास करने का बहाना करते हैं कि हमारा देश और हमारी जाति संसार भर में हर दृष्टि से सबसे बढ़-चढ़ कर है। उसके से फल, उसका सा जलवायु, दृश्य आदि और कहीं भी नहीं मिलते। सेसिल रोड्स ने अपनी वसीअत में यह दावा किया था कि इतिहास में जितनी जातियाँ हुई हैं उनमें से अंगरेज़ जाति सब से सुन्दर है। जर्मन कवि कारनर ने गाया था—कि 'जर्मन राष्ट्र ! तू सबसे बढ़कर और सबसे शानदार है।' डेनियल वेब्स्टर ने कहा था 'ईश्वर का धन्यवाद है, कि मैं अमरीकी हूँ।' शेक्सपीयर ने इंगलैंड को 'दूसरा ईडन,* आधा स्वर्ग' कहा है। सिलवियो पेटिको ने अपने एक गीत में कहा है—'हे इटली ! क्या तू सब देशों में सबसे अधिक सुशील नहीं है ! क्या तू हर सुन्दर कला की जननी नहीं है !' भारतीय कवियों ने गाया है—

'महिमंडल में सुन्दरतम, यह भारतवर्ष हमारा है।'

'सारे जहां से अच्छा, हिन्दोस्तां हमारा।'

सचाई तो यह है कि संसार के हर देश में कुछ गुण होते हैं, तो दोषों का भी कहीं अभाव नहीं होता, लेकिन ये तंगख्याल राष्ट्रवादी अपने नशे में इस बात को भूले रहते हैं। बुद्धिमान आदमी का काम

---

* बाइबल के अनुसार ईडन में आदम और हव्वा नाम के सब से पहले पुरुष और स्त्री पैदा हुए थे, जिनसे, पीछे सब मानव सृष्टि पैदा हुई।

है कि अपने देश को इसी तरह प्यार करे, जैसे कोई सच्चा सपूत अपनी मा को प्यार करता है। उसे यह बहस करने की जरूरत नहीं कि मेरी मा दुनिया भर की स्त्रियों से बढ़ कर है।

(घ) इस तरह के उग्र राष्ट्रवादी इस बात का दावा करते हैं कि हमारे राष्ट्र का दुनिया के इतिहास में एक खास और निराला उद्देश्य है, और हम दूसरे राष्ट्रों से उच्च कोटि के हैं। यहूदी अपने आपको "परमात्मा की खास चुनी हुई संतान" कहते हैं। उनको निगाह में सब गैर-यहूदी जातियां असभ्य हैं। यूनानी दूसरे देश वालों को 'बारबेरियन' यानी बर्बर कह कर उनसे घृणा करते थे। हिन्दुओं ने अपने को आर्य (श्रेष्ठ जाति का कहते हुए अनार्य शब्द का अर्थ ही असभ्य कर डाला; दूसरी कौमों के लिए 'मलेच्छ', 'राक्षस' 'यवन' आदि शब्दों का व्यवहार करके उनकी भी यह गति की। फ्रांस के मशहूर उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो का कहना है, 'ए फ्रांस! संसार के लिए इस बात की जरूरत है कि तू जिन्दा रहे। मैं फिर कहता हूँ, मानव जाति के लिए फ्रांस जरूरी है।' गौरांग जातियां संसार भर की रंगदार जातियों को असभ्य समझती हैं, और उन्हें सभ्य करने का बीड़ा उठाए हुए हैं, और इसी 'परोपकार' के भाव से वे उन पर अधिकार जमाये हुए हैं, क्योंकि (उनकी निगाह में) ये असभ्य जातियां खुद अपनी हकूमत करने के काबिल नहीं है, यदि उन्हें गोरों का संरक्षण न मिले तो वे तो आपस में लड़-लड़ कर मर जांय। जर्मनों ने अपनी पृथक संस्कृति का ऐसा गर्व किया कि वे अपनी जाति के सभी आदमियों को 'मनुष्य से बढ़ कर' ('सूपरमेन') मानने लगे। अहंकार या दंम्भ की सब जगह हद हो गयी। सच्ची बात यह है कि किसी राष्ट्र का स्थायी रूप से दूसरों को अपेक्षा कोई खास या उच्चतर स्थान नहीं है। सब राष्ट्र मानव जाति रूपी एक विशाल परिवार के हिस्से हैं, सभी को अपना अपना काम करना है, ऊंच नीच की सारी भावना मूर्खता पूर्ण है।

(च) संकीर्ण राष्ट्रवादी अपने राष्ट्र के लिए पूर्ण और अनियंत्रित

प्रभुता चाहता है। यही उनका आराध्य और इष्ट है। औलीवर वेंडल होम्स ने हर्षोन्माद में गाया था—'एक झंडा, एक भूमि, एक हृदय, एक मत और सदैव एक राष्ट्र।' इसके ख़िलाफ़ सच्चा विश्व-प्रेमी चाहता है कि आखरी शक्ति विश्व-राज्य में रहे, वह अपने देश को शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से उस विशाल विश्व-राज्य का अंग समझता है। वह जानता है कि अन्तिम प्रभुत्व वाला राज्य एक और केवल एक ही होना चाहिए, क्योंकि पृथ्वी एक है, और मानव जाति एक है। इसके विपरीत, संकीर्ण राष्ट्रवादी अपने छोटे से राष्ट्र-राज्य और उसके प्रतीकों—झंडे और गीत आदि—के पीछे पागल रहता है। वह अपनी मातृभूमि या अपने राष्ट्र-राज्य के लिए अपनी जान न्योछावर करने को हरदम तैयार रहता है, परन्तु उसकी खातिर वह दूसरों के प्राण लेने में तनिक भी संकोच नहीं करता।

(छ) ये लोग जनता को इस बात की शिक्षा देते हैं कि मानव समाज के संगठन का सर्वोच्च आदर्श राष्ट्रीयता है। अपने राष्ट्र या राज्य की सीमा से बाहर की जनता के हित के लिए कोई काम करना इन्हें असम्भव और काल्पनिक मालूम होता है। ये अन्तर्राष्ट्रीयता के सच्चे स्वरूपों को अनुचित समझते हैं और उनका विरोध करते हैं। ये धार्मिक और वैज्ञानिक संस्थाओं को भी राष्ट्रीय ढांचे में ढालने की कोशिश करते हैं। ये खेलों और कलाओं तक को राष्ट्रीय ढंग से संगठित करते हैं। आह! ये लोग सचाई सौन्दर्य और मनोरंजन तक का 'राष्ट्रीय' विभाजन करते हैं। इस तरह का व्यवहार प्रकृति के विरुद्ध है, और मानव समाज के सामूहिक हित के भी विरुद्ध है।

(ज) संकीर्ण राष्ट्रवादी अपने राष्ट्र-राज्य की आराधना करता है, वह हर तरह उसकी शान बढ़ाने की फ़िकर में रहता है। इसका नतीजा यह होता है कि वह अपने राष्ट्र के धर्म, काला, विज्ञान और साहित्य की निस्बत उसकी सैनिक विजय राजनैतिक गौरव या आर्थिक उन्नति को अधिक महत्व देता है। पाशविक बल और धन बल ये दो बल ही

राष्ट्र-राज्य के आराध्य, होते हैं। ऐसे लोग सेक्सपीयर, स्पेन्सर और गेटे की अपेक्षा नेपोलियन, नेलसन और बिस्मार्क की अधिक शानदार यादगारें खड़ी करते हैं। इन आज कल के देशभक्तों से प्राचीन मंगोल और असीरियन विजेता अधिक ईमानदार होते थे; वे अपनी विजयों की स्मृति में सीधे-सीधे नर मुंडों की मीनारें खड़ी करते थे परन्तु ये उसी तरह के कामों के लिए पत्थर और धातुओं के मीनारे बनाते हैं। किन्तु जिन्हें ज्ञान-चक्षु प्राप्त हैं, जिनमें कुछ विचार-शक्ति बाकी है, उन्हें सहज ही इन पत्थरों और धातुओं में खोपड़ियाँ और हड्डियाँ दिखाई दे सकती है। ऐसा राष्ट्रवाद दुनिया के बच्चों में पाशविक भावना भर देता है, क्योंकि यह राष्ट्रवाद पाठ्य पुस्तकों द्वारा बच्चों के हृदय पर जूलियस सीजर, सिकन्दर, नेपोलियन, चंगेज खां वेलजली और किचनर का चित्र खींचता रहता है, जबकि अनेक संतों, महात्माओं, जिज्ञासुओं और सच्चे लोकसेवकों को या तो भुला दिया जाता है, या उनका उल्लेख मात्र किया जाता है। इस राष्ट्रवाद के वातावरण में कविता एक बांदी या दासी का काम करती है। अच्छे अच्छे कवि अपनी योग्यता और प्रतिभा नेताओं, राजाओं, सरदारों या शासकों की सेवा में अर्पित करते रहते हैं, और योद्धाओं और विजेताओं के गीत गाकर धन और सम्मान पाते हैं। भारतवर्ष के रामायण और महाभारत, ईरान का शाहनामा, और यूनान के ईलियड और ओडेसी—किसी भी प्राचीन महाकाव्य का विचार करके देखें, उनमें दूसरी कितनी ही बातों का समावेश क्यों न हो, उनके प्रधान नायक नायिकाएँ अधिकतर युद्ध-वीर ही रहे हैं। और, आजकल के महाकाव्यों में से भी अधिकांश का मुख्य आधार युद्ध और हत्याकांड की कथाएँ ही हैं। इस उग्र राष्ट्रवाद के प्रचार के कारण आजकल बहुत से आदमियों के लिए युद्ध ही जीवन का प्रधान लक्ष्य हो गया है; भारत का कवि* कहता है—

पिछले वर्षों में भारतवर्ष ने अपने पराधीनता-पाश को तोड़ फेंकने

* श्री० राय दुर्गाप्रसाद जी रस्तोगी, 'शुभचिन्तक' में।

समर के गायेंगे हम गान।
समर ही जीवन का उच्छ्वास, समर ही यौवन उका ल्कास॥
समर में पौरुष ने उद्दाम, सदा ही पाया सकल विकास॥
समर ही करता हमें महान, समर के गायेंगे हम गान॥

के लिए राष्ट्रवाद की शरण ली। यह आवश्यक और क्षम्य भी था। फिर भी उसके झंडा-गान की नीचे लिखी पंक्ति विचारशील हृदयों को ठेस लगाने वाली थी।

'विश्व विजय करके दिखलावें,
तब होवे प्रण पूर्ण हमारा।'

उग्र राष्ट्रवाद राज्यों में युद्ध कराता है। यह अपने प्रभुत्व के प्रतीक जल सेना, स्थल सेना और वायु सेना रखता है। राज्यों में शिक्षा और चिकित्सा के लिए स्कूल और अस्पताल चाहे न हों, हर एक राज्य में सेना अनिवार्य मानी जाती है। हर राष्ट्र में दूसरे राष्ट्रों के भले की पर-वाह न करना, और उनसे घृणा करना सिखाया जाता है। इसलिए एक राष्ट्र के नागरिक खूनी लड़ाइयों में भी दूसरे राष्ट्रवालों से बाज़ी ले जाना अपना कर्तव्य समझते हैं। नीति और सदाचार केवल कुछ आदमियों का कभी-कभी लिखने या पढ़ने का विषय रह जाता है, व्यवहार में तो युद्ध-शास्त्र को ही प्रधानता मिलती है। और, युद्ध में जब नर-हत्या तक की प्रशंसा की जाती है तो चोरी झूठ, छलकपट तो आदि मामूली बात ठहरी। हर राष्ट्र संसार की सम्पत्ति को सबके साथ मिलकर प्रेम-पूर्वक उपभोग करने के बजाय उसे स्वयं अधिक-से-अधिक हड़पना चाहता है। यह घृणित लालच ही सब झगड़ा कराता है। इसकी चरम सीमा आजकल के पूँजीवाद में ज़ाहिर होती है। इसके बारे आगे लिखा जायगा। सारांश यह है कि उग्र या संकीर्ण राष्ट्रवाद विशाल मानव संगठन के मार्ग में एक भयंकर बाधा है। इसे हटाया जाना चाहिए; मनुष्यों को अपना काम और नीति विश्व-बंधुत्व और मानवता के दृष्टि-कोण से निर्धारित करनी चाहिए।

अठारहवाँ अध्याय

पूँजीवाद और साम्राज्यवाद

कोई भी देश जब किसी दूसरे देश को अपनी गुलामी मे बाँधे रखता है, तब यह खुद भी आज़ाद नहीं हो सकता।

—लेनिन

हमें—संयुक्तराज्य अमरीका वालों को—यह समझना चाहिए कि ऐसा संसार, जिसका आधार साम्राज्य के पुराने सिद्धान्त पर या साम्राज्यशाही पर हो, अब असम्भव है, अब यह चल नहीं सकता।

—श्रीमति पर्ल बक

पिछले अध्याय में यह बताया गया है कि राष्ट्रवाद किस तरह सामाजिक विकास की आगे की उन्नति में बाधक होता है। अब हम साम्राज्यवाद के बारे में विचार करते हैं। यहाँ इस बात को दोहरा देना ज़रूरी है कि प्राचीन काल के अनेक साम्राज्य उसी तरह राष्ट्र-राज्य के आगे की मञ्जिल रहे हैं, जैसे नगर-राज्य से आगे राष्ट्र-राज्य। जब हम साम्राज्यवाद का सामाजिक विकास की बाधा के रूप में, जिक्र करते हैं तो हमारा मतलब ऐसे साम्राज्यों से है, जिनमें एक राज्य दूसरे देशों को अपने अधीन करके उनकी धन सम्पत्ति को लूटता है, वहाँ की जनता का शोषण और दमन करता है।

साम्राज्य शब्द से आम तौर पर सैनिक चढ़ाई की तरफ ध्यान जाता है, लेकिन व्यापारियों और पुरोहितों (पादरियों) ने भी साम्राज्य खड़े करने में पूरा-पूरा हिस्सा लिया है। एक देश का व्यापारी दूर

देशों में जाकर वहाँ के शासकों या सरदारों को तरह तरह की चीजें दिखाकर उनका मन मोह लेता है, और वहाँ छोटी-मोटी व्यापारिक सुविधाएँ हासिल करके अपने देश वालों के लिए मैदान तैयार करता है। इसी तरह पादरी या उपदेशक दूसरे देश के लोगों को धर्म और परलोक का सन्देश सुनाकर अपने साथ अपने धर्म वालों के लिए सहानुभूति का वातावरण बना लेता है। इसके बाद साम्राज्य चाहने-वाले राष्ट्र को उस देश की भौगोलिक स्थिति, वहाँ की जनता की कमजोरी, वहाँ के सैनिक रहस्य आदि का पता लगाने में कठिनाई नहीं रहती। वह ताक में लगा रहता है, और ठीक मौका पाते ही अपने सिपाहियों और अपने शस्त्रास्त्रों का उपयोग करके उस देश पर अपना अधिकार जमा लेता है।

आजकल साम्राज्यों का स्वरूप ज्यादहतर आर्थिक हो गया है, उनका आधार दूसरे देश वालों की मेहनत और उनके साधनों से लाभ उठाना और उन्हें चूसना हो गया है। इस साम्राज्यवाद को आर्थिक साम्राज्यवाद कहा जाता है। यह पूँजीवाद का ही बदला हुआ रूप है। थोड़े से शब्दों में पूँजीवाद का अर्थ है—'अपने लाभ के लिए माल तैयार करने की वह विकसित उन्नत व्यवस्था, जिसमें माल तैयार करने के साधनों पर अधिकार किसी एक या इनेगिने विशेष व्यक्तियों का हो, राज्य का या आम लोगों का नहीं।' यह व्यवस्था खासकर यूरप की औद्योगिक क्रांति के बाद प्रचलित हुई है, जिसका समय मोटे तौर से १७५० ई० से १८५० ई० तक कहा जा सकता है। इससे पहले यूरप में किसानों की जमीन उनके अपने अधिकार में थी। उसमें वे आज़ादी के साथ खेती करते थे और उसकी उपज को अपनी इच्छा-नुसार खर्च कर सकते थे। इसी तरह उस समय कारीगरों के पास अपने औज़ार होते थे। जो चीज़ें वे बनाते, उनके मालिक वे खुद ही होते थे। उन चीज़ों की बिक्री से जो आमदनी होती थी, उस पर उनका ही अधिकार होता था। धीरे-धीरे इस व्यवस्था में फ़रक़ आया। ज़मीन

पर ऐसे लोगों ने अधिकार कर लिया जो खुद खेती न कर, दूसरों से खेती कराने लगे। ये लोग 'ज़मींदार' कहे जाने लगे। इन्हें बिना मेहनत किए काफ़ी आमदनी होने लगी, और खेती करनेवालों को बहुत मेहनत करने पर भी अपना गुज़ारा करना मुश्किल हो गया।

उद्योग धंधों में भी परिवर्तन हुआ। पहले सब कारीगर अपना-अपना सामान तैयार करने और बेचने में स्वतन्त्र थे। अठारहवीं सदी के मध्य से यह बात न रही। भाफ की शक्ति और सायन्स की दूसरी ईजादों से बड़े-बड़े कल-कारख़ाने बनने लगे, जिनके मालिक बड़े-बड़े धनवान और साहूकार ही हो सकते थे। इन कल-कारख़ानों में माल बड़े पैमाने पर और सस्ता तैयार होने लगा। बाज़ारों में ज्यादहतर उसकी ही खपत होने लगी। मामूली कारीगरों का हाथ से तैयार किया हुआ माल महँगा होने के कारण, उसके सामने न टिक सका। उन्हें अपना निर्वाह करना कठिन हो गया। बहुतों ने अपना स्वतंत्र पेशा छोड़ कर कल-कारखानों में नौकरी या मजदूरी करना शुरू कर दिया। इस तरह पूँजीवादी व्यवस्था में समाज मोटे तौर पर दो वर्गों में बँट जाता है। एक वर्ग में बहुत थोड़े आदमी होते हैं, इनके ही पास सारी भूमि और पूँजी—कल कारखाने—आदि होते हैं, ये इतने धनवान हो जाते हैं कि बहुत से मज़दूरों को अपने पास रख कर उनसे काम ले सकते हैं। दूसरा वर्ग, जिसमें अधिकतर जनता होती है, ऐसे लोगों का होता है, जिन बेचारों के पास अपनी मेहनत करने की शक्ति के आलावा, और कोई सम्पत्ति नहीं होती। पहला वर्ग पूँजीपति या साहूकार वर्ग कहलाता है, और दूसरा श्रमजीवी या मज़दूर।

अब हम इस बात पर विचार करते हैं कि पूँजीवाद का दुनिया पर क्या असर पड़ता है। पहले कहा जा चुका है कि पूँजीपति जो माल पैदा करते हैं, उसमें उनका मुख्य उद्देश्य जनता की ज़रूरतों को पूरा करना नहीं होता बल्कि जैसे बने अधिक-से-अधिक नफा कमाना होता है। इसके लिए उनमें माल ज्यादह-से-ज्यादह परिमाण में, और

सस्ते से सस्ता तैयार कराने की होड़ होती है। इसीलिए वे मजदूरों को काम की दृष्टि से कम मजदूरी देते हैं। अब एक तरफ तो माल बहुत तैयार होता है, और दूसरी तरफ मज़दूरों की (और, दुनिया में ज्यादह तादाद मज़दूरों की ही होती है) माली हालत ऐसी नहीं होती कि वे काफी माल खरीद सकें। इस तरह अपने देश में माल की खपत कम होती है, और गोदामों में माल बढ़ता जाता है। धीरे-धीरे माल खराब होने की नौबत आने लगती है। इसलिए उसे सस्ता बेचने और आगे माल की पैदावार घटाने का विचार करना पड़ता। कई कारखाने तो बन्द ही हो जाते हैं। कारोबार और लेन देन कम हो जाने से बैङ्क फेल होने लगते हैं। इन बातों से पूँजीवादी व्यवस्था की विफलता साबित होती है। जब ऐसी बातें इकट्ठी सामने आती है, तो कहा जाता है कि आर्थिक संकट आ गया।

यूरोप में पहला बड़ा आर्थिक सङ्कट नेपोलियन के युद्धों के बाद सन् १८२५ में आया था। उसके बाद सन् १८३६, १८४७, १८५७, १८६६, १८७३, १८७७, १८६०, १६००, १६०७, १६२१, १६२६ और १६३६ में एक-एक करके बारह आर्थिक सङ्कट आए। सन् १६३६ में दूसरा महायुद्ध शुरू हो गया, जो १६४५ तक रहा। इसके फल स्वरूप आने वाले आर्थिक सङ्कट से बचने के लिए पुनर्निर्माण की योजनाएँ बन रही हैं।

हमने पूँजीवादी पद्धति में बहुत अधिक तैयार माल गोदामों में जमा हो जाने और उसके खराब होने की बात कही है। माल की निकासी करने, और आगे नया माल तैयार करने और उसे बेचकर नफा कमाने का सिलसिला बनाए रखने के लिए यह उपाय काम में लाया जाता है कि ऐसे दूसरे देशों के बाजारों पर अपना अधिकार जमाया जाय, जो उनका माल खरीदते रहें और उन्हें कच्चा सामान देते रहें। पूँजीपतियों का अपने पैसे के बल पर देश के शासन में बड़ा प्रभाव होता है। व्यवस्थापक सभाओं के बहुत से मेम्बर उन्हीं की

मदद से चुनाव में जीतते हैं। पैसे के बल पर कई मंत्रियों से उनका गहरा सम्बन्ध होता है। यहाँ तक कि अपने यहाँ की सरकार द्वारा दूसरे देशों से युद्ध की घोषणा करा देना उनके बायें हाथ का खेल होता है। जब कोई राज्य दूसरे पर धावा करता है तो अकसर उसमें पूँजीपतियों का छिपा हाथ रहता है। इन पूँजीपतियों में से कुछ, हथियारों आदि के कारखानों के मालिक होते हैं। निदान, पूँजीवादी राष्ट्र हमेशा इस बात की कोशिश करते रहते हैं कि उनके तैयार माल की खपत के लिए कुछ बाज़ार सुरक्षित रहें, इन बाज़ारों में किसी दूसरे का दखल न हो। इसीलिए ये उन देशों को पूरी तरह अपने अधीन रखना चाहते हैं।

कुछ राष्ट्र अपनी पूंजी का और कोई बेहतर उपयोग न पाकर उसे दूसरे देशों को उधार दे देते हैं, और इसके बदले में वहां व्यापार करने, कारखाने खोलने और अपना तैयार माल खपाने की खास सुविधाएँ हासिल कर लेते हैं। ये राष्ट्र जो कर्ज देते हैं; वह हमेशा उत्पादक कार्यों के लिए ही नहीं होता। यदि कोई राजा अपने भोग विलास और ऐश आराम के लिए कर्ज ले तो इसमें साम्राज्वादी राष्ट्र को कोई आपत्ति नहीं होती, बल्कि इसमें उसे लाभ दिखाई देता है। उत्पादक कामों के लिए कर्ज लेने से तो वह देश अपने यहाँ तैयार माल बनाने और स्वावलम्बी होने की योजना करता, अब वह तैयार माल के लिए अपने ऋणदाता पर आश्रित रहता है।

आर्थिक साम्राज्यवाद का उद्देश्य दूसरे देश की भूमि पर कब्जा करने के बजाय, वहाँ की जनता के व्यापारिक और औद्योगिक जीवन को अपने हाथों में ले लेना होता है। इस का खास जोर, सन् १८७५ से १६०० तक रहा। उस समय यूरोप के राष्ट्रों और संयुक्तराज्य अमरीका ने संसार भर पर अपना अधिकार जमाने की कोशिश की। हर राष्ट्र चाहता था कि आगे बढ़ कर जल्दी-से जल्दी बाजी मार लूँ। हालैण्ड और बेलजियम के छोटे-छोटे राष्ट्रों ने अपने से साठ गुने और

अस्सी गुने भूखंड को अपने अधीन कर डाला। इस साम्राज्य-विस्तार में इंगलैंड सब से बढ़ कर रहा। सन् १६३६ में दूसरा महायुद्ध आरम्भ होने से पहले इंगलैण्ड, बेल्स, स्काटलैण्ड और उत्तरी आयलैंड का क्षेत्रफल मिला कर एक लाख वर्ग मील और आबादी पांच करोड़ थी। उसी समय ब्रिटिश साम्राज्य का कुल क्षेत्रफल एक सौ चौंतीस लाख वर्ग मील और जनसंख्या पचास करोड़ थी। यह बात ध्यान देने की है कि केनेडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड और न्यूफाउंडलैंड के आजाद उपनिवेशों की गोरी जनता केवल दो करोड़ है जो कि संसार के सौवें भाग से कम है; और यह इतनी सी जनता पृथ्वी का सातवाँ भाग घेरे हुए है, गैर-यूरोपियन या रंगदार आदमियों का इन्होंने अपने अपने यहाँ आना रोक रखा है। इसलिए घनी आबादी वाली कौमों के वास्ते जमीन की कमी हो रही है। इसलिए दूसरे राष्ट्रों या साम्राज्यों की ब्रिटिश साम्राज्य से ईर्षा बढ़ी। पाठक जानते हैं कि यूरप में इटली और जर्मनी को राष्ट्रों का रूप मिलने में देर हुई। इस अर्से में यूरप के दूसरे राष्ट्रों ने संसार भर में अच्छी अच्छी जमीनों पर कब्जा जमा लिया। इटली और जर्मनी अपने उपनिवेश बनाने में पिछड़ गये। संगठित होने पर इनमें भी लालसा पैदा हुई। फिर जापान भी मैदान में उतर पड़ा। यह दुनिया की भूमि और बाजार हथियाने की, लालसा ही महायुद्ध के रूप में प्रकट हुई जैसा हम पहले कह चुके हैं, जब तक कुछ कौमों में यह साम्राज्यवाद की भावना बनी रहेगी तब तक न तो पृथ्वी के सब आदमियों के भोजन वस्त्र और रहने की जगह का ही ठीक प्रबन्ध हो सकेगा, और न महायुद्धों का ही अन्त होगा।

कुछ राज्यों के मिलकर संघ-राज्य बनाने को हमने सामाजिक प्रगति के रूप में माना है, परन्तु किसी मामूली राज्य का साम्राज्य रूप धारण करना स्वाभाविक प्रगति नहीं है। साम्राज्य के विविध भागों में से कुछ स्वाधीन और कुछ पराधीन होते हैं। उनका आपस में ठीक मेल नहीं बैठता। फिर स्वाधीन भागों की भी एक दूसरे से ऐसी आर्थिक

या सामाजिक घनिष्ठता नहीं होती, जैसे उनकी अपने पास के दूसरे राज्यों से हो सकती है। मिसाल के तौर पर कहाँ इंगलैण्ड, और कहाँ उसके उपनिवेश केनेडा; आस्ट्रेलिया आदि। केनेडा का सम्बन्ध कुदरती तौर पर जितना संयुक्तराज्य अमरीका से, और आष्ट्रेलिया का जितना भारत से हो सकता है, उतना इन देशों का इंगलैण्ड से नहीं हो सकता। दूसरे महायुद्ध में यह दिखायी दे गया कि आस्ट्रेलिया जापान से अपनी रक्षा करने में इंगलैण्ड पर निर्भर नहीं रह सकता। सम्भव है, अब नयी व्यवस्था में इस दृष्टि कोण से विचार किया जाय।

कुछ साम्राज्वादी राजनीतिज्ञ कहा करते हैं कि हमारी जनसंख्या बढ़ रही है, और बढ़ने वाली आबादी के लिए हमें उपनिवेशों की जरूरत है। पर इस कथन में कोई सार नहीं है। सन् १९१३ में जर्मनी के अधिकार में दस लाख वर्ग मील भूमि थी फिर भी अधिकाँश जर्मन अमरीका और केनेडा में ही जाकर बसते थे। ग्रेट ब्रिटेन के अधिकार में बहुत से उपनिवेश हैं, फिर भी वहाँ के आदमी बहुत बड़ी तादाद में अमरीका में ही जाकर रहते हैं। फिर अगर किसी राष्ट्र के आदमी योग्य, मेहनती और ईमानदार हैं, तो वे चाहे जहाँ रह सकते हैं, उन्हें राजनैतिक सत्ता के सहारे की जरूरत नहीं होती। उपनिवेशों पर कब्जा करने का असली मतलब यही है कि उनका धन चूसा जाय और पूंजीपतियों का लाभ हो। इसीलिए साम्राज्यवादी अपने अधीन देशों को आजाद नहीं होने देते, और बहुत मजबूर किये जाने पर ही उनके किसी अधिकार को स्वीकार करते हैं।

साम्राज्यवादियों का कहना है कि उन देशों को तो आजाद करना ठीक है, जो इसके योग्य हो। पर जो अयोग्य हैं, उन्हें आजाद कैसे किया जा सकता है, उन्हें पहले योग्य बनाने की जरूरत है। साम्राज्यवादी भाषा में 'योग्य बनाने' का अर्थ क्या होता है, यह जानने के लिए पाठकों को दो मिसालें याद रखनी चाहिएँ—पहली यह कि अंगरेज शासक बार-बार हिन्दुस्तान की स्वराज्य सम्बन्धी अयोग्यता की बात

कहते हुए नहीं लजाये, यद्यपि उनको यहाँ शासन करते इतना समय बीत गया था ! दूसरे महायुद्ध के समय भी इंगलैंड के साम्राज्यवादी प्रधान मंत्री चर्चिल को भारत के स्वतन्त्र होने की बात सहन नहीं थी। पर सन् १६४२ में भारत में जनक्रान्ति हुई और पीछे अन्तराष्ट्रीय परिस्थितियाँ बदली तो इंगलैंड ने सन् १६४७ में भारत को स्वतन्त्र कर ही दिया। उस समय किसी ने इस देश की योग्यता-अयोग्यता की बात नहीं उठाई। शायद उस समय सब की निगाह में भारत एकदम स्वतंत्रता प्राप्त करने के योग्य हो गया। इसी के तरह अमरीका फिलीपाइन द्वीपों को ४५ वर्ष में भी स्वराज्य के योग्य न बना सका; आखिर, जापान ने उनपर अधिकार जमा कर अमरीका को उन्हें योग्य बनाने की चिन्ता से ही मुक्त कर डाला। पीछे जापान के हारने पर अमरीका ने भी उन्हें स्वतन्त्र होने योग्य समझा।

फिर, योग्यता अयोग्यता को जाँचने की कसौटी क्या है ! क्या एशिया और अफ्रीका का निवासी या काले रंग का होना अयोग्यता मानी जाय ? इसका तो कोई उपाय ही नहीं। क्या आपसी मतभेद या लड़ाई-झगड़े के कारण किसी देश को अयोग्य ठहराया जाय ? फिर तो सारा यूरोप आजादी के अयोग्य साबित हो चुका है। ये बातें कहाँ नहीं होतीं ! पराधीन देशों में शासक खुद अपने स्वार्थ के लिए इन झगड़ों को प्रोत्साहन देते रहते हैं। क्या शिक्षा का काफी प्रचार न होना अयोग्या का लक्षण माना जाय ? पर अंगरेजों के शासन में भारतवर्ष में शिक्षा का प्रचार जिस मंद गति से हुआ उसके हिसाब से तो हर बालिग स्त्री पुरुष को ऊंचे दर्जे की नहीं, मामूली शिक्षा प्राप्त करने के लिए भी सदियों का समय चाहिए। क्या आत्म-रक्षा को स्वराज्य की योग्यता का माप समझा जाय ? शक्तिशाली साम्राज्यों के सामने कोई पराधीन देश अपनी रक्षा कैसे कर सकता है। और, अब तो बड़े-बड़े साम्राज्यों को भी महायुद्ध के समय दूसरे देशों की सहायता के लिए हाथ पसारना पड़ता है। निदान, योग्यता, अयोग्यता की बात

में कोई दम नहीं है ।

साम्राज्यवादी शासक अपने साम्राज्य का विनाश करना नहीं चाहते । उनमें जो खरे स्वभाव के हैं, वे अपनी इच्छा को छिपा कर भी नहीं रखते । श्री० चर्चिल ने साफ कहा था 'मैं ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त करने के लिए सम्राट का प्रधान मंत्री नहीं बना हूँ ।' साम्राज्यवादी अपने अहंकार और नशे में मस्त रहते हैं । पर वे चाहें या न चाहें साम्राज्यवाद का अन्त निश्चित है ? ब्रिटिश साम्राज्य पहले 'ब्रिटिश राष्ट्र मंडल' बना और अब तो 'ब्रिटिश' पद से भी वंचित केवल राष्ट्र-मंडल ही है ।

साम्राज्यवादी, संसार भर में सभ्यता, एकता और शान्ति के प्रचार का दम भरा करते हैं । लार्ड हेलीफैक्स ने, जो लार्ड इरविन के नाम से हिन्दुस्तान में गवर्नरजनरल रह चुके हैं, जनवरी १६४४ में वाशिङ्गटन में भाषण करते हुए कहा था कि 'मैं खयाल करता हूँ कि हम इस बात का खासा दावा कर सकते हैं कि हमने भारतवर्ष को युद्ध के बजाय शान्ति, फूट की जगह एकता, अराजकता की जगह सुव्यवस्था, और स्वेच्छाचारी शासकों की गैरजिम्मेवर हुकूमत की जगह कानून प्रदान किया है ।' यह दावा कितना उपहासजनक और निस्सार है, इस बात को हर विचारशील भारतवासी अच्छी तरह जनता है । भारत-मंत्री श्री० अमेरी ने तो यहाँ तक कह डाला था कि 'ब्रिटिश साम्राज्य दूसरी मानवी संस्थाओं की तरस अपूर्ण वस्तु भले ही हो, पर मुझे विश्वास है कि मानव स्वतन्त्रता और न्याय कायम करने के लिए जो जो साधन संसार ने अब तक देखे हैं, उनमें यह सबसे बड़ा है ।' अमेरी साहब और उनके साम्राज्यवादी भाईबन्द चाहे जो विश्वास करें, साम्राज्य के शोषण और पीड़न का सच्चा अनुभव भुक्तभोगी अधीन देशों को ही हो सकता है । जूता पहनने वाला ही यह जानता है कि वह कहाँ कहाँ काटता है । हम केवल मानवता-प्रेम के नाते इस विशाल साम्राज्य के वकील अमेरी साहब से पूछते हैं—आपके साम्राज्य ने अमरीका, अफ्रीका

और आस्ट्रेलिया के तथा महासागरों में फैले हुए विविध टापुओं के मूल निवासियों से कैसा व्यवहार किया ? भारतवर्ष आदि में अपना अधिकार बनाये रखने के लिए कैसे कैसे उपाय काम में लाये गये ? जिन एशियाई देशवासियों ने स्वतन्त्रता का झंडा उठाया, उनके लिए कैसे कैसे कायदे कानूनों की रचना की गयी ? इत्यादि।

क्या साम्राज्यवाद शान्ति कायम रखने में सहायक होता है। हर साम्राज्य दूसरे साम्राज्यों को आशङ्का की नज़र से देखता है। इसका नतीजा यह है कि साम्राज्यों में समय समय पर युद्ध होते रहते हैं। फिर यदि दो तीन साम्राज्यों का मेल हो जाय तो क्या कहना ?

हम यह मानते हैं कि साम्राज्यवाद से कुछ लाभ भी हुआ है। अपने स्वार्थ-साधन के लिए ही सही, साम्राज्यों ने दूर दूर तक सभ्यता की बाहरी जरूरतों को पूरा किया। पराधीन देशों के लिए रेल, तार, डाक, टेलीफोन, रेडियो, समुद्री तार, जहाज और वायुयान आदि की व्यवस्था की। इसके मूल में कोई पर-हित या कल्याण की भावना भले ही न हो, और अधिकांश में थी भी नहीं, पर इसमें सन्देह नहीं कि इन साधनों द्वारा पराधीन देशों के आदमियों में विचारों का आदान-प्रदान बढ़ा, उनमें अपनी परिस्थिति के ज्ञान के साथ बाहरी दुनिया का भी ज्ञान बढ़ा। उनके कुछ अंध-विश्वास हटे, और पुराने विचार बदले। उनमें एक तरह की जागृति हुई। उन्होंने नए युग का संदेश सुना और संगठन करने और आजाद होने का बीड़ा उठाया। इस तरह उनमें जो नयी राष्ट्रीय भावनाएँ पैदा हुईं, उसका कारण एक अंश तक साम्राज्य-वाद है। हम पहले कह चुके हैं, और फिर साफ़ कर देना चाहते हैं कि साम्राज्यवाद का यह उद्देश्य नहीं था कि वह पराधीन देशों की जनता का हित साधन करे। उसका तो एकमात्र ध्येय उन्हें अपने अधीन और कमज़ोर बनाये रख कर उनसे अपना स्वार्थ पूरा करना था। उसने पराधीन देशों में जो भी वैज्ञानिक या यातायात सम्बन्धी उन्नति की, वह अपने सैनिक तथा आर्थिक फायदे के लिए की। हाँ, साम्राज्यवाद के

न चाहने पर भी, गौण रूप से ये बातें एक सीमा तक पराधीन देशों के उत्थान में सहायक हुईं। पर साम्राज्यवाद को इसका कोई श्रेय नहीं।

साम्राज्यवाद ज्यों ज्यों बढ़ता गया, उसका स्थूल परिणाम विनाशकारी महायुद्धों के रूप में संसार के सामने आया। मानव जाति अपना हित चाहती है, उसे भयंकर विनाश से बचना है, तो साम्राज्य-वाद का अन्त करना होगा। मनुष्य-समाज को अपनी मुक्ति के लिए साम्राज्य के सभी प्रतीकों को, जैसे साम्राज्यिक झंडे, साम्राज्यिक गान, साम्राज्यिक नारों को समाप्त कर देना है। जब तक किसी भी एक देश के अधीन कोई दूसरा प्रदेश या उपनिवेश आदि रहेगा, जब तक कोई भी जाति या राष्ट्र साम्राज्यवादी भावना रखेगा, दुनिया में स्थायी शान्ति नहीं हो सकती। मानव सभ्यता और संस्कृति की रक्षा और विकास के लिए यह जरूरी है कि संसार के हर देश की आज़ादी का असूल माना जाय; नहीं तो एक महायुद्ध के दूसरा, और दूसरे के बाद तीसरा—यह सिलसिला चलता ही रहेगा। महायुद्धों के बारे में विस्तार से अगले अध्याय में लिखा जायगा

—:०:—

उन्नीसवाँ अध्याय

महायुद्ध

—•—

अगर आदमी अपनी बुद्धि और चरित्र-बल को युद्ध के रोकने में नहीं लगा सकता तो तीर कमान से युद्ध करने और हवाई जहाज या बंदूक से लड़ाई लड़ने में कोई खास फर्क नहीं है।

—चियांग काई शेक

हम महायुद्ध को समाप्त करे, नहीं तो यह हमें समाप्त कर देगा।

—अज्ञात

युद्ध के रूप में मनुष्य जाति को चिरकाल से एक भयानक रोग लगा हुआ है। मनुष्य संधि और समझौतों की बात करता है फिर भी लड़ना नहीं छोड़ता! प्रो० एम० बेलबर्ट ने बताया है, कि ईसा पूर्व सन् १५०० से ईस्वी सन् १८६० तक लगभग साढ़े तीन हजार वर्ष में आठ हजार से ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ हुई हैं। ये सब हमेशा के लिए की गई थीं। पर इन संधियों में से हर एक का औसत जीवन-काल सिर्फ दो वर्ष ही रहा। सृष्टि की शुरू की हालत में आदमी छोटे-छोटे समूहों या कबीलों में रहता है, और एक कबीले की दूसरे कबीले से लड़ाई होती रहती है। पारिवारिक जीवन में, एक ही परिवार के लोगों में कभी-कभी काफी झगड़ा होजाता है। नगर-राज्यों का निर्माण होने पर एक नगर-राज्य दूसरे नगर-राज्य से लड़ता है। कालान्तर में बड़े-बड़े राज्यों का या संघ-राज्यों का संगठन होता है। ये बड़े राज्य

अपनी रक्षा के लिए बड़े बने थे, पर एक ओर तो ये राज्य अपने से छोटो के लिए संकट पैदा करने वाले सिद्ध हुए, और दूसरी ओर खुद इनका जीवन भी निष्कंटक नहीं रहा; क्योंकि इनसे भी बड़े राज्यों का संगठन हुआ, या दो-तीन राज्य मिल कर किसी राज्य से युद्ध ठानने लगे।

मानव जाति का युद्धों से पिंड नहीं छूटा । अब महायुद्ध होते हैं; जिनका क्षेत्र विश्वव्यापी और रूप पहले से कहीं अधिक विकराल होता है । प्राचीन काल के योद्धा एक सीमित मैदान में लड़ते थे, दोनों दल आमने सामने होते थे । मारने वाला यह जानता था कि मै किसे मारने का प्रयत्न कर रहा हूँ । लड़ाई के मैदान से बाहर के आदमियों को—किसानों, मजदूरों, दूकानदारों, बच्चों, स्त्रियों और बूढ़ों को—चिन्तित होने की जरूरत न थी । वे अपना समय पहले की तरह बिताते रहते थे । किन्तु अब युद्ध में कोई सुरक्षित नहीं । जब दो राज्यों में लड़ाई ठन गयी तो फिर उनके योद्धा दूसरे राज्य के सभी नागरिकों से शत्रु का सा व्यवहार करते हैं । वे यह नहीं सोचते कि उनके वार का शिकार कौन होता है । हवाई बम वर्षक, यंत्र की भाँति, अंधाधुन्ध अपना संहार-कार्य करते रहते हैं—चाहे निर्दोष बालक दयालु उपदेशक, परोपकारी चिकित्सक, मा बहिन के समान प्यारी महिला, कोई मित्र या रिश्तेदार ही मौत के घाट क्यों न उतर जाय । इसी तरह विरोधी राज्य की सभी भूमि नष्ट करने योग्य समझी जाती है, चाहे वहाँ खेती, कल, कारखाने, स्कूल, अस्पताल, मन्दिर या गिरजाघर कुछ ही क्यों न हों । राज-धानियां और कल-कारखानों को तो खास तौर से लक्ष्य बनाया जाता है !

हम सभ्यता-युग में रह रहे हैं । हमारा यह कैसा दुर्भाग्य है कि हम इस पीढ़ी में एक नहीं, दो महायुद्धों को देख चुके हैं; छोटे-छोटे युद्धों की तो बात अलग ही रही । पैंतीस वर्ष पहले सन् १९-१४ में हमने पिछले महायुद्ध का अनुभव किया था । पाँच वर्ष तक

भयङ्कर मारकाट हुई थी। अनेक देशों में शोक छा गया था। आदमी अपने होनहार बेटों के विछोह से दुखी थे। घर-घर मातम छाया हुआ था। जिस परिवार का कोई निकट या दूर का सम्बन्धी मरा या जख्मी नहीं हुआ, वह भी आर्थिक अभावों के कारण त्रस्त था। उस समय सब शान्ति की बातें कहते और सुनते थे। बड़े-बड़े आदमी दूसरों को यह संतोष दिलाने में लगे थे कि यह युद्ध दूसरे युद्धों का अन्त करने के लिये लड़ा गया है, अब सब सुख की नींद सो सकेंगे, किसी दूसरे युद्ध का दृश्य न देखना पड़ेगा। जहाँ-तहाँ कुछ अच्छे-अच्छे मस्तिष्क सुन्दर योजनाएँ बनाने में लगे थे। राजनीतिज्ञों के भाषण सुनने और लेख पढ़ने के योग्य थे। पर वह सब आश्वासन कहाँ गया! मालूम होता है, सब जबानी जमाखर्च था। श्मशान-वैराग्य था। किसी मृतक को श्मशान ले जाते समय आदमी बड़ी आध्यात्मिकता, पारलौकिकता त्याग और वैराग्य की बातें किया हैं। पर बहुधा वह बातें दाह-क्रिया तक ही रहती हैं, उसके बाद उनका रूप बदल जाता है। यहाँ तक कि घर लौटते-लौटते कितने ही आदमी वही पुरानी रोजमर्रा की सांसारिक बातों में लग जाते हैं। यही व्यवहार हमने पिछले यूरोपीय महायुद्ध की अन्त्येष्टि पर किया।

संधिपत्र की रोशनाई सूखने भी न पायी कि नये, बढ़िया और अधिक घातक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण की बातें चलने लगीं। बुद्धि और मस्तिष्क का उपयोग इसलिये होने लगा कि किस तरह आगामी युद्ध की रचना हो—वह युद्ध जो इतना महान्, इतना संहारक और व्यापक हो कि सन् १९१४ का युद्ध उसके सामने कुछ चीज न गिना जाय!

महायुद्ध का डर बराबर बना रहा। हर संघर्ष को देख कर यह आशंका होती रही कि कहीं यह महायुद्ध का रूप धारण न करले। १९३६ निकला, तो ग़नीमत समझा, सन् १९३७-३८ भी किसी तरह बिताया, पर बकरे की मा कब तक खैर मनाती! सन् १९३९

ने मनुष्य-जाति को चिन्ता-ग्रस्त कर ही डाला; फिर वही २५ वर्ष पहले की बातें। १६१४ का सा दृश्य! उससे भी अधिक विकराल रूप में। नर-संहार अधिक, आर्थिक संकट भी अधिक और हाँ, शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीयता की बातें भी अधिक।

इन महायुद्धों से संसार को कितनी हानि पहुँचती है, इसका पूरा बयान करना कठिन है। उसके लिए एक पूरा ग्रन्थ ही चाहिए। हम तो यहाँ संक्षेप में कुछ खास-खास बातों का ही जिक्र करते हैं।* विचारवान पाठक अपने मन में शेष चित्र स्वयं पूरा कर लें।

(१) युद्ध से जनता का भयंकर विनाश होता है। हम युद्ध को 'पाशविक' कहते हैं, पर पशु इतने निर्दयी और झगड़ालू नहीं होते, जैसा मनुष्य होता है। अगर जंगली पशु बोलना और लिखना जानते तो वे हमारे युद्धों को खासकर एक ही जाति वालों के युद्धों को देख कर कहते—'ऐसा युद्ध मनुष्यों में होना है, हम पशुओं के लिए तो यह बुरा है, त्याज्य है।' सन् १६१४-१८ के यूरपीय महायुद्ध में, सरकारी हिसाब से ८५,३८,३१५ आदमी मारे गये और २,१२,१६,४५२ जख्मी हुए। उस महायुद्ध के फल-स्वरूप कितने बालक अनाथ हुए, कितनी स्त्रियाँ विधवा हुईं, कितने आदमी सन्तानहीन हुए, और कितने लोग तरह तरह के रोगों के शिकार हुए, इसका हिसाब ही कहीं नहीं! उन चार साल में मानव जाति अपने कितने नौजवान कवियों, लेखकों, वैज्ञानिकों, कलाकारों, शिक्षकों, चिकित्सकों और लोकसेवी महापुरुषों से वंचित हो गई! और, अब हम एक उससे भी अधिक विकराल युद्ध में ग्रस्त हैं।

(२) महायुद्ध से धन की महान क्षति होती है। यह खड़ी खेतियों को उजाड़ता है, और कारखानों को नष्ट करता है। यह लोगों की शक्ति को उपज के कामों से हटा कर हत्या करने में लगाता है, और

* हिन्टस-आन-सेल्फ कल्चर, के आधार पर।

आगे के उत्पादन में बाधा डालता है। यह राष्ट्रों के आर्थिक साधनों को अनुत्पादक और व्यर्थ के शस्त्रास्त्रों में नष्ट करता है। पिछले यूरपीय महायुद्ध में कुल ५५,४८,६०,००,००० पौंड ख़र्च हुए। दूसरे महायुद्ध की तो बात ही क्या! अकेले अमरीका ने सन् १९४४-४५ में ९९ अरब ७६ करोड़, ९० लाख, यानी लगभग १ खरब डालर के खर्च का सालाना बजट बनाया था। निर्धन भारतवर्ष की बात लीजिए। यहाँ सन् १९४४-४५ में ३६३ करोड़ १८ लाख रुपए के खर्च का अनुमान किया गया, जिसमें से २७६ करोड़ ६१ लाख रु० अकेले रक्षा कार्य के लिए थे, और केवल ८६ करोड़ ५७ लाख मुल्की खर्च के लिए जिसमें अधिकारियों के वेतन, शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि आदि सभी आ जाते हैं। इस खर्च को पूरा करने के लिए कई टैक्स बढ़ाए गए, फिर भी ७८ करोड़ २१ लाख रुपए की कमी रह ही गई। यह कल्पना की जा सकती है कि युद्ध के कारण संसार के सब देशों में कितना धन स्वाहा होता है, और इसका परिमाण कहाँ तक दिन-दिन बढ़ता जा रहा है। महायुद्ध से मकान, मंदिर, गिरजा, पुस्तकालय, विज्ञानशालाएँ, प्रयोगशालाएँ, चित्रशालाएँ और विद्यालय भी नष्ट होते हैं; यह तो युद्ध-ऋण के सूद की तरह है।

(३) महायुद्ध आदमी में निर्दयता को बढ़ाता है, और उसे बनाए रखता है। यह पाशविकता और अमानुषिकता का पर्यायवाची है। असीरिया के आदर्श योद्धा ने एक शिला-लेख में अपना गर्व इस तरह प्रकट किया है—'उनके (दुश्मन के) आदमियों, जवानों और बूढ़ों को मैंने कैद कर लिया, कुछ के मैंने हाथ पाँव काट डाले, और कुछ के नाक, कान और होंट। जवानों के कानों का मैंने एक टीला बनाया और बूढ़ों के सिरों का एक मीनार बनाया। मैंने उनके शहर के सामने उनके सिरों का विजय-स्मारक खड़ा किया। लड़कों और लड़कियों को मैंने आग की लपटों में जला डाला।' आजकल शिला-लेखों में ऐसी बात लिखना शायद असभ्यता समझा जाता है, पर इससे असलियत

में फ़रक नहीं आता। युद्ध के समय आदमी निर्दयता करने में असभ्य से असभ्य आदमी से बाजी मार ले जाने की कोशिश करता है। आज कल यूरप के रंगरूटों को नीचे लिखी हिदायतें दी जाती हैं—'मुठभेड़ के समय शत्रु की आँखों में दो अंगुलियाँ घुसेड़ना और उन्हें ज़ोर लगाकर दिमाग तक लेजाना; संगीन या किर्च की नोक घुसा कर उसे घुमाते रहना जिससे ज़ख्म बन्द न होने पाए; कटार से पेट को ऊपर से नीचे तक चीर डालना; जो आदमी ज़ख्मी होकर ज़मीन पर पड़े हों; उनको ख़तम करने के लिए, उनकी छाती पर घुटना रखकर उनके सिर को ऐसे जोर का झटका देना, जिस से उनकी रीढ़ की हड्डी के जोड़ खुल जायँ।'

(४) महायुद्ध से आदमी की नसल का पतन होता है। मज़बूत हृष्ट-पुष्ट आदमी भरी जवानी में छीन लिए जाते हैं। सन्तान पैदा करने के लिए घटिया दुर्बल आदमी रह जाते हैं। हर लड़ाकू राष्ट्र उस आदमी की तरह होता है, जो अपना कीमती खून गंवाता रहता है। युद्ध के बाद जो पीढ़ी आती है, वह आम तौर पर औसत दर्जे से कम डीलडौल वाली होती है। युद्ध से राष्ट्र की धीरे-धीरे आत्महत्या होती है।

(५) महायुद्ध आज़ादी और लोकतंत्र का शत्रु है। उसके कारण हर राज्य में गैर-ज़िम्मेदार नौकरशाही और स्वेच्छाचारिता कायम होने की प्रवृत्ति होती है। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए यह ज़रूरी होता है कि सत्ता किसी एक खुदमुख्तार आदमी या गुट्ट के हाथ में रहे। इस लिए समाचार-पत्रों पर 'सेंसर' (प्रतिबंध) लगा दिए जाते हैं। लोगों के भाषण और सभा-सम्मेलनों में रुकावटें खड़ी कर दी जाती हैं। युद्ध के समय सरकार ही सब कुछ होती है; व्यक्ति का कोई स्थान नहीं रहता, और खासकर स्वतंत्र विचार वाले या बुद्धिमान आदमियों का तो उसमें काम ही नहीं।

(६) महायुद्ध से स्त्रियों का दर्जा गिर जाता है। युद्ध में जिन बातों

से सफलता मिलती है, वे पाशविकता और मर्दानगी हैं। पवित्रता, प्रेम, संयम, नम्रता, सेवा आदि शान्ति के समय चमकनेवाले सौम्य गुणों से लड़ाकू राष्ट्रों में घृणा की जाती है। युद्धवाद का नायक आमतौर पर मद्य मांस और व्यभिचार का शौक़ीन अभिमानी योद्धा ही होता है। अगर वह जीतता है. तो उसके दुर्गुणों की उपेक्षा की जाती है। औरतें युद्ध में भाग कम लेती हैं, इसलिए युद्ध-रत् समाज में उनका दर्जा नीचा रहने वाला ही है।

(७) युद्ध से राज्य में आर्थिक विषमता बढ़ती है, जिससे अन्त में जाकर धनी और ज्यादह धनवान, और गरीब और ज्यादह गरीब हो जाते हैं। आम आदमियों की हालत हर सूरत में खराब ही होती है। इंगलैंड ने अनेक युद्ध लड़े, और एक बहुत बड़ा साम्राज्य कायम किया, लेकिन उसकी राजधानी लन्दन में महलों के साथ-साथ गरीब लोगों के मैले-कुचैले तंग और तारीक घर मौजूद हैं। हर देश में युद्ध से अमीरी और गरीबी की चरम सीमाएँ पैदा होती हैं, और विषमता बढ़ती है, जिसका नतीजा समाज में दुख और पतन होता है।

(८) महायुद्ध से सामाजिक और राजनैतिक सुधार का काम रुक जाता है। शस्त्रास्त्र आदि युद्ध-सामग्री के लिए और निरुपयोगी सैनिकों के लिए राष्ट्र की आमदनी का इतना ज्यादह हिस्सा खर्च हो जाता है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि उद्योग आदि के लिए बहुत कम रह पाता है। अनेक राज्यों को तो इतना कर्ज़ा लेना पड़ता है कि बाद में वर्षों तक उसका भारी व्याज चुकाते रहना पड़ता है। आज कल के एक युद्ध-पोत अणु-बम के खर्चे से कितने स्कूल, अस्पताल अनाथालय, उद्योगशालाएँ, आदि बन सकते हैं! साम्राज्यों का व्यवहार एक ऐसे पागल का सा है जो आतिशबाज़ी में इतना खर्च कर डालता है कि पीछे उसके खाने पीने के लिए भी नहीं बचता। इसके अलावा युद्ध का एलान करनेवाला साम्राज्य अपने श्रमजीवियों के आर्थिक या राजनैतिक सुधार का आन्दोलन एक तरफ उठा कर रख देता है। वह सब देशभक्तों से युद्ध

में ध्यान लगाने का अनुरोध करता है।

युद्ध एक भयंकर पागलपन है, जो मानव सभ्यता पर बार-बार प्रहार करता और उसकी प्रगति को रोकता है। इसका अन्त किया जाना ही चाहिए। आम लोगों में युद्ध के बारे में अनेक भ्रम फैले हुए हैं, उन्हें दूर करना ज़रूरी है। इसके लिए आगे दी हुई बातों पर विचार करना उपयोगी होगा।*

कुछ लोगों का कहना है कि युद्ध सदा होता रहा है, और होता रहेगा। कुछ दार्शनिक इससे भी आगे बढ़ जाते हैं, उनके मत से युद्ध स्वाभाविक है, और मानव विकास के लिए अनिवार्य है। वास्तव में यह बात नहीं है। स्वयं युद्धवादी भी यह नहीं कहते कि सब युद्ध अनिवार्य हैं। इसके खिलाफ़, वे अधिक हथियारों का आग्रह इसी आधार पर करते हैं कि उनसे शान्ति रखने और युद्ध रोकने में सहायता मिलती है।

शरीर के साथ रोग अनिवार्य हैं। फिर भी हमने स्वास्थ्य सम्बन्धी अच्छे-अच्छे उपायों द्वारा प्लेग, कोढ़ और हैजा, जैसी बीमारियों की रोक-थाम कर दी है। कभी-कभी उपाय असफल रहते हैं, परन्तु इससे हम उन्हें छोड़ नहीं देते, बल्कि उनका और कड़ाई से उपयोग करते हैं। कभी-कभी हमारे राष्ट्रीय विधान गृह-युद्ध को रोकने में असमर्थ रहते हैं, फिर भी हम विधान का उपयोग करते ही हैं। हमें युद्धों को अनिवार्य समझकर उन्हें रोकने के प्रयत्नों में कमी न करनी चाहिए।

कहा जाता है कि आदमी प्रकृति से ही झगड़ालू है, और उसकी प्रकृति को बदला नहीं जा सकता। यह ठीक नहीं है। शिक्षा और संस्कारों से प्रकृति में भी धीरे-धीरे सुधार अवश्य होता रहता है। नर-भक्षण, मनुष्य की कुर्बानी, दासता की प्रथा, बहुपत्नित्व, विधर्मियों को ज़िन्दा जलाना इसके उदाहरण हैं। आचरण के ये परिवर्तन

*नार्मन एंजल की 'प्रिफेस टु पीस' नाम की अंगरेजी पुस्तक के आधार पर।

आमतौर पर ऐसे विचारों के परिवर्तन से होते हैं, जैसे क्या काम करने योग्य हैं, कौन सा रुचिकर या अच्छा लगने वाला है, किसके अन्त में मनुष्य जाति का हित होगा।

पहले धार्मिक भेद भाव के कारण अनेक युद्ध होते थे, वे बहुत ही बुरे थे। यह अनिवार्य नहीं था कि वे धार्मिक युद्ध जारी रहें, क्योंकि वे बन्द हो गए। जिस तरह यह ज़रूरी नहीं कि धार्मिक आवेश से युद्ध हो, उसी तरह यह भी ज़रूरी नहीं कि राष्ट्रीय भावना युद्ध का कारण हो। इंगलैंड और स्काटलैण्ड के निवासी किसी समय एक दूसरे से लड़ा करते थे, अब मिल कर शांति से रहते हैं। इस तरह फ्रांसीसी और अंगरेज़ केनेडा में, और अंगरेज़ और डच (हालैण्ड निवासी) दक्षिण अफ्रीका में मिलकर रहते हैं। यदि ये लोग अपनी-अपनी जाति की भक्ति में रहते तो शान्ति असम्भव हो जाती। पर इन्हें समझ आ गई है, इसी तरह दूसरे लोगों को आ सकती है।

कितने ही आदमी यह समझते हैं कि युद्ध से कई तरह के लाभ होते हैं। कुछ का ख्याल है कि युद्ध से, राष्ट्र की बढ़ती हुई आबादी के लिए भोजन की कमी पूरी होती है। परन्तु अगर सारे संसार का इकट्ठा हिसाब लगाया जाय तो इतनी पैदावार होती है कि लोगों के खाने पहनने के सामान में कमी नहीं रहती। आजकल के औद्योगिक और वैज्ञानिक संसार की समस्या पैदावार की कमी नहीं है, बल्कि अत्यधिक पैदावार है, यानी बटवारे की कुव्यवस्था, मुद्रा-प्रणाली और विनिमय के साधनों का मेल बैठाने में कठिनाई आदि। अपने अधीन बड़े-बड़े प्रदेश रखने वाले इंगलैंड जैसे राज्यों में भी ये समस्याएँ ऐसी ही जटिल हैं, जैसी स्वीडन, स्विटज़रलैंड और डेनमार्क जैसे छोटे-छोटे प्रदेश रखने वाले राज्यों में। इससे ज़ाहिर है कि ये समस्याएँ युद्ध की विजय से हल नहीं होतीं, इनके वास्ते समझौते और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की ज़रूरत है।

यह कहा जा सकता है कि आजकल मशीनों के द्वारा कारखानों में

माल बहुत बड़े पैमाने पर तैयार होता है, उसे बेचने के लिए युद्ध ज़रूरी है। परन्तु इसमें कुछ सचाई नहीं। कोई भी राष्ट्र विजयी होने पर अपनी विजय का उपयोग अधिक माल बेचने में किस तरह कर सकता है? सन् १९१८ में इंगलैंड ने जर्मनी पर विजय प्राप्त की थी। किन्तु उससे अंगरेज़ कारखाने वालों की, अपना माल बेचने की, योग्यता बढ़ी नहीं; बल्कि और कम हो गयी। लड़ाई के बाद हर एक राष्ट्र की हालत पहले से ख़राब होती है। लाखों योग्य आदमियों के मरने या ज़ख्मी हो जाने से और बहुत सा धन खर्च हो चुकने के कारण उसे सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति का सामना करना पड़ता है। कितने ही पूँजीपति बरबाद हो जाते हैं, उनके पास वैसी सामग्री पैदा करने के साधन नहीं रहते, जिसकी युद्ध के बाद लोगों को ज़रूरत होती है। उनका कारोबार चौपट हो जाता है। ऐसी हालत में किसी भी राष्ट्र के पूँजीपति युद्ध का समर्थन करें तो कहना होगा कि उनमें जाने या अनजाने आत्महत्या का विचार काम कर रहा है। यह ठीक है कि युद्ध के समय सरकार लड़ाई का सामान बहुत खरीदती है, और जिन कारखानों में यह सामान तैयार होता है, उन्हें खूब आमदनी होती है; परन्तु इनकी बढ़ी हुई आमदनी का ज्यादातर हिस्सा (फी रुपया पन्द्रह-साढ़े पन्द्रह आने तक) सरकार टैक्स के रूप में ले लेती है, कुछ थोड़े से कारखाने वालों को ही विशेष नफा रहता है। इनेगिने लोगों के मालामाल हो जाने से यह नहीं कहा जा सकता कि युद्ध पूँजीपतियों के लिए लाभकारी होता है, या इससे उनका स्वार्थ सिद्ध होता है।

अगर किसी बड़े शहर में विकराल अग्निकाँड हो जाय तो कुछ पूँजीपतियों को उससे लाभ होगा; मकान बनाने का सामान तय्यार करने वाले सब उद्योग धंधों की धूम मच जायगी। इससे अग्निकाँड को पूँजीपतियों का हितसाधक नहीं कहा जा सकता, फिर दूसरे आदमियों की तो बात ही क्या!

शस्त्रास्त्रों के बारे में भी लोगों में बड़ी गलतफहमी या गैर-समझ

फैली हुई है। कहा जाता है कि हथियारबन्द आदमी बलवान होता है। इस बात में क्या सार है? जब कोई गृहस्थ केवल अपने ही बल पर निर्भर रहता है, तो ज्योंही कोई उससे ज्यादह ज़ोर वाला हो जाता है, वह उसे पराजित कर देता है। अगर वह गृहस्थ (या राष्ट्र) किसी संगठित समाज का अंग होता है तो लुटेरे या आक्रमणकारी को केवल एक व्यक्ति की ही शक्ति का सामना नहीं करना पड़ता, बल्कि सारे समाज का सामना करना पड़ता है, और हर व्यक्ति अधिक सुरक्षित रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में हमें इस बात से शिक्षा लेनी चाहिए, और इसी सिद्धान्त का उपयोग करना चाहिए।

कुछ आदमी कहा करते हैं कि हथियार रक्षा के लिए होते हैं। परन्तु सब जानते हैं कि अब तक हथियारों ने यह उद्देश्य पूरा नहीं किया। उन्होंने उन लाखों आदमियों की, रक्षा नहीं की, जो युद्ध में मारे गए; न उन्हीं लाखों आदमियों की, जो युद्ध में जख्मी और अंगहीन हुए; न उस व्यापार और समृद्धि की ही रक्षा की, जो नष्ट हो गई; न उस लोकतन्त्र की रक्षा की, जिसके न होने से जगह-जगह तानाशाहों (डिक्टेटरों) की महामारी फैली हुई है; न जनता की सैनिकवाद से ही रक्षा की, जो पिछले महायुद्ध की अपेक्षा अब अधिक निर्दयतापूर्ण है; और न राजनैतिक निर्भयता की ही रक्षा की, क्योंकि वह अब पहले से भी अधिक संकट में है।

क्या शान्ति के लिए हथियार ज़रूरी हैं? सृष्टि के अब तक के इतिहास से यह स्पष्ट हो गया है कि शस्त्रास्त्रों के उपयोग से शान्ति कायम नहीं होती। अब शस्त्र-परित्याग के विषय में गम्भीरता से क्यों न सोचा जाय? अगर हम सचमुच शान्ति चाहते हैं तो उसके लिए हम उचित कीमत देने से—शस्त्र-परित्याग से—क्यों इनकार करें।

महात्मा गांधी के ये शब्द (जो उन्होंने भारत के जंगी लाट की इस बात का विरोध करते हुए कहे थे कि 'भारतवर्ष फौजी मुल्क है') भली भांति विचार करने योग्य हैं—"पौलैंड की असंदिग्ध सैनिक वीरता,

उससे बढ़ कर जर्मनी और रूस की सेनाओं के सामने क्या काम आई ? अगर इन सम्मिलित शक्तियों की चुनौती का सामना, बदले की भावना बगैर, मृत्यु के मुख में जाने के निश्चय के साथ किया जाता तो क्या निशस्त्र पोलैंड की इससे बुरी हालत होती ? क्या आक्रमणकारी शक्तियाँ उस पोलैण्ड का, जो कि इसकी अपेक्षा निश्चय ही अधिक शूरवीर होता, इससे ज्यादह सर्वनाश करतीं ? बहुत सम्भव तो यह है कि निर्दोष व्यक्तियों की हत्या होते देख आक्रमणकारी शक्तियों की मूलभूत मानव भावना जाग उठती, और वे उनका कत्लेआम करने से रुक जातीं ।"

अहिन्सा के विषय में विशेष वि... अलग अध्याय में किया जायगा ।

———

तीसरा खंड

कहां पहुंचना है ?

बीसवां अध्याय

हमारा लक्ष्य

यह जहाज़ कौन से देश को जायगा ?
उसके सभी यात्री जानते हैं कि वह देश दूर, बहुत दूर है।
वह कौन से देश से यात्रा करके आ रहा है !
वे केवल यही कह सकते हैं कि वह भी यहाँ से बहुत दूर है।

—:o:—

नगर-राज्य और राष्ट्र-राज्य सब भावी विश्व-राज्य में बाक़ायदा घुल मिल जायँगे। मनुष्य जाति सदा ही पचास या अधिक राज्यों में बँटी नहीं रहेगी। वह संसार भर में एक राजनैतिक संगठन के रूप में संगठित होगी। हमारा उद्देश्य एक राज्य, एक झंडा, एक भाषा, एक नीति, एक आदर्श, एक प्रेम, और एक जीवन है।

—लाला हरदयाल

आदमी बहुत समय से अपने विकास की यात्रा तय करता आ रहा है। पिछले पन्नों में हमने देखा कि परिवार से लेकर संघ राज्य तक कैसी-कैसी और कौन-कौनसी मंजिलें तय हो चुकी हैं, और अब हम

पीछे की ओर निगाह डालें तो मालूम होता है कि वह स्थान बहुत दूर रह गया है, जहाँ से हम रवाना हुए थे, हम बहुत आगे बढ़ आए हैं, हमने बहुत तरक्की की है, और हम अपनी प्रगति पर गर्व कर सकते हैं। परन्तु यदि हम सामने देखें, और विचार करें कि हमें कहाँ पहुँचना है तो हमें मालूम होगा कि हम अभी अपने लक्ष्य स्थान से दूर हैं। जिस जगह हम अब आ पहुँचे हैं, वहाँ ठहरना असह्य है। हमें जल्दी-से-जल्दी आगे बढ़ना है। आगे बढ़े बिना हमें शान्ति नहीं मिल सकती। हमें आगे बढ़ना ही होगा—इसमें चाहे जितना कष्ट सहना पड़े और चाहे जो बाधाएँ सामने आवें।

हम यह भी नहीं भुला सकते कि हमारे रास्ते में एक नहीं, कई एक बड़ी-बड़ी बाधाएँ हैं। उन्हें दूर करने के लिए बड़े पुरुषार्थ और हिम्मत की ज़रूरत है। किन्तु जब हम यात्रा पर चल पड़े हैं, और हमने इतनी यात्रा तय कर ली है, तो अब कुछ विघ्नों के भय से हम अपनी बाकी यात्रा स्थगित नहीं कर सकते। हमने कमर कस ली है, और हम उस बाकी यात्रा को भी पूरा करके रहेंगे। साफ बात तो यह है कि यात्रा हमें पूरी करनी ही पड़ेगी, चाहे हम राज़ी से करें या नाराज़ी से। और, बेहतर यही है कि हम हँसी खुशी, प्रेम से और लगन से अपनी आगे की यात्रा तय करें।

अच्छा, हमें कहाँ पहुँचना है? हमें किस तरह की सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक स्थिति हासिल करनी है? जिस विश्व-राज्य की हम बात करते हैं, वह कैसा है?

हमारी हालत उस आदमी की सी है जो किसी तीर्थ-स्थान की यात्रा के लिए चल रहा है। अभी तीर्थ-स्थान कुछ दूर है। रास्ते में कुछ ऊँचे-ऊँचे पेड़ खड़े हैं; कहीं-कहीं कोई पहाड़ी टीला भी है। इनकी आड़ होने के कारण तीर्थ-स्थान अच्छी तरह नज़र नहीं आता। कभी-कभी तो सड़क का मोड़ आजाने से तीर्थ-स्थान का दिखाई देनेवाला

हिस्सा पहले से भी कम रह जाता है। कहीं-कहीं रास्ते में नदी नाले के कारण कुछ घूम कर जाना पड़ता है, अथवा कंकरीली जमीन या कांटे आदि आजाने की वजह से रास्ता चलना कठिन हो जाता है, चाल धीमी पड़ जाती है। परन्तु ऐसी बातों से श्रद्धालु यात्री निराश नहीं होता। उसने यात्रा शुरू कर दी है, वह तीर्थ तक पहुँच कर ही रहेगा।

मानव समाज भी अपनी इस महान यात्रा के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा किए हुए है। उसे विश्व-राज्य में पहुँचना है। कभी-कभी विश्व-राज्य कुछ ओझल हो जाता है; कभी-कभी बहुत समय तक यात्रा करने के बाद मालूम होता है कि रास्ता बहुत कम तय हुआ है, हम विश्व-राज्य के कुछ भी नजदीक नहीं पहुँच पाये हैं; वह उतनी ही दूर मालूम होता है, जितनी दूर पहले था। यही नहीं, मालूम होता है कि वह और ज्यादह दूर हो गया है। पर इन बातों से घबराने की ज़रूरत नहीं। हमें चिन्ता या फिक्र करने का अवकाश ही न होना चाहिए। हमारा कर्तव्य तो आगे चलते रहना ही है। हम इस डर को भी मन में न लावें कि हम शायद अपने लक्ष्य स्थानतक न पहुँच पावें, बीच में ही हमारी शक्ति समाप्त हो जाय। यदि ऐसा हो हो तो भी कुछ फिक्र की बात नहीं। हमारे चलने से, हमारे पाँव पड़ने से यदि रास्ते की ऊँची नीची मिट्टी कुछ हमवार हो जाती है, काँटे और कंकर कुछ दब जाते हैं रास्ता कुछ सुगम हो जाता है, हमारे पीछे आने वालों के लिए कुछ आसानी हो जाती है, तो यह कुछ कम बात नहीं है। अगर हमारे साहस या पुरुषार्थ को देखकर हमारे उत्तराधिकारियों के मन में साहस और पुरुषार्थ आजाय तो हम अपने परिश्रम को सफल मानेंगे। यदि हमारा भौतिक शरीर रास्ते के गड्ढों और खाइयों को भरने में काम आ सके तो इससे अच्छी और क्या बात। बस! प्यारे साथियो? बढ़े चलो, रास्ते के कङ्करों, पत्थरों और कांटों को कुचलते हुए चले चलो। मित्रो! चले चलो।

विश्व-राज्य को अग्रदूतों की आवश्यकता है। एक अग्रदूत होने का सौभाग्य हम भी प्राप्त करें। चाहे हम इस समय किसी राष्ट्र-राज्य के ही रहने वाले हों, पर हमारे मन में भावना विश्व-राज्य की ही हो। जाति, राष्ट्र, देश, धर्म मजहब, सम्प्रदाय और वर्ग आदि का भेद भाव छोड़कर हम सब से प्रेम करें, सब का स्वागत करें, सब का भला चाहें, सब के साथ अच्छा व्यवहार करें; हम पूँजीवाद, राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद की दूषित संस्थाओं का समर्थन न करें, इनसे बचें। आजकल की पद्धति का समर्थन करनेवाली व्यवस्थापक सभाओं, दलों, पार्टियों, अदालतों, सेनाओं और सम्प्रदायों में हम भाग न लें। जहाँ तक हमारा अपने आप से सम्बन्ध है, हम अपने को विश्व-राज्य का नागरिक समझें; सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते, हम विश्व-राज्य का विचार करें और उसकी स्थापना की इन्तजार करें। प्रभात काल का सूर्य अभी क्षितिज से नीचे है, अभी हम उसका दर्शन नहीं कर सकते, परन्तु उषा उसकी सूचना दे रही है। हम उषा की आराधना करने वाले भी होंगे, तो हमारी सन्तान. या उस संतान की संतान, अवश्य सूर्य के दर्शन कर सकेगी—वह सूर्य जो इस अखंड और अविभाज्य विश्व-राज्य में उजाला करेगा और समस्त मानव जाति को सुख शान्ति और समृद्धि प्रदान करेगा।

हमारे कुछ भाई अधीर होकर कह रहे हैं, "तुम जिस विश्व-राज्य की बात करते हो, वह कैसा है, उसका आकार प्रकार किस तरह का होगा, उसके नियम कायदे कैसे होंगे, वहाँ की व्यवस्था, शासनपद्धति और न्याय-प्रणाली किस ढङ्ग की होगी?" इस तरह के सवालों का ठीक-ठीक और ब्योरेवार जवाब देना कठिन है। यह भी कह सकते हैं कि ऐसा करने का अभी समय नहीं आया है। विश्व-राज्य हमसे कुछ फासले पर है, इसलिए हम उसका पूरा और सही चित्र नहीं खींच सकते।

हमारी हालत उन लोगों की सी है, जिन्होंने अब से कई सदियों पहले संसार का नक्शा बनाया था, उन्होंने अपनी तरफ से मेहनत करने में कुछ कसर बाकी न रखी थी, तो भी उन बेचारों को संसार के अनेक भागों का पता न था। कई जगह जहाँ उन्होंने समुद्र समझा था, पीछे जमीन का होना मालूम हुआ। उन पुराने नक्शों से यह तो पता चला कि अमुक देश हमारे देश से किस दिशा में है, उत्तर में है, या उत्तर-पूरब या उत्तर-पच्छिम में। परन्तु वह निश्चित रूप से मालूम नहीं होता था कि वह देश कितने फासले पर है, या उसकी सीमाएँ या शक्ल कैसी है। वे नक्शे बिल्कुल अधूरे थे! आजकल का पाठक उन्हें देखकर उनके बनाने वालों का मजाक उड़ाएगा। तो भी उन नक्शों ने अपने जमाने में बड़ा काम दिया! उन से लोगों को जब यह मालूम हुआ कि अमुक देश हमसे इस दिशा में है तो इस आधार पर कुछ खोज करनेवालों ने यात्रा की और उस देश का पता लगाया, उसका फासला और उसकी ठीक-ठीक सीमा का हिसाब लगाया। इसके बाद जो नक्शे बने उनमें पहले से ज्यादह जानकारी दी गई। इसी तरह पीछे आनेवाले अपने पूर्वजों के बनाए हुए नक्शों में सुधार करते रहे, और इसी का यह नतीजा है कि अब दुनिया भर का करीब-करीब ठीक नक्शा हमारे सामने है।

यही बात विश्व-राज्य के बारे में है। आज का लेखक कुछ मोटी-मोटी बातों का ही अन्दाज कर सकता है। उससे ज्यादह आशा न करो; जो कुछ वह कह सकता है, उसे कह लेने दो!। उसकी बातों में सुधार-संशोधन की बहुत जरूरत है, इसमें सन्देह ही क्या है। पर यह काम तो धीरे-धीरे होता रहेगा, आगे आने वाले बुद्धिमान लेखक अपने ज्ञान और तजरुबे से नये और ब्योरेवार ग्रन्थों की रचना करेंगे, और इस समय की कृतियों को शायद संग्रहालय या अजायब घर में रखने के योग्य भी न समझेंगे। जो हो, कुछ तो इसलिये कि हम विश्व-राज्य से दूर हैं, और कुछ

इसलिये भी कि हमारी योग्यता बहुत कम है, हम विश्व-राज्य का ब्योरेवार वर्णन नहीं कर सकते। हम उसकी कुछ मोटी-मोटी बातों का, उस धुंधली सी रूप रेखा का ही विचार करेंगे। हमें खास ज़ोर इसी बात पर देना है कि हम उसके लिये क्या कर सकते हैं, हमें क्या करना चाहिए, और मानव समाज के उस भावी संगठन के लिए हमें कैसा बनना चाहिए।

—:o:—

इक्कीसवाँ अध्याय

मनुष्य जाति की एकता

—:o:—

यह पृथ्वी माता है, मैं इसका पुत्र हूँ। — *अथर्ववेद*

जिस तरह कोई हवाई जहाज़ चलाने वाला जमीन से बहुत ऊंचा उठता है, और तमाम जमीन को एक निगाह में देख लेता है, उसी तरह हमें जाति, रंग, भाषा और राष्ट्रीयता की रुकावटों और बन्धनों से ऊपर घटना चाहिए और सब आदमियों, औरतों और बच्चों को प्रेम भरी निगाह से देखना चाहिए। कोई भी हमारे प्रेमी हृदय से बाहर न रहे। —*हरदयाल*

संसार में केवल एक जाति है, और वह है मनुष्य जाति। —*रवीन्द्र*

मैं एक मनुष्य हूँ, और मनुष्य होने के नाते दूसरे मनुष्यों से मेरी सह-जातीयता है। कोई माता पिता के समान मुझसे स्नेह करता है। किसी को मैं भाई बहिन या मित्र मानता हूँ। कोई मेरे मोहल्ले, गाँव, नगर या देश का होने के कारण मुझे प्यारा है। किसी को मैं निकट सम्बन्धी मानता हूँ, किसी को दूर का। किसी से मेरा घनिष्ठ संबन्ध है, और किसी से बहुत कम। मालूम होता है कि जीवन का कोई

न कोई तार मुझ में और दूसरों में समान रूप से पिरोया हुआ है। यदि किसी दूसरे को कुछ कष्ट होता है तो थोड़ी-बहुत चोट मेरे हृदय पर भी लगती है। जो जो बातें उसे अप्रिय लगती हैं, उनमें से अधिकांश को मैं अपने लिए भी अच्छा नहीं मानता।

शेक्सपीयर का शाइलक हमारी भावना को अच्छी तरह प्रकट कर रहा है। जब शाइलक को यहूदी और सूदखोर कह कर उससे घृणा की गयी तो वह कैसी भावपूर्ण बात कहता है—'मैं यहूदी हूँ। क्या यहूदी के आँखें नहीं होतीं? क्या यहूदी के हाथ, पैर, नाक, कान, अंग, आकार, प्रेम और वासनाएँ नहीं होतीं? जिस भोजन से ईसाई पलता है, उसी से यहूदी पलता है। जिन हथियारों से ईसाई को चोट लगती है, उनसे यहूदी को भी चोट लगती है। यहूदी को भी वे ही बीमारी लग सकती हैं, जो किसी ईसाई को लग सकती है; उसे उन्हीं चीजों से आराम मिलता है, जिनसे ईसाई को, उसे भी सर्दी में ठंड लगती है, और गरमी की मौसम में गरमी मालूम होती है, ठीक उसी तरह जैसे किसी ईसाई को। अगर तुम सूई चुभोओ तो क्या हमारे शरीर से खून नहीं निकलता! यदि तुम गुदगुदी करो क्या हमें हंसी नहीं आती? अगर तुम हमें जहर दे दो तो क्या हम मरेंगे नहीं!'

जब किसी आदमी के मन में या किसी दूसरी जाति या धर्म वाले को नुकसान पहुँचाने या तकलीफ देने का विचार आवे तो उसे शाइलक की ऊपर कही हुई बात याद कर लेनी चाहिए।

इस पृथ्वी पर सवा दो सौ करोड़ आदमियों का निवास है। जब मैं एक परम पिता परमात्मा को मानता हूँ और सब मनुष्यों को उसकी संतान कहता हूँ तो हर व्यक्ति, वह चाहे जहाँ रहनेवाला, और चाहे जिस जाति या रंग का हो, मेरा भाई या बहिन है। इस नाते से मेरा उसके प्रति अवश्य कुछ-न-कुछ कर्तव्य है। यह भी सम्भव है कि ब्रह्मांड में हमारी पृथ्वी जैसे और भी अनेक पृथ्वियाँ हों, परन्तु उनके विषय में हमें कुछ मालूम नहीं है, इसलिए उनके सम्बन्ध में हम अपने कर्तव्य से

भी बरी हैं।

'धरती माता' हमारी बोलचाल का शब्द है। हम धरती (पृथ्वी) को माता मानते हैं। हम उसे वन्दना करते हैं। उसने हमें जन्म दिया है, उसके दिये हुए पदार्थों से हमारा पालन पोषण और रक्षण होता है। इस माता की गोद में हम खेले हैं, और इसके संरक्षण में रह कर हम अपनी जीवन-लीला पूरी करते हैं। हमारे मरने पर यही हमारे भौतिक शरीर को आश्रय देती है। हम सब इस पृथ्वी माता की संतान हैं; बालक हो, या जवान या बूढ़ा, पुरुष हो या स्त्री, काला हो या गोरा, माता सब को माता ही है। उसकी सब सन्तान बराबर हैं। वह सब की मातृभूमि है।

मनुष्य जाति एक है। सब पुरुष और स्त्रियाँ वास्तव में एक ही जाति के हैं। सब एक ही ढंग से पैदा होते हैं। इस कसौटी पर एक देश के आदमी दूसरे देश के आदमियों से जुदा नहीं हैं। अमरीका में काले दासों के गोरे स्वामियों ने यह साबित करने की कोशिश की थी कि हबशी लोग असल में मनुष्य जाति के नहीं हैं, उन्हें किसी दूसरी जाति का समझना चाहिए, और मनुष्यों से नीची श्रेणी का यानी उप-मानव कहना चाहिए। उनका यह दावा, जो उनके अहंकार और लोभ से पैदा हुआ था, ठहर न सका। शारीरिक गठन और जीवन-विज्ञान दोनों की दृष्टि से पाँचों महाद्वीपों के सब पुरुषों और स्त्रियों में कोई फरक नहीं है। शरीर-शास्त्र के आधार पर मनुष्य जाति की एकता से कोई इनकार नहीं कर सकता, किसी को इसमें सन्देह करने की गुञ्जायश नहीं।

सब आदमी, यहाँ तक कि जंगलों, पहाड़ों और बर्फ के मैदानों में रहने वाले भी, बोल सकते हैं। बोलना मनुष्य मात्र पर लगी हुई एक छाप है। सब आदमी और औरतें किसी न किसी तरह के औजारों को काम में लाती हैं। सब में थोड़ा बहुत सोचने का गुण है। सब कुदरती आफतों और रुकावटों से बच निकलने की हो कोशिश नहीं करते,

बल्कि उन रुकावटों पर विजय पाने का भी प्रयत्न करते हैं।

चाहे जितना कम या चाहे जितना ज्यादह, सब आदमी गिन सकते हैं, विचार कर सकते हैं, अनुमान कर सकते हैं, नतीजा निकाल सकते हैं, और उद्देश्य-सिद्धि के लिए साधनों का उपयोग कर सकते हैं। सब किसी न किसी तरह के समूह में रहते हैं; सब अपने परिवार वालों से—माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री, बच्चों से स्नेह करते हैं। सब आदमी और सब औरतें ब्रह्मांड के सम्बन्ध में कुछ न कुछ दार्शनिक विचार रखते हैं—यह कैसे पैदा हुआ, कौन इसका पैदा करने और रक्षा करने वाला है, इसका क्या उद्देश्य है। सब लोगों के जीवन में किसी-न-किसी तरह का क्रम पाया जाता है; वे सब, कुछ नियमों का पालन करते हैं; सबके कुछ रीति-रिवाज, नेगचार, दस्तूर होते हैं। सब अपने समूह सम्बन्धी कुछ बातों की याद रखते हैं, भूतकाल का विचार करते हैं, और कुछ परम्पराओं को मान देते हैं। सब की दृष्टि भविष्य की ओर रहती है।* सब अपनी संतान के हित का विचार करते हैं, और उसके लिए जहाँ तक हो सकता है, इन्तज़ाम करते हैं।

मैं एक मनुष्य हूँ। और, मनुष्य में दूसरे प्राणियों की अपेक्षा दो बातें अधिक विकसित रूप में होती हैं—(१) दिमाग का काम—सोच-विचार, बुद्धि, विवेक; और (२) दिल का काम—मिलजुल कर रहना, संगठित होना, एक दूसरे से सहानुभूति और प्रेम। ये बातें संसार के सभी आदमियों में पाई जाती हैं। मुझे गर्व करना चाहिए कि इन गुणों

* कितने ही आदमी तो भावी सुख के लिए वर्तमान काल में अनेक कष्ट सहने को भी तत्पर रहते हैं। अनेक आदमी अपनी इस समय की आवश्यकताओं की पूर्ति में कमी करके भावी आवश्यकताओं के लिए द्रव्य संचय करते हैं। भारतवर्ष आदि देशों में अगले जन्म तक की चिन्ता की जाती है।

को रखने के कारण मैं मनुष्य जाति का सदस्य हूँ। हर व्यक्ति को यह भली भाँति अनुभव करना चाहिए कि वह मनुष्य जाति का सदस्य है। उसका एक अंग है। सब पृथ्वी माता की संतान हैं।

मनुष्य जाति की एकता एक गहरी सचाई है। दुर्भाग्य से यह बात बाहरी निगाह से मान्य नहीं की जाती, कारण यह है कि सब आदमियों में एकरूपता नहीं है, आन्तरिक एकता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ हैं। इन विभिन्नताओं ने मनुष्य जाति की तात्विक एकता को छिपा रखा है। यहाँ तक कि इन्होंने एक दूसरे से घृणा और युद्ध को जन्म दे दिया है। हमें इन ऊपरी भेद-भावों से सतर्क रहना चाहिए; ऐसा न हो कि इनके कारण हम पृथ्वी भर के देशों के आदमियों, औरतों और बच्चों के प्रति अपनी कर्तव्य-भावना को कम कर दें। भेद-भाव पैदा करने वाली बातों में दो मुख्य हैं:—(क) जाति, और वर्ण या रंग और (ख) भाषा और राष्ट्रीयता। इनके विषय में पहले विचार किया जा चुका है। इन भेदों का मुख्य कारण यह है कि पृथ्वी के अनेक भाग एक दूसरे से बहुत दूर हैं। एक जगह के आदमी को दूसरी जगह के आदमी के पास जाने-आने में बहुत समय लगता है—और बड़ी कठिनाई होती है। इसीलिए दूर-दूर के आदमियों में मिलना-जुलना और विचार-विनिमय बहुत कम हो पाता है। इस तरह दूरी और समय की बाधाओं ने मानव जाति को अलग-अलग या जुदा-जुदा मालूम होनेवाले टुकड़ों में बाँट रखा है।

मनुष्य चिरकाल से समय और दूरी का बंधन हटाने की कोशिश कर रहा है। उन्नति करते-करते अब नई-नई वैज्ञानिक ईजादों और यंत्रों की सहायता से उसने इसमें बहुत कुछ कामयाबी हासिल कर ली है, और आगे के लिए उसका मार्ग और भी अधिक साफ हो गया है। पण्डित श्यामविहारी दुबे लिखते हैं कि "टेलीविज़न (दूर के चित्रों को पर्दे पर दिखाने) के आविष्कार के बाद मनुष्य दूर-से-दूर और कम-से-

कम समय में देखने, सुनने, सूंघने, छूने बोलने, स्वाद लेने आदि के अनुभव करने की ओर है। और, यही बातें समाज की व्यवस्था को बदल देगी। राजनैतिक स्थिति में भी अंतर हो जायगा। भविष्य के युग में मनुष्य एक यंत्र को अपने सामने रखकर संसार के दूसरे छोर ही नहीं वरन् दूर आकाश में ठहरे हुए ग्रहों के प्राणियों से सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा। अपने शब्दों को दूर देश के व्यक्ति को सुना सकेगा, उसे स्वयं देख सकेगा, उसके स्वांस-प्रस्वांसों का अनुभव करेगा, उसके शरीर पर लगी हुई सुगन्ध का अनुभव करेगा, स्पर्श-अनुभव जैसे चुंबन और आलिङ्गन का भी अनुभव उतना ही सरल हो जायगा जितना प्रत्यक्ष बैठे हुए व्यक्ति के साथ होता है।"*

इन सब बातों का मनुष्य के जीवन पर जो प्रभाव पड़ेगा, उससे यहाँ प्रयोजन नहीं। हमारे विचार करने का मुख्य विषय यह है कि विश्व-राज्य के निर्माण में ये बातें कहाँ तक सहायक होंगी। बहुत बड़े राज्यों के निर्माण में एक बड़ी बाधा समय और दूरी की रही है, ज्यों-ज्यों यह समस्या हल होती गई है, बड़े-बड़े राज्यों के कार्य संचालन की असुविधाएँ घटती जाती हैं। इस समस्या को हल करने में विज्ञान ने अनेक रूपों में सहायता की। हम यहाँ केवल इस बात पर विचार करेंगे कि खास कर हवाई जहाज इसमें कहां तक भाग लेने वाला है। इससे पाठक विचार कर सकेंगे कि विज्ञान के सब यंत्रों का असर मिलकर कितना ज्यादह होगा।

अनुमान किया जाता है† कि अब से बीस तीस वर्ष बाद हवा से सफर करने की सुविधा उसी तरह सब लोगों को मिल जायगी, जिस तरह आज रेल और ज़हाज की सुविधा सब को मिली हुई है। हवाई जहाजों की मामूली चाल ४०० मील फी घंटा होगी, तब दुनिया का

*अप्रकाशित 'त्रिकाल दर्शन' के, 'शुभचिन्तक' में उद्धृत अंश से।

†श्री० जे० आर० डी० टाटा के बाम्बे रोटरी क्लब के, सन् १९४३ के भाषण से।

कोई कोना किसी के लिये २४ घंटे की यात्रा से ज्यादह का नहीं रह जायगा। आदमी दूरी और समय के बंधनों से आजाद हो जायगा। संसार उस समय सिमट कर बहुत छोटा हो जायगा। सदियों तक आदमी जमीन पर दौड़ते हुए घोड़े की चाल से, और पानी पर बाद-बानी किश्तियों की चाल से, यात्रा करता रहा है। इसके बाद रेलों, मोटर गाड़ियों, और भाप से चलने वाले जहाजों का युग आया, और, आदमी की चाल पहले से तिगुनी हो गयी। आदमी स्वभाव से ही दूरी को, यात्रा में लगने वाले समय से मापता है। इस तरह हम कह सकते हैं कि आदमी के लिए नया संसार पहले की निस्बत एक तिहाई रह गया। आज कल हम जमीन पर ४० मील फी घंटा और समुद्र पर २० मील फ़ी घंटा के हिसाब से दूरी की माप करने के आदी हो गये हैं, और संसार के सम्बन्ध में हमारी धारणा भी इसी माप पर बनी है।

हम कलकत्ते के सम्बन्ध में यह नहीं सोचते कि वह बम्बई से १,१०० मील दूर है, पर यह सोचते हैं कि बम्बई से ४० घंटे की यात्रा है। इसी तरह पूना के लिये हम यह नहीं सोचते कि वह ७५ मील दूर है, बल्कि यह सोचते हैं कि ३ घंटे का रास्ता है। पर जब हम कलकत्ते भी उतनी देर में पहुँचने लगेंगे जितनी। देर में इस समय बम्बई से पूना पहुँचते हैं, जब हम काहिरा भी उतनी ही जल्दी पहुँचने लगेंगे जितनी जल्दी अहमदाबाद पहुँचते हैं, जब हमें न्युयार्क पहुँचने में भी उतना समय लगेगा जितना मदरास जाने में लगता है, तब दूरी के लिहाज में कलकत्ता वहाँ आ जायगा; जहाँ आज पूना है, लन्दन दिल्ली की जगह पर आ जायगा; काहिरा अहमदाबाद के स्थान पर, और न्यूयार्क मदरास के स्थान पर आ जायगा। इसके यही मानी निकलते हैं कि उस समय संसार आजकल की निस्बत १५ गुना छोटा हो जायगा।

इस तरह दुनिया के सिमट कर छोटी हो जाने से और जीवन के के रहन सहन का मान बढ़ जाने से, मुझे आशा है, यात्रा करना भी

बहुत बढ़ जायगा। इससे केवल तिजारत और उद्योग धन्धों की समृद्धि ही नहीं होगी, बल्कि संसार के लोगों को दूसरे देश देखने और वहाँ के निवासियों को समझाने बुझाने का भी मौका मिलेगा। हम विदेशियों से इसीलिये घृणा करते हैं कि हमारी उनके बारे में जानकारी बहुत कम है, और इसके फल-स्वरूप यह धारणा बंध जाती है कि वे हम से अलग हैं। हवाई ज़हाजों के युग में जब हजारों मील की दूरी पर रहने वाले लोग एक-दूसरे से मिलने-जुलने लगेंगे तो अविश्वास और संघर्ष की भावना अपने आप हट जायगी। इसके साथ ही जीवन का दृष्टिकोण और रहन-सहन का भेद-भाव भी अपने आप मिटने लगेगा। राजनैतिक सीमाएँ टूटती हुई नजर आएँगी, पासपोर्ट और सिक्के की रोक लोगों को असह्य हो जायँगी और मन की गांठें खुल जाने से अपने आप धीरे-धीरे एक मिली जुली विश्व-संस्कृति का विकास होगा। इसलिए हवाई जहाजों के युग का मुख्य नतीज़ा यह होगा कि संसार के लोग एक दूसरे के पड़ोसी हो जायँगे, और मन वचन और काम से एक दूसरे के नजदीक आ जाँयगे।

यह ठीक है कि दूसरी चीजों की तरह हवाई जहाजों का दुरुपयोग हो सकता है, कि और इस समय युद्धों में हो ही रहा है। बात यह है कि इस समय विज्ञान साम्राज्यवाद का दास है, इसलिये संहार में सहायक हो रहा है। साम्राज्यवाद का अंत होने पर ऐसा न रहेगा। अब भी विज्ञान आदमी को अपने हजारों कोस की दूरी पर रहने वाले भाई से मिलाने में मददगार हो रहा है, काले पीले और गोरों को, यहूदी ईसाई, मुसलिम और पार्सी को एक दूसरे के साथ मिला रहा है। किन्तु इस समय यह मिलन कभी दो या अधिक वर्गों में दोनों के हित के लिए होता है, और कभी बलवान द्वारा निबल के शोषण के लिए। निदान, विज्ञान का उपयोग मानवता या मानव प्रेम की वृद्धि के लिए भी हो सकता है, और होता है। जरूरत है कि आदमी विज्ञान से प्राप्त शक्ति को अपना संहार करने में न लगावें।

ज़ाहिर है कि दूरी की समस्या जितनी अधिक होती है, उतना ही संगठन छोटे छोटे दायरों में रहने वालों का अधिक होता है। ज्यों ज्यों मेल जोल या आने जाने के साधनों की वृद्धि होती है, दूर दूर के आदमियों का सँगठन सुगम होता जाता है। पुराने ज़माने में मनुष्यों का संगठन छोटे छोटे समूहों में था, धीरे धीरे दूर दूर के आदमियों का मिलना और आपसी सम्बन्ध बढ़ा। उसी के अनुकूल धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक नियमों की रचना बड़े-बड़े समूहों के हित के लिए की जाने लगी। विज्ञान समय और दूरी के बन्धन को काट कर मनुष्य-जाति की एकता और विश्व-राज्य के निर्माण का रास्ता साफ़ करता जा रहा है।

बाइसवां अध्याय

विश्व-संघ की जरूरत

मनुष्य क्रमशः गृहस्थी की परिधि, समाज के घेरे, जाति के मंडल, राष्ट्र के व्यूह व साम्राज्य के महाव्यूह में आया। अब वहाँ से वह सार्वभौमिक बनना चाहता है—हृदय की संकीर्णता त्याग वह विश्व नागरिक बनना या विश्वात्मा में लीन होना चाहता है। मानव उपर्युक्त कुल सीढ़ियों को लाँघ कर इस उद्देश्य की सिद्धि करना समाज का परम धर्म और कर्तव्य है। —'अभ्युदय'

मनुष्य जाति के इतिहास में विश्व-राज्य की एक निश्चित, किन्तु कुछ बिखरी हुई सूचना है। पहले मनुष्यों की व्यक्तिगत सत्ता न थी; सब अधिकार बड़ों या बुजुर्गों का होता था—बड़ा कभी घर का बूढ़ा और कभी समाज, जाति या धर्म का नेता होता था। धीरे-धीरे केवल बड़े बूढ़ों की हकूमत हट कर मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता भी मानी जाने

लगी। मनुष्य की जरूरतो और उसकी अन्दर की प्रेरणाओं ने मिलकर व्यक्तियों का परिवार बनाया, परिवारों के वंश बनाये, वंशो से कबीले या कुल बने, कुलो का राष्ट्र बना, और राष्ट्रों का साम्राज्य या संघ-राज्य। साम्राज्यो का रूप अब बहुत हानिकर हो गया है। जनता अब संघ-राज्यों से बड़ी-बड़ी आशाएँ कर रही हैं। पर क्या संसार में कई संघ-राज्यों का होना हितकर होगा? मनुष्य चिरकाल से संगठन करता आ रहा है। यह संगठन का काम उस समय तक चलता रहेगा, जब तक सब संसार के आदमियों का एक संगठन इतना विशाल न हो जाय कि उसमें सारी मनुष्य जाति समा जाय, कोई भी हिस्सा उससे बाहर न रहे।

जिन कारणों से व्यक्ति से परिवार और परिवार से धीरे-धीरे वंश, कबीला, जाति, राष्ट्र और साम्राज्य बने, वे कारण अब भी मौजूद हैं। इसलिए यह नतीजा बिल्कुल तर्क संगत है कि साम्राज्य से आगे बढ़ना अनिवार्य है। मनुष्य ने अपने उत्थान में जो सीढ़ियाँ पार की हैं, उनमें दो परस्पर विरोधी कारणों का पता चलता है। मनुष्य में प्रेम की भावना है, लेकिन जब प्रेम का क्षेत्र सीमित रहता है, तो वह उस क्षेत्र के बाहर के लोगो से लड़ाई झगड़ा करता है। जब परिवार बना तो परिवार के सदस्य एक दूसरे के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार हुए। पुरुष स्त्री से, और स्त्री पुरुष से, और दोनों अपनी संतान से खूब प्यार करते हैं, यहाँ तक कि वे इसमें किसी दूसरे प्रतिद्वन्दी का होना सहन नहीं कर सकते। पुरुष और स्त्री की यह खुली चुनौती रहती है कि जितना प्यार हम एक दूसरे से और अपनी संतान से करते हैं, उससे ज्यादह कोई भी दूसरा नहीं कर सकता, परन्तु इनके प्रेम का क्षेत्र सीमित था, ये अपने परिवार से बाहर के व्यक्तियों से लड़े झगड़े। एक परिवार दूसरे परिवारों से लड़ा। जब इन परिवारों की एक जाति बनी तो परिवारों का आपसी युद्ध बहुत-कुछ बन्द हुआ। एक जाति के अन्तर्गत परिवारों ने आपस में प्रेम और सहयोग से

रहना सीख लिया। परन्तु पुराने संस्कारों के कारण एक जाति दूसरी जाति से लड़ती रही। धीरे-धीरे पास रहनेवाली, और एक दूसरे से लड़नेवाली जातियों ने देखा कि आपस में मेल किए बिना गुजर नहीं, इस पर वे आपस में दूध और चीनी की तरह ऐसी मिल गई कि देखने वाले के लिए वह मिश्रण या मिलावट न मालूम होकर एक ही चीज हो गई। एक कौम या राष्ट्र के अन्दर जितने व्यक्ति, परिवार या जितनी जातियाँ होती हैं, वे सब अपनी अलहदगी को और पुराने झगड़ों को भुला देती हैं; और एक-दूसरे की भलाई के लिए भारी कुर्बानी या त्याग करने लगती और तरह-तरह की तकलीफें उठाने को तैयार रहती हैं। उनमें से एक का दुख सब का दुख होता है, और एक के सुख में सब सुखी होते हैं।

सामाजिक सङ्गठन आगे बढ़ता गया। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के सम्पर्क में आया; कुछ राष्ट्र यदि मित्रता या स्नेहवश आपस में मिले, तो अनेक बार एक राष्ट्र की स्वार्थपरता ने उसे दूर-दूर तक नजर दौड़ाने और जिस प्रदेश पर उसका वश चले, उसे हथियाने को मजबूर किया। यह काम चुपचाप शान्ति के साथ नहीं हो गया। बुरे भले सभी तरीके काम में लाए गए। साम, दाम, दंड, भेद, किसी भी उपाय को उठा नहीं रखा गया। लड़ाई-झगड़े हुए, खून-खच्चर हुआ, महीनों या वर्षों ही नहीं, कहीं-कहीं सदियों के हिन्सा-कांड के बाद राष्ट्रों ने अपना स्वार्थ सिद्ध कर पाया। राष्ट्रों ने जो साम्राज्य-निर्माण की तरफ कदम बढ़ाया, उसमें मानव प्रगति की पहली मंजिलों की तरह बल्कि उनसे भी बढ़ कर लड़ाई-झगड़ों की सीढ़ियाँ पार की गई हैं। फिर भी इन सब लड़ाई-झगड़ों में मनुष्य की उन्नति का तत्व छिपा रहा है।

समाज-सङ्गठन में बढ़ते-बढ़ते हम साम्राज्य तक आए। पर आज कल के साम्राज्य अपने अधीन देशों का शोषण करते हैं और एक दूसरे से ईर्षा करते और लड़ते झगड़ते हैं। उनके आपसी महायुद्ध हमें चेतावनी दे रहे हैं कि इस समय की विश्व-व्यवस्था ठीक नहीं है।

इसमें जड़ मूल से परिवर्तन होना चाहिए।

मनुष्य ने साम्राज्य के अलावा एक और भी प्रयोग किया—सङ्घ-राज्य का। कई-कई राज्यों का आत्मरक्षा के लिए या आर्थिक या राजनैतिक उन्नति के लिए, मिल कर एक सङ्घ-राज्य बना। सङ्घ ने अपने अन्दर के निवासियों का हित साधन किया, पर इसमें भी वह वर्ण-भेद यानी काले गोरे के रोग से नहीं बच पाया। अपने क्षेत्र से बाहर के राज्यों से उसका व्यवहार साम्राज्यवादी राष्ट्रों की ही तरह गैरियत या परायेपन का होता है। सङ्घ-राज्य भी दूसरे देशों को अपने अधीन बनाए रखने और उनका शोषण करने का अभिलाषी होता है, जैसा कि हम अमरीका के संयुक्त राज्यों के विषय में पहले लिख चुके हैं।

निदान, साम्राज्य हों या सङ्घ-राज्य हों, इन सङ्गठनों ने संसार को ऐसे अलग-अलग टुकड़ों में बांट रखा है, जिनके स्वार्थ एक दूसरे से टकराते हैं। फिर, दुनिया का काफी हिस्सा ऐसा रहता है, जो उनके क्षेत्र से बाहर होता है। और, जब तक कोई भी हिस्सा ऐसा रहेगा, जिसे हम अपना न समझ कर पराया या गैर मानें, या जो अपने आपको अलग रखे, और दूसरों के सुख-दुख से बेपरवाह रहे, तब तक टिकाऊ शान्ति नहीं हो सकती, आगे पीछे युद्ध होना अनिवार्य रहेगा।

यह बात इतनी सीधी और साफ़ है कि इस पर जोर देने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। परन्तु कितने ही बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ भी संसार की नई व्यवस्था या विश्व-शान्ति की योजनाएँ बनाते समय; इसे भूल जाते हैं। कुछ लोग सिर्फ यूरप और अमरीका संयुक्त-राज्य एकता का विचार करते हैं, इनमें से बहुतसों के दिमाग में यूरप का उतना ही हिस्सा होता है जो उस महाद्वीप में से सोवियत रूस और उसके प्रभाव वाले देशों को अलग कर देने पर बाकी रहता है। कुछ लोग इससे मिलती-जुलती दूसरी योजनाएँ बनाते हैं, पर उनकी भी अकसर कुछ सीमाएँ होती हैं।

जैसा कि डाक्टर बेनी प्रसाद के, 'योगी' में प्रकाशित, एक लेख में कहा गया है, "जब तक एशिया, अफ्रीका और दुनिया के दूसरे हिस्सों में साम्राज्यवादी शोषण और विदेशी शासन कायम रहेंगे तब तक शान्ति कायम नहीं हो सकती। तब तक बहुत ही सतर्कता और दूरन्देशी के साथ तैयार किया हुआ मसविदा भी अकाल कवलित हो जायगा। जब तक इन भू-भागों पर शासन करने वाले लोग अपने शासितों को अपनी विलास-सामग्री जुटाने का साधन मात्र समझते रहेंगे, तब तक शान्ति कायम नहीं हो सकती। किसी दूसरे देश की कमजोरी से लाभ उठाकर उसका शोषण करने और उसके बाशिन्दों को उच्च जीवन व्यतीत करने के योग्य न बनने देने से तो युद्ध की विभीषिका दिनोंदिन बढ़ती ही जायगी।"

हमें ध्यान रखना चाहिए कि जब बहुत से छोटे-छोटे राज्य होते हैं तो बहुत सी छोटी-छोटी लड़ाइयाँ होती हैं। जब बड़े-बड़े राष्ट्र-राज्य, साम्राज्य या संघ-राज्य बन जाते हैं तो लड़ाइयाँ कम हो जाती हैं, पर उनका फैलाव और भयंकरता बढ़ जाती है। इतिहास से पता चलता है कि विविध राज्यों का एक दूसरे से लड़ने का मानो नियम ही है। 'राज्य' झगड़ालू रहा है; इस समय भी उसका स्वभाव लड़ने का है, भविष्य में भी ऐसा ही रहेगा। जब तक बहुत से राज्य हैं, तब तक उनमें युद्ध होंगे। जब तक एक से अधिक राज्य होंगे, चाहे वे दो ही क्यों न हों, युद्ध टल नहीं सकते। जब द्वैत भाव का अन्त हो जायगा, जब 'एकमेव द्वितीयो नास्ति' की स्थिति आ जायगी, तभी युद्धों और महायुद्धों का अन्त होगा। शान्ति चाहती है कि विश्व-बंधुत्व के आधार पर, विश्व में केवल एक राज्य का संगठन हो। संसार में विश्व-राज्य की स्थापना ज़रूरी है—संहार कार्य को बन्द करने के लिए और सभ्यता की रक्षा के लिए।

संसार में राज्य एक ही होना चाहिए; अगर दो होंगे तो भी युद्धों का अन्त नहीं होगा। उन दोनों राज्यों में से हर एक की यह इच्छा बनी

रहेगी कि वह दूसरे से अधिक बल-वान हो, और इसलिए वह मौका पाते ही दूसरे राज्य का कुछ हिस्सा जीतने और अपने में मिलाने की कोशिश करता रहेगा। और उसकी यह कोशिश ही युद्ध का रूप लेगी।

बहुत पुराने समय से लेकर अब तक के इतिहास पर नजर डालें तो राज्यों का आकार-प्रकार धीरे-धीरे बढ़ा है। इसका नतीजा यह हुआ है कि संसार के राज्यों की कुल संख्या में अधिकाधिक कमी होती गई है। यही क्रम चलता रहा—और इसके चलते रहने की पूरी आशा है—तो एक समय ऐसा आए बिना न रहेगा कि जब संसार भर में सिर्फ दो और अन्त में केवल हो राज्य रह जायगा। और ऐसा होने के लक्षण साफ दिखाई देते हैं। इस सिलसिले में श्री मंज़रअली सोख्ता की नीचे दिया हुआ लेख विचार करने योग्य हैं :—

'जहाँ तक सच्ची राजकाजी आजादी का सवाल है, वहाँ तक दुनिया में केवल दो ही हुकूमतें पूरे तौर पर आजाद रह गई है—अमरीका और रूस। बाकी सारी हुकूमते देखने में आजाद है, पर सच यह है कि अपनी आजादी बनाए रखने के लिए उनका तलवार पर जो भरोसा था वह हमेशा के लिए मिट चुका। दुनिया की हालत बता रही है कि यह दो बड़ी हुकूमते भी बहुत दिनों तक अपने अलग-अलग वजूद (अस्तित्व) को इसी तरह कायम नहीं रख सकतीं। या तो यह सुलह और समझौते करके एक दूसरे से मिल जायँगी और या एक दूसरे से लड़ कर कोई एक दूसरी पर अपना कब्जा जमा लेगी। ऐसी सूरत में जीती हुई हुकूमत हारी हुई हुकूमत से इस तरह के हथियार बनाने का अधिकार पूरी तरह छीनकर उसे हमेशा के लिए महकूम (शासित) और मोहताज बना लेगी। इस तरह दुनिया की हालत बता रही है कि सारी इंसानी सभ्यता, जहाँ तक उसका राजकाजी पहलू है और उस पहलू का तलवार से सम्बन्ध है, एक बड़ी हुकूमत के अधीन

होने जा रही है। इस बहाव को कोई शक्ति रोक नहीं सकती।'*

संसार का राजनैतिक इतिहास बेशुमार छोटे-छोटे राज्यों की जगह, कम संख्या में बड़े-बड़े राज्य बनने की कथा है जिससे अन्त में जाकर सब राज्यों की जगह एक ही राज्य लेले। और यह स्पष्ट ही है कि युद्धों से बचने के लिए, शान्ति स्थापना के लिए, संसार भर के सब राज्यों का एक संघ-राज्य यानी विश्व-राज्य होने की अनिवार्य आवश्यकता है। पृथ्वी पर राजनैतिक संगठन केवल एक ही होना चाहिए। एक राज्य, एक झंडा, एक नीति, एक आदर्श, एक जीवन, यह हमारा लक्ष्य है।

इस लक्ष्य की पूर्ति संधियों या समझौतों से होने वाली नहीं है। जरूरत है कि नैतिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक सब दृष्टिकोणों से काम लिया जाय। नैतिक दृष्टि से आपको और मुझे—हर व्यक्ति को—युद्ध से वैसे ही बचना चाहिये, जैसे हम रोजमर्रा की जिन्दगी में चोरी या हत्या से बचते हैं। सामूहिक हत्या वैसे ही गलत है, जैसी व्यक्तिगत हत्या। सांस्कृतिक दृष्टि से, लोगों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए, जो विश्व-इतिहास, विश्व-साहित्य और विश्व-भाषा के पढ़ने-पढ़ाने से उनमें विश्वबंधुत्व की भावना पैदा करे। राजनैतिक दृष्टि से विश्व-नागरिकता का प्रचार करके राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद को मिटाना चाहिए। आर्थिक दृष्टि से पूंजीवाद की जगह लोकतंत्रात्मक समाजवाद को दी जानी चाहिए। इन विषयों पर खुलासा विचार अगले अध्यायों में किया जायगा।

—:o:—

* 'म० गाँधी की वसीयत' से।

तेइसवां अध्याय

विश्व-संघ के आधार

—०—

[स्वतन्त्रता, समानता और विश्वबंधुत्व]

अगर तुमने हवाई महल बनाये हैं तो इससे तुम्हारा कार्य नष्ट नहीं होगा। महल तो हवा ही में बनाए जाने चाहिएँ; बस अब उनके नीचे नींव रखदो।

—थोरो

अब तक प्रायः राज्य का आधार शक्ति मानी गयी है। कुछ लोगों ने यह साफ-साफ स्वीकार नहीं किया, तो कुछ ने यह खुल्लम-खुल्ला कहा है। शक्ति सिद्धान्त के प्रचार का फल मानव जाति चिरकाल से देखती और भोगती आ रही है। संसार हमेशा युद्धों में फंसा रहा है। हमें अब यह समझ लेना चाहिए कि विश्व-राज्य या विश्व संघ हिन्सा या बल-प्रयोग के कमजोर आधार पर कायम नहीं होगा, उसके आधार मजबूत, व्यापक और सब के भले के सिद्धान्त होंगे। ये सिद्धान्त तीन हैं—(१) स्वतंत्रता या आजादी, (२) समानता या बराबरी, और (३) विश्व-बन्धुत्व या भाईचारा।

१—स्वतन्त्रता

सब नागरिकों को अपने विचार प्रकट करने भाषण देने, सम्मेलन करने, बहस कहने, आज़ादी के साथ पुस्तक या समाचारपत्र आदि छापने और आलोचना करने आदि की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

मनुष्य इस तरह पैदा नहीं होता कि उसकी जबान रस्सी से बंधी हो, या उसके हाथों में जंजीर पड़ी हो। अपनी इच्छानुसार सोचने, बोलने और काम करने में स्वतन्त्र न होना—यह मनुष्य से कुछ कम होना है, यह उन पशु पक्षियों से भी नीचे दरजे का होना है, जो अपनी मर्जी के मुताबिक ज़िन्दगी गुज़ारते हैं। केवल स्वतन्त्र पुरुष और स्त्री ही सीधे खड़े होकर चल सकते हैं, सच बोल सकते हैं, और मानवता की पूरी उंचाई तक उठ सकते हैं। पूर्ण स्वतन्त्रता ही वह भूमि है, जिसमें मनुष्य का व्यक्तित्व बढ़ता और विकसित होता है, और उसमें सौन्दर्य, ज्ञान, नेकी, आनन्द और प्रेम के उत्तमोत्तम फल लगते हैं। केवल स्वतंत्र आदमी ही यह कह सकता है "मैं सोचता हूँ, मैं महसूस करता हूँ, मै इच्छा करता हूँ; इसलिए मैं हूँ।" स्वतन्त्रता ही मनुष्य को मशीन से ऊपर उठाती है। (यदि हम सुन सकें तो) विकास करने वाली हर आत्मा अपने जन्म के समय यह कहती है कि "मैं अधिकार पूर्वक स्वतन्त्र हूँ, किसी को मुझे पराधीन करने का अधिकार नहीं है। मै खुद अपना कानून हूँ, जब कानून नहीं था तब भी मै रही हूँ। यदि दूसरे मेरी मदद करें तो अच्छी बात है, पर कोई मेरे आगे बढ़ने में, मेरी प्रगति में रुकावट न डाले।"

विश्व-राज्य मानव व्यक्तित्व की पवित्रता का आदर करेगा। किसी पर कोई बन्धन न लगाया जायगा, किसी का मुंह बन्द न किया जायगा; क्योंकि विश्व-राज्य में किसी के मौरूसी या रूढ़िगत स्वार्थ न होंगे, जिन्हें स्वतन्त्र भाषण या लेखन से डर रहता है। स्वतन्त्रता का सबसे बढ़कर विकास समानता की उस भूमि में होता है, जहाँ कोई गरीब आदमी धनवानों की थैलियों के बोझ से, कुचला नहीं जाता। पुरातन-वाद या रूढ़िवाद को आलोचना का डर लगा रहता है। परन्तु विश्व-राज्य प्रगति या उन्नति को अपना मूल सिद्धान्त यानी बुनियादी असूल मानता है। वह यूनान, हिन्दुस्तान या चीन की सी ढली ढलाई रीति नहीं चाहेगा, उसे तो नये प्रयोगों और नयी संस्थाओं

में आनन्द आयेगा। उसमें कोई दिन अपने स्वप्न बिना न होगा कोई महीना अपनी नवीनता बिना, और कोई वर्ष अपनी कल्पना के बिना न होगा।

प्रगति परिवर्तन पर निर्भर रहती है, तरक्की तब्दीली पर। इसलिए सब नागरिकों को आलोचना और संशोधन की आज़ादी रहनी चाहिए। नया विचार पहले किसी एक व्यक्ति के मन में, या कुछ व्यक्तियों के मन में, पैदा होता है। बाद में वह समाज द्वारा स्वीकार किया जाता है, जो उसका नामकरण और पालन पोषण करता है। यदि स्वतन्त्रता की कमी होगी तो नए विचार पैदा ही न होंगे; यदि उनका जन्म भी हुआ तो वे मृतावस्था में होंगे। नए विचारों का जन्म रोकना या उनका गला घोटना मानवता के प्रति एक भयंकर अपराध है। अच्छे विचार की हत्या करना ऐसा ही है, जैसे अच्छे आदमी को मार डालना। नए विचारों की उत्पत्ति में कोई बाधा खड़ी नहीं की जानी चाहिए। उनकी तादाद बढ़ने से डरने की ज़रूरत नहीं, उनमें से जो गलत या अयोग्य होंगे, वे जीवन-संघर्ष में खुद ही समाप्त हो जायँगे। जो योग्य होंगे, वे बच रहेंगे; राज्य उन्हें परिस्थिति के अनुकूल बना लेगा, और उनका विकास करेगा।

अब तक जनता पर कानूनों, का कितना अधिक दबाव और बोझ रहा है! पिछले ज़माने में पोशाक, खेल-कूद, धर्म और भोजन तक के बारे में राजनियमों का बन्धन रहा है; इंगलैंड में तेरहवीं, चौदहवीं, और पंद्रहवीं सदी में पोशाक के बारे में पार्लिमेंट के कानून जारी थे। अब भी कितनी ही बातें ऐसी हैं जो एक देश में रिवाज मानी जाती हैं, और दूसरे में अपराध समझी जाती हैं। कितने ही राज्यों में वेश्या का पेशा कानून से बन्द और दंडनीय है, तो कुछ राज्य ऐसे भी हैं जहाँ इसकी खुली इजाज़त है। कुछ राज्यों में तमाखू पीना मना है, तो दूसरे राज्यों में सरकार को तमाखू बेचने का एकाधिकार है। इंगलैण्ड में हजरत ईसा की निन्दा करना अपराध माना जाता है, पर रूस में

ऐसा नहीं है। वहाँ मार्क्स या लेनिन को बुरा भला कहना निन्दनीय है। हिन्दुस्तान में नंगे साधु जलूस बना कर चल सकते हैं, अमरीका में ऐसा करना दंडनीय है। व्यावहारिक नियम यही मालूम होता है कि राष्ट्र उस बात या रिवाज को रोकते और उसके लिए दंड देते हैं, जो उस युग में व्यक्ति या समाज के लिए हानिकर समझा जाता है। लेकिन इसमें सिद्धान्त की कोई बात नहीं है। हर दल, सम्प्रदाय या धर्म अपनी रीति रस्मों या अपने व्यवहार को ही पवित्र और मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी समझता है। हर सत्ता दूसरों से अपनी बात मनवाने के लिए पुलिस, जेल और फांसी की मदद लेती हैं। स्वतंत्रता, कानून की इस तरह की, निर्दयता और सनक से घृणा करती है। पुरुष और स्त्री को पूरी तरह आज़ाद होना चाहिए। विश्व-राज्य में इसका यथेष्ट ख्याल रखा जायगा।

विश्व-राज्य में उचित शिक्षा और अच्छी संस्थाओं के प्रताप से सब नागरिक नेक और ज्ञानवान होंगे। वे स्वयं अपने स्वभाव से ही नेक काम करेंगे। उनके पालन पोषण और दिनचर्या में ही उन्हें इस बात की शिक्षा मिल जायगी कि वे मन, बचन और काम से सब का हित साधन करें, और यह समझें कि सब के हित में ही उनका हित है। उन्हें कानून की ज़रूरत न होगी; पूर्ण स्वतन्त्रता के कारण ही वे समाज-विरोधी काम करने से बचे रहेंगे। डर से किया हुआ नेक काम, स्वतन्त्रता पूर्वक किए हुए बुरे काम से भी, किसी अंश में बुरा है, क्योंकि स्वतन्त्र मनुष्य किसी-न-किसी दिन नेक काम करना सीख लेगा, परन्तु गुलाम कभी नहीं सीख सकता। ज़बरदस्ती स्वतन्त्रता को नष्ट कर देती है, और जब स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है तो सत्कार्य या नेकी भी मर जाती है।

स्वतंत्रता की सीमाओं पर बहस करना बेकार है। लोगों को अच्छे स्कूल और अच्छी आर्थिक और राजनैतिक संस्थाएँ दीजिए, नागरिकों को योग्य बनाइए, सहकारिता कायम कीजिए, प्रतिद्वन्दिता और दमन

को छोड़ दीजिए, तब अपरिमित स्वतन्त्रता के व्यवहार से भी कुछ डर न होगा; वह हर नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार है। जिस दासता में आदमी इस समय अनेक कानूनों द्वारा बंधा हुआ और कुचला हुआ है, उससे मुक्ति पाने का यही एकमात्र उपाय है। अगर मैं दूसरों के दुख सुख को समझ सकूं, दूसरों के दुख को अपना दुख, और दूसरों के सुख को अपना सुख मान सकूं, अगर मेरे मन में उन कामों के ही करने की इच्छा हो जो मेरे भाई, बंधु, पड़ोसी या साथी मुझ से कराना चाहते हों तो मेरी स्वतन्त्रता में कोई बाधक होना क्यों चाहेगा?

२—समानता

आजकल दुनिया में विषमता का भयङ्कर दौरदौरा है। रंग या जाति-भेद के बारे में पहले लिखा जा चुका है। खास बात यह है कि यूरोप की गोरी जातियों के आदमी रंगदार आदमियों से अपने आपको ऊँचा मानते हैं, और यूरप में भी जर्मन अपने आपको सबसे ऊँचा समझते हैं। डाक्टर ले ने ३१ जनवरी १९४० के 'एंगरिफ' में लिखा था कि 'ऊँची जाति की निस्बत नीची जाति वालों को कम जगह, कम कपड़ा, कम भोजन और कम संस्कृति की ज़रूरत होती है; कोई जर्मन उन हालतों में गुज़र नहीं कर सकता, जिन में एक पोल या यहूदी कर सकता है।' यह भावना आजकल की सभ्यता के लिए बड़ा कलंक है।

समानता छः तरह की होती है—शारीरिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक। इन छओं तरह की समानता के बिना विश्व-राज्य फले फूलेगा नहीं।

(क) शारीरिक समानता। हमारा आदर्श मनुष्य जाति की ऐसी शारीरिक उन्नति करना है कि लोगों की शक्ति, तन्दुरुस्ती और सौंदर्य में लगभग समानता हो। अंधे, गूंगे, बहरे और अपाहज आम तौर पर अन्याय के शिकार बन जाते हैं। शारीरिक शक्ति में बहुत अधिक

असमानता से गुंडों और कायरों का जन्म होता है। यदि थोड़े से ही नागरिक सुन्दर हों तो उनमें अहंकार और चंचलता आ जाती है, और बहुत बदसूरत आदमी जीवन भर अपने अन्दर हीनता का अनुभव करते रहते हैं। विश्व-राज्य के नागरिक कमज़ोर या बदसूरत नहीं होने चाहिएँ।

(ख) आर्थिक समानता। इस पर विचार धन के बँटवारे के सम्बन्ध में किया जायगा।

(ग) सांस्कृतिक समानता। शिक्षा की समानता को राज्य की बीमा-पालिसी कह सकते हैं। शिक्षा ही नागरिकों को राज्य के योग्य बनाती है। शिक्षा ही से एकता और सामञ्जस्य पैदा होते हैं। शिक्षा चरित्र का निर्माण करती है, और जीवन के आदर्शों को दिल में बैठा देती है। पानी और रोटी की तरह शिक्षा सब के लिए खुली होनी चाहिए। इस समय थोड़े से धनी परिवारों ने उच्च शिक्षा पर एकाधिकार जमा रखा है जब कि लाखों निर्धन नागरिकों को थोड़ी बहुत जो भी शिक्षा मिल जाय, उसी से संतोष करना पड़ता है। समाज दो सांस्कृतिक श्रेणियों में बँटा हुआ :—(१) कालिजों में शिक्षा पाए हुए थोड़े से भाग्यशाली पुरुष, स्त्रियाँ और (२) प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त या उससे भी वंचित असंख्य नागरिक। इस विषमता का नतीजा यह है कि कुछ इने गिने लोग तो कई विषयों के 'डाक्टर' हो जाते हैं, और अधिकांश जनता के लिए 'काले अक्षर भैंस बराबर'। ऐसे दो वर्गों में उचित सामाजिक सम्बन्ध होना असम्भव है। शिक्षित आदमी साहित्य, संगीत कला आदि की चर्चा में लीन रहता है, वह इन विषयों के ज्ञान से हीन अपने असंख्य भाइयों को भर्तृहरि के शब्दों में 'बिना सींग और पूँछ के पशु' समझता है। समाज के ऐसे विद्वानों और मूढ़ पुरुषों में मेल कैसे हो सकता है! हमें सब नागरिकों के लिए एक लगभग समान कोटि की शिक्षा तय कर लेनी चाहिए। मौलिक खोज या अनुसन्धान का काम खास लगन वाले विद्वान करें। समाज अलग-अलग टुकड़ों

में—शिक्षित और अशिक्षितों में—बँटा न रहना चाहिए। विश्व-राज्य में यह नहीं चल सकता।

एक और तरह की भी समानता जरूरी है। नागरिकों को ऐसा अभ्यास कराया जाना चाहिए कि सब लोग शारीरिक और मानसिक दोनों तरह के काम करें। इस समय समाज का एक बँटवारा दिमागी काम करने वालों और मजदूरों में हो रहा है। पढ़े लिखे में बहुत से ऐसे मिलेंगे, जिनसे अपने कपड़े धोते या अपने कमरे में झाड़ू लगाते नहीं बनता। जब उनका कोई मित्र या अतिथि आता है तो उन्हें यह कहने में संकोच नहीं होता, "क्या करें, आजकल हमारे यहाँ कोई 'आदमी' (नौकर) नहीं है, इसी से कपड़े मैले पड़े हैं, और कमरे में भी सफाई नहीं है।" इस कथन में उनकी यह भावना साफ़ है कि हम तो दिमागी काम करने वाले ठहरे, जरूरत होने पर भी हम यह नीचे दरजे का काम नहीं कर सकते, यह तो बेपढ़ों और छोटे लोगों के करने का है। मानव जाति का यह भेद भाव बहुत लज्जाजनक है। यदि हम अब तक दिमागी काम करने वाले रहे हैं तो अब हमें कुछ हाथ के काम का अभ्यास करके इस भेदभाव को मिटाने में अगली हिस्सा लेना चाहिए। टाल्टाय, म० गांधी और थोरो जैसों के जीवन इस बारे में काफी शिक्षाप्रद हैं। यदि हम श्रमजीवी हैं तो हमें अपना फुरसत का समय लिखना-पढ़ना सीखने में लगाना चाहिए। हम यह न सोचें कि हमारी बहुत सी उम्र बीत गयी है, अब हम क्या सीख सकते हैं। मजबूत इरादे वालों के लिए आयु का विचार रुकावट नहीं डाल सकता। निदान समाज का, ऊपर बतायी हुई दो श्रेणियों में बँटना बन्द होना चाहिए।

(घ) सब नागरिकों को बराबर मताधिकार होना चाहिए। विश्व-राज्य में शिक्षा का ठीक प्रचार होने, और धन के बँटवारे की असमानता न रहने से योग्य-अयोग्य का इस समय भेद-भाव न रहेगा। साधारण कामों के लिए तो सभी योग्य होंगे। राज्य का ऊँचे से ऊँचा पद

भी किसी श्रेणी विशेष की बपौती न रहेगा। सब के समान अधिकार और सब को समान सुविधाएँ होंगी।

(च) सामाजिक समानता। विश्व-राज्य में सब नागरिक होंगे—मालिक और गुलाम नहीं। स्पृश्यास्पृश्य या छूत-अछूत का, सभ्य असभ्य का, या ऊंच नीच का भेद न होगा; काले गोरे का एशियाई और यूरपियन का, हिन्दू, ईसाई आदि का भेद न होगा। खाने पीने या विवाह सम्बन्ध करने में किसी पर कोई प्रतिबन्ध न होगा; आज दिन दो भले आदमी गहरे मित्र होते हुए भी, अलग-अलग जातियों या रंगों के या धर्मों के होने के कारण, साथ बैठ कर खा-पी नहीं सकते। अनेक बार युवक का ठीक अपनी पसन्द की युवती से, या युवती का अभीष्ट युवक से विवाह नहीं होने पाता; या तो रोमांचकारी आत्म-हत्या तक नौबत आती है, और या वे जन्म भर दुखी रहते हैं। ऐसे सामाजिक विकार विश्व-राज्य में हरगिज़ नहीं रह सकते। विश्व-राज्य में सामाजिक समानता होगी। कोई छोटा-बड़ा नहीं। सब समान साथी होंगे। उसमें लार्ड, नवाब-राजा रायबहादुर, खाँ बहादुर अथवा वर्णमाला के अक्षरों के विविध जोड़ तोड़ की बनी हुई उपाधियाँ नहीं होंगी। सरकारी उपाधियाँ समाज को टुकड़े-टुकड़े करने वाली हैं—जैसी ऊँची उपाधि वाले, छोटी उपाधि वाले और बिना उपाधि के। उपाधियों का आविष्कार समाज के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ है। विश्व-राज्य में इसका अन्त होगा।

(छ) नैतिक समानता। नीति और सदाचार के बिना राज्य प्राणहीन है। विश्व-राज्य के नागरिकों में ये गुण पूरे पूरे होने चाहिएँ। हर आदमी को निडर, निस्स्वार्थ, स्वावलम्बी निष्काम, विश्व-प्रेमी और परोपकारी होना चाहिए। नीति की कुछ मर्यादा सभी नागरिकों के लिए तय रहनी चाहिए; कुछ व्यक्ति उस मर्यादा से कुछ ऊँचे भले ही उठें, लेकिन इतनी विषमता न होनी चाहिए कि कुछ आदमी तो सन्त महात्मा हों, और दूसरे अत्याचारी, बदमाश या गुंडे। हम सब

को लगभग समान धरातल पर चलना ठीक होगा, इसी दृष्टि से नागरिकों की शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

३—विश्वबंधुत्व

विश्व-बंधुत्व मानव प्रेम की वह भावना है, जिसके बिना आदमी में पूर्णता नहीं आती। विश्व-राज्य में हमें अपूर्ण या अधूरे आदमी नहीं चाहिए, उसके नागरिकों में विश्व-प्रेम होना जरूरी है। और, जैसा लाला हरदयाल ने लिखा है, प्रेम हमेशा अधिकार से अधिक देने की ही बात सोचता है। धन के बँटवारे में इसका नियम यह है कि हर आदमी अपनी योग्यता के अनुसार काम करे और उसे उसकी जरूरत के अनुसार मिले। बच्चों का पालन पोषण अधिकारों से नहीं होता, प्रेम से होता है। बीमार आदमी धन पैदा नहीं करते और न्याय के कड़े नियम के अनुसार उनका अधिकार कुछ नहीं रहता, परन्तु प्रेम न्याय से अधिक शक्तिशाली है, और वह रोगियों को तन्दुरुस्त आदमियों से भी अधिक देता है।

प्रेम में आदमी अपने विषय में नहीं सोचता, सब के बारे में विचार करता है। वह अपनी इन्द्रियों के सुख की परवा नहीं करता, आत्मा के आनन्द का अनुभव करता है। वह दूसरों के दुख से दुखी, और दूसरों के सुख से सुखी होता है। प्रेम बहुत बातें नहीं बनाता, चुपचाप सब कुछ देखता है, और झटपट अपना सेवा कार्य कर डालता है। वह मुसकराता रहा है और उसकी बोली हमेशा नम्र होती है। उसमें अहंकार नहीं होता। वह घमंड नहीं करता। वह दूसरे की जरूरत को, उस दूसरे आदमी से भी पहले जान जाता है। वह इस बात का इन्तजार नहीं करता कि दूसरा आदमी कुछ मांगे, वह तो पहले से ही खुद सहायता करने के लिए दौड़ पड़ता है। वह किसी के दोषों का फैसला करने नहीं बैठता, वह तो हर अपराध को क्षमा कर देता है। वह अभिमान नहीं करता, और न देनदारों को कर्जे की याद दिलाता है वह देता है। और भूल जाता है; फिर और देता है

और फिर भूल जाता है। वह अपने काम का समान पारिश्रमिक या मेहनताना लेता है; पर उसे सब में बाँट [illegible] म 'मेरे-तेरे' की बात नहीं करता, 'हमारे' की बात करता है। वह किसी पर दोषारोपण नहीं करता। सेवा के लिए उसे कभी समय की कमी नहीं होती, वह कभी भी बहुत व्यस्त या थका हुआ नहीं होता। वह दूसरों के गुणों को बहुत जल्दी ध्यान में ले आता है, पर उनके दोष मालूम करने में मंदगति से काम लेता है। दूसरों की तारीफ़ में उसे आनन्द आता है, वह किसी पर इलज़ाम लगाने का इच्छुक नहीं होता। वह दूसरों की कही हुई अच्छी बातों को दोहराता है, पर बुरी बातों को सुनी-अनसुनी कर देता है। वह सब को प्रसन्न करता है, और अपनी तरफ खैंचता है। वह सबको यह अनुभव कराता है कि पुरुष स्त्रियाँ अनेक नहीं हैं, बल्कि सब एक हैं—वह 'एक' रहेगा, जबकि 'अनेक' बदल जायँगे या चले जायँगे। वह एक मानवता है, विश्व-राज्य या विश्व-संघ है, जिसमें सब रहेंगे, और चलें फिरेंगे। प्रेम धन्य है। आज दिन वह सब को सुख शान्ति देने वाला है, कल वह विश्व-संघ की आधार शिला होगा, जिसके नागरिकों के जीवन का मूल मंत्र यह होगा कि 'हर आदमी सब के लिए और सब हरेक के लिए।'

—०—

चौबीसवां अध्याय

विश्व-संघ की संस्कृति

हमें शिक्षण ऐसा देना है, जिससे विश्व-प्रेमियों, अहिंसकों आदि में आदरभाव अधिक हो, दिग्विजयी सम्राटों, अधिनायकों या सेना-नायकों में नहीं। —*स्वामी सत्यभक्त*

विश्व-राज्य के बारे में हमारा आदर्श बहुत कुछ जनता की संस्कृति पर निर्भर है। संस्कृति किसे कहते हैं? यह शब्द संस्कृत भाषा का है, और 'कृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'करना' है। इससे भाववाचक संज्ञा बनी 'कृति' जिसका अर्थ है 'काम' जो खुद कर्म का बदला हुआ रूप है। 'कृति' में 'सम' उपसर्ग जोड़ने से 'संस्कृति' शब्द की रचना होती है। 'सम' का अर्थ है 'अच्छी तरह', 'श्रेष्ठ रीति से'। इस प्रकार संस्कृति का अर्थ हुआ अच्छी तरह किया हुआ कार्य या वह कार्यप्रणाली जो श्रेष्ठ पुरुषों ने श्रेष्ठ रीति से मालूम की हो या बनाई हो। मनुष्य समाज के प्रसंग में संस्कृति का अर्थ उन बातों से है, जो मनुष्य के विविध गुणों का विकास करे या उन्हें प्रकाश में लावें। इस प्रकार संस्कृति में शिक्षा, साहित्य, कला, मनोरंजन, रहनसहन आदि विषयों का विचार होता है। पहले शिक्षा का विषय लें।

शिक्षा· इस बात को सब मानते हैं कि समस्त नागरिकों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए, जिससे उनकी नैसर्गिक शक्तियों और उनकी अभिरुचियों के स्वतंत्र विकास में सहायता मिले, और वे अपनी इच्छानुसार अपने लिए काम धंधे का चुनाव करके अपना निर्वाह और

कर्तव्य-पालन अच्छी तरह कर सके; इसमें उन्हें किसी तरह की रुकावट न हो। विश्व-राज्य में इसका पूरा-पूरा ध्यान रखा जाना ज़रूरी है। 'शिक्षा' में हम घर की और बाहर की (स्कूलों आदि में मिलने वाली) दोनों तरह की शिक्षा को शामिल करते हैं। इस समय हालत यह है कि घरों के अन्दर माता पिता आदि बच्चों को बहुत सी गैर ज़रूरी और दिमाग पर व्यर्थ बोझ डालने वाली बातें बतलाते हैं, वे उन्हें धर्म सम्प्रदाय, वंश और जाति बिरादरी सम्बन्धी अधिक-से-अधिक जानकारी कराने की कोशिश करते हैं; पर वे उन्हें वह बात नहीं बतलाते जो सबसे ज्यादह महत्व की है—यह कि हर मनुष्य, मनुष्य होने के नाते दूसरे मनुष्यों से सम्बन्ध रखता है; सब मनुष्य आपस में भाई-भाई हैं; राष्ट्र-भेद, सम्प्रदाय-भेद सब बनावटी हैं; हर आदमी को दूसरों से प्रेम, सहानुभूति और सहयोग का भाव रखना चाहिए। माता पिता का काम है कि बालकों को विश्वबंधुत्व की यह बुनियादी तालीम दें।

इस शिक्षा के काम को आगे बढ़ाने की जिम्मेवारी शिक्षा-संस्थाओं पर है। आजकल जहाँ तहाँ कुछ बड़ी-बड़ी संस्थाएँ क़ायम हैं, पर अधिकाँश संसार अज्ञान-अंधकार में डूबा है। बहुत से देशों में ज्यादहतर जनता मामूली लिखने पढ़ने से भी वंचित है। १९४७ में स्वतन्त्र हुए भारत में पिचासी फ़ासदी आदमी अनपढ़ हैं, इसका अर्थ यह है कि अकेले इसी देश में सत्ताइस करोड़ से ऊपर पुरुष स्त्री अनपढ़ हैं। फिर, शिक्षा के तरीके की बात लीजिए। हर राज्य शिक्षा-विशारदों और बड़े-बड़े विशेषज्ञों द्वारा शिक्षा की नई-नई योजनाएँ और नए-नए पाठ्यक्रम बनवाता है। भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीति के अलावा कई तरह के विज्ञानों की शिक्षा दी जाती है। परन्तु विश्व-नागरिकता अर्थात् मनुष्य मात्र के प्रति कर्तव्य-पालन की शिक्षा का सब जगह अभाव है। नागरिकता के नाम पर जो शिक्षा दी जाती है वह भी राष्ट्र-नागरिकता की भावना का ही पोषण करने वाली होती है, जिससे बालकों को दूसरे राष्ट्रों के बालकों के प्रतिद्वन्दिता और

प्रतियोगिता अनुभव करने की उत्तेजना मिलती है। हम अपने स्कूलों और कालिजों से यह पाठ पढ़कर निकलते हैं कि जीवन एक संघर्ष है, दूसरों को धक्का देकर उन्हें गिरा कर हमें अपना रास्ता बनाना है। संसार में दूसरे सब राष्ट्रों से हमें टक्कर लेने के लिए तैयार रहना चाहिए, इसीलिए हमें अपने राज्य या राष्ट्र के प्रति श्रद्धा और भक्ति रखनी ज़रूरी है। यह शिक्षा हमें एक सीमा के अन्दर राजभक्त या राष्ट्र-भक्त बनाती है, इसकी जड़ स्वार्थपरता है। यह हमें मानवता-प्रेमी नहीं बनने देती। यही कारण है कि हमारे बड़े-से-बड़े राजनीतिज्ञ और विद्वान भी जाति, सम्प्रदाय या राष्ट्र की तङ्ग भावनाओं से ऊपर नहीं उठ पाते; हम विश्व-नागरिक नहीं बन पाते। विश्व-राज्य के योग्य नागरिक बनने के लिए यह ज़रूरी है कि हमें स्कूलों और कालिजों में विश्वबंधुत्व की शिक्षा दी जाय। ऐसी शिक्षा एक पीढ़ी के अन्दर मानव जाति का कायाकल्प कर देगी।

याद रहे, जो नियम और नीति विश्व-राज्य को कायम करेंगी और उसे बनाए रखेंगी, वे सार्वभौम, वैज्ञानिक और आशावादी होंगी। विश्व-राज्य अपने बालकों को साम्प्रदायिकता की, या निराशावाद की, शिक्षा न देगा। वह अन्धविशास, अकर्मण्यता, पराजयवाद या संसार-त्याग से समझौता न करेगा। वह नागरिकों को वैज्ञानिक पद्धति से अच्छी-से-अच्छी शिक्षा देगा; और फिर उन्हें विचार करने और काम करने के लिए पूरी आज़ादी देगा। उचित शिक्षा पाए हुए नागरिक अंधविश्वासों से बचे रहकर अपने-अपने कर्तव्य का यथेष्ट पालन करेंगे।

शिक्षा का एक आवश्यक अंग यात्रा का सफ़र है। यात्रा से मनुष्य का ज्ञान बहुत बढ़ता है, वह दूसरों के सम्पर्क में आता है, उनको समझने की कोशिश करता है, उसका विचार-क्षेत्र बढ़ता है, और उसकी सामाजिक भावना का उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। बहुत पुराने ज़माने से आदमी यात्रा के साधनों में तरक्की करता रहा है। पहले वह

पैदल ही चलता था। फिर उसने जानवरों की पीठ पर चढ़कर यात्रा करनी शुरू की; फिर गाड़ी, रथ, इक्का, बग्गी बनाई; साइकिल के रूप में उसने ऐसी सवारी ईजाद की, जिसमें जानवर की ज़रूरत नहीं होती, और थोड़ी मेहनत से यात्रा हो जाती है। भाप, बिजली, पेट्रोल आदि का उपयोग मालूम हो जाने पर मोटर, रेल और जहाज चलने लगे। अब हवाई जहाजों का युग आ रहा है। हवाई जहाजों की बनावट में सुधार हो जाने, और छोटे-छोटे हवाई जहाज तैयार होने पर उनका दाम घट जायगा और इनका प्रचार बढ़ जायगा। तब हवाई यात्रा करना बहुत ही आसान हो जायगा।

इस समय संकीर्ण राष्ट्रवाद ने यात्रा के शिक्षा सम्बन्धी महत्व को दबा रखा है। आदमी दूर की यात्रा करके भी व्यापक दृष्टिकोण वाला नहीं बन सकता। उसका दिल और दिमाग़ बहुत कुछ घर में बैठे हुए व्यक्ति की तरह होता है। ऐसे तङ्ग ख्याल राष्ट्रवादियों को नज़र में रखकर ही शेखसादी ने कहा है—"ईसा मसीह का गधा मक्के की भी यात्रा कर आवे तो लौटने पर वह गधा ही रहता है।" किन्तु जब हम विश्व-भाषा बोल सकते होंगे, विश्व-इतिहास और विश्व-साहित्य में हमारी रुचि होगी, तो विश्व-यात्रा में हमें कुछ और ही आनन्द आएगा। सब विषयों पर हम विशाल दृष्टि से विचार करेंगे हम में विश्वबंधुत्व की भावना बढ़ेगी, और हम विश्व-राज्य के योग्य नागरिक बन सकेंगे।

भाषा और साहित्य—शिक्षा के साथ भाषा का गहरा सम्बन्ध है। शिक्षा का माध्यम वही भाषा होनी चाहिए जो नागरिकों की मातृभाषा हो; हाँ, मातृभाषा का अर्थ व्यापक दृष्टिकोण से लिया जाना चाहिए। बहुत छोटे-छोटे जन-समूहों की बोलियों और उप-भाषाओं को शिक्षा का माध्यम नहीं बनाना चाहिए। शिक्षा के काम में हमारी निगाह भावी निर्माण की ओर हो, और ऊँचे साहित्य वालों

खास-खास भाषाओं को ही प्रोत्साहन दिया जाय। इस विषय पर पहले लिखा जा चुका है।

अब दूसरे देशों से हमारा सम्बन्ध तेज़ी के साथ बढ़ता जा रहा है। हमें चाहिए कि दूसरे देशों की भाषाएँ सीखें, और उनका अपने यहाँ अधिक से अधिक प्रचार करें। भाषा सीखने में यात्रा से बहुत मदद मिलती है। किसी जगह चले जाने पर हम वहाँ की भाषा बहुत जल्दी और बिना जोर लगाए सीख लेते हैं। बालकों को नई भाषा और भी आसानी से आ जाती है। यह बात आगे की घटना से स्पष्ट हो जायगी जो दूसरे महायुद्ध के समय की है, जब कि इंगलैंड में बहुत से राष्ट्रों की सरकारें और वहाँ के आदमी जमा थे।

"लन्दन के एक शिशु-पालन गृह में १४ अलग-अलग राष्ट्रों के बालक आनन्द से समय बिता रहे हैं। पढ़ने और खेल-कूद के अलावा वे सहज ही दूसरे देशों की भाषाएँ और रीति-रिवाज सीख रहे हैं। एक पाँच वर्ष के डच बालक ने अपनी भाषा के अलावा फ्रांसीसी, अंगरेजी, और नारवेजियन भाषाओं का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लिया है। एक छः वर्ष की पोलिश बालिका पोलिश और जर्मन तो पहले ही बोलती थी, अब उसने अंगरेजी और फ्रांसीसी भाषा का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

"दूसरे देशों की अपेक्षा अंगरेज बालक विदेशी भाषा देर में सीखते हैं, किन्तु उनमें से भी बहुत से अपने माता पिता से कोई बात दूसरी भाषा में करके उन्हें आश्चर्य में डाल देते हैं। एक बार एक छः वर्ष के बालक की मा ने अपनी कुछ फ्रांसीसी सखियों को जल-पान के लिए बुलाया। बालक ने विशुद्ध फ्रेंच भाषा में बात करके सब को आश्चर्य में डाल दिया—विशेष कर अपनी माता को जो ६ वर्ष तक स्कूल में फ्रेंच पढ़ चुकने के बाद भी टूटी फूटी फ्रेंच ही बोल सकती थी।

"एक अंगरेज माता ने अपनी यह परेशानी बतायी है कि उस के

जुड़वा बच्चे जब उससे या अपने पिता से कोई बात छिपाना चाहते हैं तो फ्रेंच भाषा में बातें करने लगते हैं।"*

इस से जाहिर है कि एक साथ कई भाषाएँ सीखने का सवाल ऐसा विकट नहीं है, जैसा आम तौर से समझा जाता है। दूसरी भाषाओं का कामचलाऊ ज्ञान तो खासकर बचपन में सहज ही हो सकता है।

विश्व-राज्य में यह तो मान ही लिया जाता है कि संसार धीरे-धीरे छोटा होता जा रहा है। जिस तरह इस समय हमें राष्ट्र का काम चलाने के लिए और राष्ट्रीय भावनाओं का प्रचार करने के लिए एक एक राष्ट्र-भाषा की जरूरत होती है, उसी तरह विश्व-राज्य का आधार एक विश्व-भाषा होगी। अब तक राष्ट्र भाषाओं ने पुरुषों और स्त्रियों के मन और आत्मा को एक संकुचित क्षेत्र में बन्द कर रखा है; विश्व-भाषा का प्रचार होने पर, उस एक भाषा के सीख लेने से, एक देश के नागरिक दूसरे किसी भी देश के नागरिकों से मित्र और साथी के समान बात-चीत और व्यवहार कर सकेंगे। जब तक विश्व-सभाओं में भाग लेने वाले नेताओं और कार्यकर्ताओं में समान भाषा का व्यवहार न होगा तब तक वास्तविक भाईचारा और राजनैतिक एकता की भावना न हो सकेगी।

कौन सी भाषा विश्व-भाषा हो, इस पर बहस करने की जरूरत नहीं है। संसार की भाषाओं में जो भाषा अन्तर्राष्ट्रीय विचार-विनिमय के लिए सुविधा की हो, जिसे सब देशों के आदमी आसानी से बोल सकें, जिसके उच्चारण में जबान को बहुत कष्ट न उठाना पड़े, जिसे आसानी से सीखा जा सके, उसी से काम चलाया जायगा। खास बात यह है कि हम विश्व-भाषा की बात को अव्यावहारिक या अमल में न आसकने वाली न समझें। यदि यूरप भर का अन्तर्राष्ट्रीय काम फ्रांसीसी भाषा में हो सकता है, यदि अंगरेजी समझने वाले थोड़े

* 'भारत', १७ मार्च १९४४

बहुत आदमी संसार के सभी देशों में मिल सकते हैं, और यदि हम बत्तीस करोड़ हिन्दुस्तानियों के लिए एक राष्ट्र-भाषा तथा राजभाषा हो सकती है तो मानव जाति के लिए यह आशा करना बहुत ज्यादह नहीं है कि सवा दो सौ करोड़ आदमियों के वास्ते कोई एक विश्व-भाषा हो सकती है। जिस तरह राष्ट्र-भाषा के साथ दूसरी प्रान्तीय भाषाएँ भली भांति बनी रह सकती है, और फलती-फूलती रह सकती है, उसी तरह एक विश्व-भाषा के होने से अलग अलग देशों की अपनी भाषाओं को कोई डर नहीं है।

अंगरेजी भाषा के इतने ज्यादह प्रचार का एक कारण यह भी है कि यह उन राज्यों को भाषा है। जिन्हें संसार में राजनैतिक और आर्थिक प्रभुता हासिल है। उसकी तुलना में हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा का, एक पराधीन और पिछड़े हुए देश की भाषा होते हुए भी इतना प्रचार हो जाना वास्तव में बड़ी बात है। यह भाषा केवल हिन्दू और मुसलमानों के भावों के जाहिर करने का ही साधन नहीं है, इसमें बौद्ध, पारसी, सिक्ख, ईसाई और यहूदी भी अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक भावनाओं को जाहिर कर सकते हैं। यह सच है कि अभी इस जबान में सायन्स और उद्योग धंधों जैसे विषयों के साहित्य की कमी है। लेकिन अब हिन्दुस्तान आजाद हो जाने से इस पन्द्रह वर्ष में ही यह कमी अच्छी तरह पूरी हो सकती है।

विश्व-भाषा के साथ विश्व-साहित्य पर भी विचार करने की ज़रूरत है। विश्व-साहित्य वही है, जो विश्व भर में शान्ति कायम करने और उसे बनाये रखने में मदद दे; जिससे राष्ट्रों-राष्ट्रों के बीच सहयोग बढ़े; ज़िसके पढ़ने और विचारने से विश्वबंधुत्व की भावना का विकास हो; आदमी जाति-भेद, रंग-भेद, सम्प्रदाय-भेद और राष्ट्र-भेद जैसे भेदों को भूल जायँ; आज-कल के पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का अन्त करने के लिए सब कमर कस लें, और हिन्सा और कूटनीति से सब परहेज करने लगें। ऐसा साहित्य हर राज्य में होना चाहिए और एक राज्य से दूसरे

राज्य में बे रोक टोक आता जाता रहना चाहिए। अभी तो शक्ति और साधनों की लोभी कौमें ऐसे साहित्य को ही प्रोत्साहन देती हैं, जिससे युद्धवादी मनोवृत्तियो को खुलकर खेलने का मौका मिले, और पढ़ने वाले यह समझे कि दूसरे राज्य हमारे शत्रु हैं, उनसे लड़े बिना हमारा गुज़र नहीं; हमें उनको लड़ाई में हराने की ज्यादह से ज्यादह तैयारी करनी चाहिए, महायुद्ध से ही हमारे दुखो का अन्त होगा। इस तरह का सब साहित्य निन्दा और घृणा के योग्य है। इसे बन्द करके सब देशो की भलाई करने वाले साहित्य की रचना और उसका प्रचार बढ़ाया जाना चाहिए। मौजूदा हालत में हम ज्यादहतर अपने ही देश, जाति या धर्म के लेखको की कृतियों से परिचित हैं, इससे हमारी जानकारी बहुत परिमित रहती है। दुर्भाग्य से हममें से बहुतसो ने ज्ञान को भी अलग अलग हिस्सों में बाँट कर बीच बीच में दीवारे खड़ी कर दी हैं। सच यह है कि महापुरुष या महान लेखक किसी देश या जाति के नहीं होते। उनका संदेश संसार भर के लिए होता है। गीता का ज्ञान-भंडार केवल भारतवर्ष के लिये ही नहीं है। बाइबल के उपदेश, उसमें 'पहाड़ी पर की शिक्षा' केवल ईसाइयों के लिए ही नहीं है। कुरान और त्रिपिटक से सब आदमी बहुमूल्य शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

म० गाँधी, रवींद्रनाथ ठाकुर, टाल्स्टाय, राधाकृष्णन, इमर्सन, रसकिन, शेक्सपीयर, कालीदास, शेखसादी, कबीर, मौलाना रूम, गुरुनानक, गोर्की, रोमांरोलाँ, एच० जी० वेल्स, नार्मन एंजल, बर्नार्ड शा, लुई फिशर, श्रीमति पर्लबक, जैसे लेखक सभी देशो के विचारशील पाठकों के दिल पर असर करते हैं। जब हमें उनकी रचनाएँ पढने को मिलती हैं तो हम यह भूल जाते है कि वे किसी और देश या जाति के हैं, और हम किसी दूसरे के। सभी देशों के साहित्य में कुछ-न-कुछ सामग्री ऐसी मौजूद है, जो सार्वभौम उपयोगिता की, सारे संसार के भले की, कही जा सकती है। इस सब सामग्री का सब मुख्य-मुख्य भाषाओं में सुन्दर संकलन किया जाना चाहिए।

इस तरह विश्व-साहित्य दिन-दिन बढ़ता रहना चाहिए जिसके पढ़ने और मनन करने से पाठकों को व्यापक दृष्टि से सोचने विचारने की आदत हो, और विश्व-नागरिक बनने में मदद मिले।

विश्व इतिहास—शिक्षा के अलग अलग विषयों में इतिहास की बात खास तौर से विचार करने की है। आज कल एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र की तरफ़ जो मनोमालिन्य पाया जाता है, उसकी एक बड़ी वजह इतिहास लिखने और पढ़ाने की दूषित पद्धति है।* हम संसार के अलग-अलग हिस्सों या कौमों का इतिहास इस तरह पढ़ते हैं कि उससे हमें मानव एकता का बोध नहीं होता। हमारे मन पर यह बात जम जाती है कि हमारा ही देश, हमारी जाति या हमारा धर्म सब से अच्छा है, दूसरे देश, जाति और धर्म घटिया है। हम अहंकारी बन जाते हैं, और दूसरों से घृणा करने लग जाते हैं; यही बात आगे जा कर हमें दूसरे राष्ट्रों का विरोधी बनाती है। बालकों के मन पर जमे हुए संस्कार जल्दी नहीं हटते। और, जब उनको यही शिक्षा मिली है कि अपने देश की सेवा करो, अपने राष्ट्र की उन्नति करो चाहे दूसरों की कितनी ही हानि हो, तो वे दूसरे देश वालों के प्रति सहानुभूति और सद्भावना कैसे रख सकते हैं! 'राष्ट्रीय' इतिहास मानव समाज को सामूहिक रूप से नहीं देखता, वह उसका अलग अलग ऐसे टुकड़ों के रूप में विचार करता है, जिनका एक दूसरे से मेल न हो सके। इससे राष्ट्रों में एक दूसरे से कलह और संघर्ष बढ़ता है। ज़रूरत है कि इतिहास में राष्ट्रों, सम्प्रदायों या वर्गों की भेद भावना पर जोर न दिया जाय, और इनके आपसी आदान प्रदान और इनकी एकता की ओर अधिक ध्यान दिलाया जाय। वास्तव में इतिहास प्राणि-शास्त्र पर आश्रित मानवता का इतिहास होना चाहिए। ऐसा 'विश्व-इतिहास' ही मानव समाज का कल्याण करने वाला होगा।

---

* किसी देश की अलग-अलग जातियों या सम्प्रदायों में जो झगड़े होते हैं, उनका भी मूल कारण आम तौर पर यही होता है।

एच० ज़ी० वेल्स ने ठीक कहा है—"यूनानी इतिहास, रोमन इतिहास, यहूदी इतिहास, ईसाइयत का इतिहास अंगरेजी इतिहास, फ्रेंच इतिहास, मध्ययुगीन इतिहास, जर्मन इतिहास, हमारे द्वीप की कहानी, हमारे साम्राज्य की कथा—और इसी तरह और भी न जाने कितने अलग अलग इतिहासों का संसार में अस्तित्व है—इन सब का अन्त कर देना चाहिए। इसकी जगह मनुष्य के इतिहास को हमें मानव प्राणिशास्त्र के पहलू से सिखाना चाहिए। हमें संसार के दूर दूर के कोनों में फैले हुए छोटे छोटे उपमानव के पारिवारिक समूहों से, जो एक दूसरे से अनभिज्ञ थे, शुरू करना चाहिए। भाषा, भाव प्रकाशन, रेखांकन के विकास को खोजना चाहिए। हम देखते हैं कि किस तरह विचारों के आदान प्रदान ने, और एक दूसरे को समझने की शक्ति ने इन छोटे समूहों को बड़े समूहों का रूप दे दिया। प्राणी-शास्त्र की दृष्टि से हम खानबदोशी, गुफाएँ, आश्रम-स्थल, आदि काल के निवास-स्थान और औजारों के आविष्कार—इन सब की शिक्षा देते हैं, पर एक बार भी हम अपनी मानव जाति की बात नहीं कहते। लेन देन का इतिहास, विचार विनिमय का इतिहास, औजारों के आविष्कार का इतिहास और इस सब के साथ मानव मनोवृत्ति के फैलाव का विवेक पूर्ण अध्ययन बहुत आसान है, और किसी भी प्राचीन इतिहास से अधिक सत्य है। यह अध्ययन स्वास्थ्य और जीवन देने वाला भोजन है, परन्तु जाति, और राष्ट्र की कहानी विष से सना त्याज्य आहार है।"

जिस तरह संकीर्ण राष्ट्रीय इतिहास से राष्ट्रवाद की मनोवृत्ति पैदा होती है, उसी तरह विश्व-इतिहास के पढ़ने पढ़ाने से अन्तर्राष्ट्रीय भावना का निर्माण होगा। जैसे विश्व-नागरिकों को हमें शिक्षा देनी है, उनके मानसिक भोजन के लिए विश्व-सभ्यता का इतिहास जरूरी है। विश्व-इतिहास सब जातियों और राष्ट्रों में एकता की भावना पैदा करेगा। जिन महान पुरुषों और महान स्त्रियों ने हमें सभ्यता की बहुमूल्य विरासत

दी है, उनकी याद और जयन्तियों से बालकों और बड़ों में विश्व-बंधुत्व की भावना जागेगी।

राष्ट्र-राज्य अपने-अपने लुटेरे और अत्याचारी विजेताओं या राष्ट्र-निर्माताओं के कारनामों की याद मनाते हैं, परन्तु विश्व-राज्य के नायक और नायिका सब देशों के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक, कलाकार, संत महात्मा और महापुरुष होंगे। वह राम और कृष्ण, मोहम्मद और ईसा, कबीर वाशिंगटन, लिंकन, गौतमबुद्ध, अशोक और अकबर, गांधी, लेनिन, कार्लमार्क्स और अनेक दूसरे महापुरुषों के जन्म-दिन मनायेगा; वह उन उत्सवों को मनाएगा जो मानव समाज की उन्नति के सूचक हैं, और इसी दृष्टि से नए-नए उत्सवों की योजना करेगा। जगह-जगह के अलग-अलग उत्सवों में भी यही विचार-धारा काम करेगी, आज कल के कितने ही उत्सव तब मनाने जाने योग्य न रहेंगे और कितने ही उत्सवों का क्षेत्र अधिक व्यापक हो जायगा।

मानव संस्कृति—बहुत से आदमी अपनी संस्कृति का मिथ्या अभिमान और बेहद तारीफ करते हैं; और दूसरे देशों की संस्कृति की तरह-तरह के दोष निकाला करते हैं। दूसरों की बात छोड़ कर हम अपनी ही बात कहते हैं। हम लोग भारतीय संस्कृति को सबसे श्रेष्ठ समझ कर संसार भर में इसे ही फैलाने तथा संसार को इसके ही अनुसार बनाने की चाह रखा करते हैं। अवश्य ही भारतीय संस्कृति बहुत पुरानी है, और इसने समय के अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। परन्तु यदि हम तटस्थ होकर सोचें तो भारतीय इतिहास में, अन्य देशों के इतिहास की तरह ऊँचे दर्जे की अच्छाई के साथ-साथ बुराई भी रही है। यहाँ अहिन्सा, दया और परोपकार रहा है तो हिन्सा, अत्याचार और स्वार्थ भी रहा है, तप और कष्ट सहन रहा है तो वैभव और विलासिता भी। हमारे ज़माने में इस देश ने संसार को गांधी जैसा नर-रत्न दिया तो गोडसे भी तो एक भारतीय ही था, जिसने अपने

एच० ज़ी० वेल्स ने ठीक कहा है—"यूनानी इतिहास, रोमन इतिहास, यहूदी इतिहास, ईसाइयत का इतिहास अंगरेज़ी इतिहास, फ्रेंच इतिहास, मध्ययुगीन इतिहास, जर्मन इतिहास, हमारे द्वीप की कहानी, हमारे साम्राज्य की कथा—और इसी तरह और भी न जाने कितने अलग अलग इतिहासों का संसार में अस्तित्व है—इन सब का अन्त कर देना चाहिए। इसकी जगह मनुष्य के इतिहास को हमें मानव प्राणिशास्त्र के पहलू से सिखाना चाहिए। हमें संसार के दूर दूर के कोनों में फैले हुए छोटे छोटे उपमानव के पारिवारिक समूहों से, जो एक दूसरे से अनभिज्ञ थे, शुरू करना चाहिए। भाषा, भाव प्रकाशन, रेखांकन के विकास को खोजना चाहिए। हम देखते हैं कि किस तरह विचारों के आदान प्रदान ने, और एक दूसरे को समझने की शक्ति ने इन छोटे समूहों को बड़े समूहों का रूप दे दिया। प्राणी-शास्त्र की दृष्टि से हम खानबदोशी, गुफाएँ, आश्रम-स्थल, आदि काल के निवास-स्थान और औजारों के आविष्कार—इन सब की शिक्षा देते हैं, पर एक बार भी हम अपनी मानव जाति की बात नहीं कहते। लेन देन का इतिहास, विचार विनिमय का इतिहास, औजारों के आविष्कार का इतिहास और इस सब के साथ मानव मनोवृत्ति के फैलाव का विवेक पूर्ण अध्ययन बहुत आसान है, और किसी भी प्राचीन इतिहास से अधिक सत्य है। यह अध्ययन स्वास्थ्य और जीवन देने वाला भोजन है, परन्तु जाति, और राष्ट्र की कहानी विष से सना त्याज्य आहार है।"

जिस तरह संकीर्ण राष्ट्रीय इतिहास से राष्ट्रवाद की मनोवृत्ति पैदा होती है, उसी तरह विश्व-इतिहास के पढ़ने पढ़ाने से अन्तर्राष्ट्रीय भावना का निर्माण होगा। जैसे विश्व-नागरिकों को हमें शिक्षा देनी है, उनके मानसिक भोजन के लिए विश्व-सभ्यता का इतिहास जरूरी है। विश्व-इतिहास सब जातियों और राष्ट्रों में एकता की भावना पैदा करेगा। जिन महान पुरुषों और महान स्त्रियों ने हमें सभ्यता की बहुमूल्य विरासत

पूरी तरह एक सी हों, फिर भी रीति रस्म या आचार व्यवहार की बहुत ज्यादह भिन्नता मित्रता में बाधक होती हैं। विश्व-पार्लिमेंट के सदस्यों को गोष्टी या मित्र-मंडली की तरह जीवन व्यतीत करने की आदत होनी चाहिए। आजकल दूर-दूर के रहने वालों के आपसी सम्बन्ध बढ़ते जा रहे हैं। इसका नतीजा यह है कि हमारी भाषा, हमारे साहित्य हमारे रहन सहन, खान पान, आचार व्यवहार, अर्थनीति, शासननीति सभी बातों पर दूसरे देशों का प्रभाव पड़ता है। आज दिन एक देश का नागरिक दूसरे देश के नागरिक से पहले की निस्बत कहीं ज्यादह निकट है।

यह ठीक है कि कुछ स्थानों में आने जाने के साधनों की काफी उन्नति न होने और आमदरफ्त कम होने से लोगों का जीवन एक दूसरे से बहुत भिन्न है; वे न एक दूसरे की भाषा समझ सकते हैं, और न पोशाक आदि में ही एक दूसरे से मिलते हैं। परन्तु हम भेद भावों की ओर से अपनी नजर हटा कर एकता की खोज करें तो उसकी मिसालों की भी कमी न रहेगी। जैसे, कितने ही भारतवासी अंगरेज़ी भाषा बोलते हैं, अंगरेज़ी साहित्य पढ़ते हैं, अंगरेज़ी खेल खेलते हैं, अंगरेज़ी पोशाक पहनते हैं, अंगरेज़ी ढंग का खाना खाते हैं, और अंगरेज़ी ढंग के मकानों में रहते हैं। यह कुछ अंश में अस्वाभाविक है। इसका कारण यह भी है कि भारतवर्ष में बहुत समय तक अंगरेज़ों का राज्य रहा है, और कुछ लोग सब जगह शासकों का अनुकरण करने वाले हुआ करते हैं। अंगरेज़ी राज्य नहीं रहा, पर अंगरेज़ी जीवन का प्रभाव यहाँ से पूरी तरह लोप नहीं हो गया। जिस तरह की प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ रही हैं, उन्हें देखते हुए यही अन्दाज होता है कि भविष्य में अंगरेज़ों से, और इसी तरह दूसरे यूरप-अमरीका वालों से हमारी भिन्नता कम होती जायगी। बात यह है कि अब दूसरे देश यहां की बातों पर ज्यादह निस्पक्ष होकर विचार कर सकेंगे, उनकी ज्यादह कद्र करेंगे, और उन्हें अपनाने में इस तरह संकोच न करेंगे, और जैसा कि भारत की पराधीनता की हालत में करते रहे हैं। यही बात दूसरे देशों

के बारे में कही जा सकती है।

आज-कल संसार के कई देशों के लोगों की अच्छी बातों का ठीक-ठीक आदर और अनुकरण नहीं किया जा रहा है, क्योंकि वे पराधीन हैं और शासक देशों में मिथ्याभिमान भरा हुआ है। यह अवस्था बहुत समय तक रहने वाली नहीं है, सब देशों को स्वतन्त्र होना है। जब सब देश स्वाधीन हो जायँगे, तो हम अवश्य ही एक दूसरे के ज्यादह नज़दीक होंगे। हमारे आपसी सम्बन्ध बढ़ेंगे और वे तरह-तरह के होंगे।

कुछ अंश में तो हमारे आपसी सम्बन्ध इस समय भी बढ़ते जा रहे हैं। लेकिन विश्व-राज्य के ख्याल से इस दिशा में काफी प्रगति नहीं हो रही है। हम साधारण नागरिकों की हालत पर विचार करें तो अभी बहुत कमी है। यूरप और एशिया के, या अमरीका और अफ्रीका के, गोरे और काले आदमियों में से जन साधारण की एक गोष्टी बनाना बहुत कठिन है। हिन्दुओं की छुआछूत, अधिकांश एशिया की स्त्रियों का एकान्तता और परदा, और यूरप वालों की मद्य मांस की जरूरत से ज्यादह रुचि सामाजिक समरसता में कम या ज्यादह बाधाएँ है। इन्हें धीरे-धीरे दूर करने या कम करने की कोशिश होनी चाहिए। पोशाक की एकता का लक्ष्य रखने की जरूरत नहीं है, और कुछ परिवर्तन खुद ही हो रहा है। विश्व-राज्य सब आदमियों पर एक ही ढंग का पहनावा नहीं लादेगा, विभिन्नता भी सौन्दर्य है।

मनोरंजन की बात यह है कि कुछ खेल—फुटबाल क्रिकेट, शतरंज और ताश जैसे—व्यापक हो गये हैं। इनके अन्तर्राष्ट्रीय टूरनामेंट या दंगल होते हैं। संगीत पद्धति में अभी बहुत भेद है। यूरप वालों को पूरब का संगीत कम पसन्द आता है, और पूर्वी देशों के आदमी पच्छिम के संगीत की सराहना नहीं करते। संगीत शिक्षा को भी व्यापक पद्धति या पद्धतियों का प्रचार होना चाहिए, जिससे विश्व नागरिक सब देशों के अच्छे संगीत का आनन्द ले सकें। ऐसी बातों से सामाजिक एकता बढ़ेगी, और इसी तरह विश्व-संघ की बुनियादें मज़बूत होंगी।

पच्चीसवाँ अध्याय

विश्व–धर्म

—:०:—

नया धर्म दुनिया के सब महात्माओं का धर्म होगा। उसमें सदाचार और बलिदान को पहला स्थान दिया जायगा। वह सब देशों के प्रेमियों और वीरों की पूजा सिखाएगा। —*अज्ञात*

'साम्प्रदायिकता' शीर्षक अध्याय में बताया जा चुका है कि अधिकाँश प्रचलित धर्मों ने परस्पर विरोधी सम्प्रदायों का रूप धारण कर रखा है। ये धर्म एक दूसरे के प्रति उग्र हो गये हैं। विश्व-राज्य में यह बात नहीं चल सकती कि उसके नागरिक आपस में घृणा का व्यवहार करें, और एक दूसरे को मलेच्छ, नास्तिक, काफिर आदि कहें। उस राज्य में तो मानव एकता का आदर्श होगा।

मौजूदा हालत को सुधारने के लिए दो तरह के उपाय काम में लाए गए हैं और लाए जा रहे हैं—(१) सब धर्मों का अन्त कर देना, लोगों के दिल से धर्म सम्बन्धी भावना को ही मिटा देना। और (२) धर्मों का समन्वय करना, उनके समान गुणों और बुनियादी उसूलों की ओर लोगों का ध्यान दिलाना, इन बुनियादी उसूलों को मुख्य और ऊपरी कर्मकांड को गौण मानना; इस तरह धार्मिक मतभेदों को दूर करना और विविध धर्मों के मानने वालों में केवल सहिष्णुता ही नहीं, समभाव बढ़ाना।

क्या धर्म का अन्त किया जा सकता है? प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर भगवानदास जी ने लिखा है कि यह ऐसा ही है, जैसा रोग का इलाज

करने के लिए शरीर को ही खत्म कर देना। जब तक मनुष्य को कष्ट और मृत्यु का सामना करना है और वह आगे पीछे दोनों ओर देखता है, तब तक मानव हृदय और मस्तिष्क को उस धैर्य और सान्त्वना की आवश्यकता रहेगी, जो केवल धर्म ही दे सकता है। यदि बुद्धिमान लोग आप लोगों को सच्चा और वैज्ञानिक धर्म न देंगे तो वे नासमझ और स्वार्थी पंडे पुरोहितो के हाथों में रूढ़ियों और अन्धविश्वासो में ही फँसे रहेंगे। धर्म की आवश्यकता से रहित केवल वे ही हो सकते हैं, जो सोच विचार नहीं कर सकते। उन महात्माओं को भी किसी अलग धर्म की चाह नहीं रहती, जिन्होंने गहरा चिन्तन किया है, और अपनी असीम आत्मा में ही जीवन के रहस्य का पता लगा लिया है उन्हें धर्म का तत्व मिल चुका है। मानव विकास की आज कल की अवस्था में ऐसे पहुँचे हुए लोग कम हैं; ज्यादहतर उन समुदाय को धर्म के किसी बाहरी रूप की भी आवश्यकता रहती है। यही कारण है कि संसार में धर्म जीवित है। वह एक रूप में मिटता है, तो दूसरे रूप में उसका प्रादुर्भाव हो जाता है। रूस के प्रयोग की ओर ही देखें! वहाँ क्या हुआ? जहाँ तक समाचार मिले हैं, अधिकारियो ने देश भर से धर्म को हटा देने की कोशिश की थी, पर अन्त में जनता का प्रबल विरोध देखकर उन्हें उस मामले को छोड़ देना पड़ा। जो हो, रूस में लोगों का अपना धर्म है, गिरजे भी हैं और मसजिदें भी। केवल कहीं-कहीं हजरत ईसा और मरियम की जगह लेनिन और स्टेलिन आराध्य देव हैं।

इसलिए धर्मों का अन्त करने की बात छोड़ कर हम धर्म-समन्वय की ओर ध्यान दें। इस उद्देश्य को सामने रख कर समय-समय पर अनेक कान्फ्रेन्स, सभा, सम्मेलन आदि हुए हैं। सन् १८७५ में न्यूयार्क (अमरीका) में थियोसोफिकल सोसायटी कायम हुई। उसके तीन उद्देश्य थे—(क) जाति, सम्प्रदाय, रंग आदि के भेद का विचार न कर विश्वबंधुत्व के भाव को फैलाना, (२) धर्मों, दर्शनों और विज्ञान

के तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहन देना, और मनुष्य की छिपी हुई शक्तियों का पता लगाना। थियोसोफिकल सोसाइटी का प्रधान कार्यालय इस समय अडयार (मदरास) में है, और पचास से ऊपर देशों में सोसाइटी की शाखाएँ हैं।

सन् १८९३ से अब तक कई देशों के खास-खास नगरों में विविध धर्मों की पार्लिमेंट हो चुकी हैं। सब से पहली पार्लिमेंट उस वर्ष शिकागो (अमरीका) में हुई थी। सन् १९३३ से सब धर्मों का एक विश्व-संघ ('वर्ड फेलोशिप आफ फेथ्स') शिकागो में काम करने लगा है। इसमें सब धर्मों, ज़ातियों, और देशों के आदमियों ने हिस्सा लिया। इस संघ का उद्देश्य युद्ध, अन्याय, द्वेष, बेकारी संकीर्ण राष्ट्रीयता और अज्ञान आदि आधुनिक समस्याओं का आध्यात्मिक हल खोज निकालना है। भारतवर्ष में खासकर हिन्दू और मुसलमानों के मेल को लक्ष्य में रख कर कई एकता-सम्मेलन हुए हैं। गुरुकुल जैसी कुछ संस्थाएँ अपने सालाना जलसों में सर्व-धर्म-सम्मेलन करती हैं, जिनमें विविध धर्मों के प्रतिनिधि अपने-अपने धर्म के सम्बन्ध के निबन्ध पढ़ते हैं, या व्याख्यान देते हैं।

धर्मसमन्वय की दृष्टि से समय-समय पर कुछ पुस्तकें भी लिखी गयी हैं, जिनमें डाक्टर भगवानदास की 'दि असेन्श्यल यूनिटी आफ आल रिलीजन्स' और स्वामी कृष्णानन्द जी की 'ह्यूमेनिज्म' या 'दि ह्यूमन रिलीज़न' खास हैं।

धार्मिक मत भेदों को दूर करने के लिए समय समय पर अनेक प्रयत्न किये गये है, इन सब उपायों से लाभ हुआ है, पर इनमें से किसी को भी पूरी सफलता नहीं मिली। हर धर्म के अनुयायी अपने धर्म को ही सब से बढ़ कर, सब से सच्चा या सबसे अधिक विकसित और हितकर मानते हैं। यहाँ तक कि जो कोई उसमें कुछ खास सुधार चाहता है, या दूसरे धर्मों से उसकी तुलना करता है, वह धर्म-द्रोही या नास्तिक बताया जाता है सुधारकों या मेल मिलाप करने वालों का मार्ग कहीं

भी सरल नहीं है। यह स्वाभाविक ही है कि कट्टर, अज्ञानी और अन्धभक्त लोग इस तरह के काम में रुकावट हों। परन्तु विश्व-हित के चाहने वाले और विश्व-राज्य के अभिलाषी सुधारकों में इतना धीरज़ होना चाहिए कि वे ऐसी बाधाओं से विचलित न हों।

हमें याद रखना चाहिए कि प्रत्येक धर्म सेवा और प्रेम आदि की शिक्षा देता है; और उसने अपने समय में लोगों को बहुत लाभ पहुँचाया है, उन्हें इनसानियत की ओर बढ़ाया है, अच्छा नेक आदमी बनने में मदद दी है। उसने विविध सुधारों के लिए कुछ नियम बनाए। यह आवश्यक नहीं है कि आज़ की बदली हुई परिस्थितियों में नियम ज्यों के त्यों पाये जायँ जो बातें छोड़ने लायक हों, वे छोड़ दी जानी चाहिएँ, और जिनमें कुछ परिवर्तन करना उपयोगी हो, उनमें आवश्यक हेर-फेर कर लिया जाय। ऐसा करने पर ही कोई धर्म कल्याणकारी या जनता की भलाई करने वाला रह सकता है। किसी धर्म को प्रत्येक बात में अंध श्रद्धा रखने, उसके सब नियमों को बिना-सोचे-समझे मानने से वह धर्म बहुत अहितकर या बुराई पैदा करने वाला हो जाता है। यदि प्रत्येक धर्म में देश काल के अनुसार सुधार हो जाए तो सब धर्मों का सहज ही समन्वय या मेल हो सकता है! युग-धर्म की भावना रखने पर हम संकीर्ण 'धर्मगत' सीमाओं को लाँघ सकेंगे, सच्चा-धर्म-भाव पैदाकर सकेंगे, और विश्वबंधुत्व के आदर्श को चरितार्थ सकेंगे।

विश्व-धर्म कैसा होगा! पहले हम यह देखें कि धर्म किसे कहते हैं। जैसा कि पंडित सुन्दरलाल ज़ी ने एक भाषण में कहा है—धर्म, मजहब, पन्थ, मार्ग, 'रिलीजन', आदि सबका करीब करीब एक ही अर्थ है। 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसके माने आराम करना वा संभालना हैं। जिस चीज से दुनिया संभली रहे उसी का नाम धर्म हैं। मजहब, पन्थ, मार्ग तीनों को अर्थ या मतलब रास्ता है। इस दुनिया में आदमी को ज़िस रास्ते पर चलना चाहिए, जो उसकी भलाई और

तरक्की का रास्ता है, उसी का नाम मजहब है। 'रिलीजन' जिस धातु से बना है, उसके माने 'बांधना' है, जो चीजें मनुष्य जाति को बांधे रखती है, उन्हें टुकड़े-टुकड़े होने से बचाती है, वह उसका रिलीजन है। हिन्दू शास्त्र बतलाते हैं कि धर्म वह है जिससे मनुष्य का इस जीवन में और इसके बाद दोनों जगह कल्याण हो।* धर्म के अन्दर अनेक गुणों का समावेश माना जाता है। अलग अलग आचार्यों ने इन्हें अपने अपने ढङ्ग से बताया है। इस सब गुणों का आपस में सम्बन्ध है, और किसी-किसी का दूसरे में समावेश भी हो सकता है। मनु के अनुसार धर्म के दस लक्षण ये हैं—धीरज, क्षमा, संयम, चोरी न करना, (मन और शरीर की) सफाई, इन्द्रियों को बश में रखना, बुद्धि, ज्ञान, सत्य और क्रोध न करना।† संक्षेप में मनुस्मृति में अहिन्सा (दूसरों को शारीरिक या मानसिक कष्ट न देना), सत्य, चोरी न करना, सफाई और इन्द्रियों को वश में रखना इन को चारों वर्णों का सामाजिक धर्म बताया गया है।‡ मनु का यह भी कहना है कि 'आचारः परमो धर्मः' यानी सबसे ऊंचा धर्म मनुष्य का सद्व्यवहार (नेकी) है।

दूसरे धर्मों में भी इसी तरह की बातें कही गयी हैं। अगर हम ऋगवेद, जेन्द अवस्ता, त्रिपिटक, इंजील, जैन सूत्र, और कुरान को बराबर रख कर ध्यान से पढ़ें तो हमें सब धर्म-ग्रन्थों में आश्चर्यजनक समानता दिखाई देगी। ऋग्वेद के वाक्य के वाक्य और ऋचाएँ ज्यों की त्यों जेन्द अवस्ता में पाई जाती हैं। केवल यही नहीं; वेद, स्मृति, अवस्ता, बौद्ध और जैन ग्रन्थ, इंजील के नये और पुराने अहदनामे और कुरान इन सब में न केवल भाव और विचार ही बल्कि वाक्य के

---

* यतोऽभ्युदय निश्रेयस्सिद्धि स धर्म।

† धृति, क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधोदशकम् धर्म लक्षणम् ॥—मनु० ६।६२

‡ अहिन्सा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मचातुवर्ण्येऽब्रवीन्मनु ॥—मनु० १०।६३

वाक्य इस तरह मिलते चले जाते हैं कि साफ मालूम होने लगता है कि या तो इन सब धर्म-ग्रन्थों ने एक दूसरे से लिया है। और या कम से कम इन सब का एक ही सोता या सरचश्मा है।

मनु के धर्म के दस लक्षणों और हजारों मील दूर के हजरत मूसा की मशहूर दस आज्ञाओं में गहरी समानता है। मनु ने दस के पाँच करके उन्हें मनुष्य मात्र का सामाजिक धर्म बताया है। बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए दस 'शीलो' की आज्ञा दी है। पातंजलि ने अपने योग सूत्रों में इन्हीं में से पांच को 'यम' और पांच को 'नियम' बना दिया है। बुद्ध ने जिन पांच 'नेक कामों' पर जोर दिया है. वे ये हैं—(१) किसी के प्राण न लेना, (२) झूठी बात न कहना, (३) खोजे या जबरदस्ती से किसी की चीज न लेना, (४) शराब वगैरह कोई चीज़ इस्तेमाल न करना, और (५) व्यभिचार न करना।

जैन सूत्रों में लिखा है—हिन्सा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, दुनिया के किसी माल को अपना बनाकर बैठ जाना—इन पांच पापों से बचना, यही सच्चा व्रत है।

ठीक यही चीजें इसी तरह महात्मा जरथुस्त के उपदेशों, हजरत ईसा के उपदेशों, और कुरान मजीद में मिलती हैं। देखने की बात यह है कि पहली तीन चीजें—किसी की जान न लेना, झूठ न बोलना, और चोरी न करना—इन सब में इसी तरह सब से शुरू में और इसी तरतीब में मिलती हैं।

संसार के बड़े-बड़े धर्मों में हिन्दू धर्म सब से पुराना और इसलाम सब से हाल का है। भारतवर्ष में इन्हीं दोनों धर्मों के मानने वालों की तादाद ज्यादह है। इन सब से नये और सब से पुराने धर्मों में विलक्षण समानता है। कुरान का 'ला इलाह इल्लल्लाह' उपनिषद का 'एकमेवाद्वितीयम' दोनों एक दूसरे का लफ़जी तरजुमा हैं 'अनलहक' का ठीक वही अर्थ है जो 'अहंब्रह्मास्मि' का है। गीता में कहा गया है—

ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'

कारण कोई फ़रक नहीं पड़ेगा। विश्व-राज्य केवल यह चाहेगा कि हर आदमी नैतिक गुण सम्पन्न हो, ईमानदार और सच्चा हो, वह समस्त मानव जगत के साथ प्रेम करे, और सब की सेवा और सहायता करता रहे।

क्या विश्व-राज्य में मंदिर आदि होंगे? यह बात व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर रहेगी। बहुत से लोगों के लिए उनका मन ही मंदिर का काम दे देगा, उन्हें अलग किसी मंदिर की जरूरत न होगी। कुछ लोग ऐसे होने सम्भव हैं; जो अपने निज़ी या सामूहिक उपयोग के लिए किसी पूजालय की जरूरत अनुभव करें। इस विचार से जहाँ तहाँ पूजालय बन सकेंगे, परन्तु कोई पूजालय किसी भी देश में हो, उसका स्वरूप और उद्देश्य आज कल की तरह भेद भाव पैदा करने वाला न होकर प्रेम बढ़ाने वाला होगा। वह किसी सम्प्रदाय विशेष का न होकर मनुष्य मात्र का होगा, और मनुष्य मात्र के लिए होगा। वह विश्व-मंदिर का नमूना होगा। हम पहले कह चुके हैं कि विश्व-राज्य के नागरिक इतने उदार और विचारवान होंगे कि उनमें यह बात नहीं पायी जायगी कि कोई आदमी किसी खास महापुरुष, देवता या अवतार का तो भक्त हो, और दूसरे का निन्दक। वे इतने ज्ञानवान होंगे कि उन्हें यह बहस करने की जरूरत न रहेगी कि उस मन्दिर पर शिखर हो या गुम्बद, उसकी शकल मसजिद की तरह हो, या गिरजा से मिलती हुई। ऐसी तुच्छ बातों को कौन सोचने बैठेगा!

विश्व-मन्दिर में हरजाति और देश के महात्माओं, लोकसेवकों और सन्तों की सुन्दर यादगारें होंगी, जिन्होंने मनुष्य-जाति की खास सेवा की है। और उसके लिए त्याग और कष्ट सहन किया है, ऐसे मन्दिर में जाने पर आदमी के हृदय में ऊँची भावनाएँ जागेंगी और विश्व नागरिकता के अधिक से अधिक गुणों के विकास में मदद मिलेगी। वहाँ धर्म-ग्रन्थों के रूप में सब महानुभावों के जीवन चरित्र और उनकी बड़ी बड़ी रचनाएँ रहेंगी। विश्वबंधुत्व के ऊँचे धरातल से

लिखी हुई अन्य सुकृतियों का भी वहाँ संग्रह रहेगा। ऐसे साहित्य को अवलोकन करने से कौन धन्य न होगा? ऐसे विश्वमन्दिरों के निर्माण के लिए, लोकमत तैयार करना हमारा अभी हाल का कर्तव्य है। इस दिशा में कुछ काम हम अब भी कर सकते हैं। हमारा हर मन्दिर, मसजिद या गिरजा सब धर्म वालों के लिए समान रूप से खुला हो। उसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी धर्म वाले आजादी के साथ जा सकें; वहाँ पूर्वी पच्छिमी, काले गोरे, एशियाई, यूरपीय और अमरीका आदि का कोई भेदभाव न हो। ऐसा होने पर ही कोई मन्दिर वास्तव में परमात्मा का मन्दिर कहा जा सकता है।

धर्म कहता है कि मनुष्य ईश्वर (ब्रह्म) का अंश है और मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मत्व को प्राप्त करना है। हमारे लिए यह विशाल संसार ईश्वर का रूप है, जिसमें अनेक जातियां, अनेक धर्मों और अनेक रंगों के लोग रहते हैं। जब तक हम उन सब को अपनाने याना अपना समझने में समर्थ नहीं होते, जब तक हम किसी भी वर्ग या समूह के लोगों को पराया या गैर मानते हैं, तब तक हम ब्रह्म को प्राप्त करने की ओर नहीं जा सकते। परमात्मा का व्यक्त रूप मानव जाति है, धर्मात्मा बनने का सच्चा मार्ग मानव जाति से प्रेम करना, सब के साथ सहानुभूति रखना, भेद-भाव का विचार मन से दूर करके सबका भला चाहना, और सब की सेवा के लिए तत्पर रहना है।

निस्सन्देह ईश्वर के निकट पहुँचने और उसकी सच्ची भक्ति करने का तरीका यही है कि हम आदमियों की सेवा सुश्रुषा करें। आगे की पंक्तियाँ* कितनी शिक्षा देने वाली हैं मोहम्मद साहब ने एक बार कहा—मरने के बाद अल्लाह पूछेगा—'ऐ मनुष्य के बेटे! मैं बीमार था और तू मुझे देखने नहीं आया।' मनुष्य कहेगा—'ऐ मेरे रब्बा! मैं तुझे देखने कैसे आसकता था। तू तो सारी दुनिया का मालिक है।' अल्लाह जवाब देगा—'क्या तुझे मालूम नहीं था कि

*'विश्ववाणी' सन् १९४१

मेरा अमुक बन्दा बीमार था ? और तू उसे देखने नहीं गया। क्या तुझे मालूम नहीं था कि यदि तू उसे देखने जाता तो निस्स-देह मुझे उसके पास पाता ?'

पूर्ण भक्ति भाव से तन्मय होकर सेवा करनेवाले महान पुरुषों और स्त्रियों से समय समय पर संसार को बहुत लाभ पहुँचा है। एक अच्छी मिसाल मिस मेरी रीड की है। ये एक अमरीकन महिला थीं। इन्होंने सन् १८६१ ई० में चंडग (अलमोरा) के कुष्ठाश्रम यानी कोढ़ियों के अस्पताल का काम संभाला। एक दो नहीं, दस, बीस नहीं, पूरे बावन वर्ष इन्होंने कोढ़ियों की सेवा की। सैकड़ों स्त्री पुरुषों को इन्होंने आशा और सुख प्रदान किया। ८ अप्रैल १९४६ को ८८ वर्ष की उम्र में इनका देहावसान हुआ। इन्होंने अपनी दोनों मातृभूमियों (अमरीका और भारतवर्ष) की शोभा बढ़ायी। जुदा जुदा देशों के बीच में जो खाई बनी हुई हैं, उन पर पुल बाँधने के लिए हर देश के निवासियों में मिस मेरी रीड की भावना भरी होनी चाहिए।

विश्व-राज्य चाहता है। कि ऐसे महान पुरुष और स्त्रियाँ अधिकाधिक तादाद में हों, जो दूसरों की सेवा सच्चे प्रेम और निस्वार्थ भाव से करें—सेवा करने में वे अपने दिलों को देश, जाति, रंग या सम्प्रदाय की दीवारों के अन्दर बन्द न रखें; मानव जाति और विश्व भर को समान दृष्टि से देखें। यही सच्चा धर्म है, और, यही विश्व-धर्म है।

प्राचीन काल में इस धर्म का पालन करना इतना आसान न था यद्यपि हर धर्म ने विश्वबंधुत्व; मनुष्य मात्र के भ्रातृभाव, वसुधैवकुटुम्बकम् आदि का आदर्श हमारे सामने रखा और इस भावना का प्रचार किया, और इससे उसके अनुयाइयों में उदारता भी आयी, पर उस समय आने जाने के साधनों की कमी थी, लोगों का जीवन छोटे छोटे समूहों में बँटा था, एक आदमी अपने गाँव या नगर-राज्य से बाहर के आदमियों से वास्ता न रखता था, और अगर यह मालूम भी हो जाता कि उन्हें हमारी सहायता की जरूरत है तो भी काफी

साधन न होने के कारण सहायता देना कठिन था। अब विज्ञान ने दूर दूर के आदमियों को एक दूसरे के नज़दीक कर दिया है, अमरीका वाले अगर चाहें तो चीन, भारत या अफ्रीका आदि के आदमियों की खूब सेवा कर सकते हैं। इसी तरह भारतवासी विश्व-शांति और भाईचारे का सँदेश देश देश में पहुँचा सकते हैं। विज्ञान ने धर्म-प्रचार की बाधाओं को दूर करके विश्व-धर्म का मार्ग और अधिक प्रशस्त कर दिया है। यह जरूरी है कि आदमी। विज्ञान का दुरुपयोग न करे। विज्ञान की सहायता से अब मनुष्य ज्यादह आसानी से विश्व-धर्म का अनुयायी हो सकता है।

—:०:—

छब्बीसवां अध्याय

विश्व-अर्थनीति

———

जीवन-मान को ऊँचा उठाने का स्वप्न न केवल भारत का स्वप्न है. बल्कि सभी राष्ट्रों की मांग है। समृद्धि अविभाज्य है, और इसी प्रकार विनाश भी। इस विश्व में कोई शक्ति अलग नहीं रह सकती।'

- जवाहरलाल नेहरु

आदमी अपनी हालत और जरूरतों के अनुसार अपनी रीति-नीति आदि में परिवर्तन या संशोधन किया करता है। हमें देखना है कि जब कि हमारी बदलती हुई परिस्थिति हमें विश्व-संघ बनाने को मजबूर कर रही है तो आर्थिक क्षेत्र में हमारी नीति क्या होगी, या क्या होनी चाहिए।

यदि कुल मानव जनता की दृष्टि से विचार करें तो संसार में भोजन वस्त्र और दूसरी जरूरतों को पूरा करने के लिए सामान की कोई कमी नहीं है। इस समय पृथ्वी की कुल आबादी सवा दो सौ करोड़ है, और

खाने पीने आदि का समान इनसे दुगने आदमियों के निर्वाह लिए काफी है। यदि वैज्ञानिक साधनों का ठीक उपयोग किया जाय, और पूँजीवादी अपने और नफे के लिए, और साम्राज्यवादी अपने युद्धों में, बहुत सी सामग्री नष्ट न करें तो पृथ्वी की पैदावार इस समय की आबादी के आदमियों के लिए खूब काफी हो सकती है। यही बात जगह की है। आस्ट्रेलिया का फैलाव तीस लाख वर्ग मील है—हिन्दुस्तान से बहुत अधिक; और वहाँ की आबादी सत्तर लाख से भी कम। इस पर भी आस्ट्रेलिया वाले बाहर वालों को अपने यहाँ नहीं रहने देते। फिर संसार में बहुत से आदमियों को जगह की कमी हो तो क्या आश्चर्य? जब हर राज्य केवल अपने ही भले और ऐश्वर्य की बात सोचे, और बलवान अपनी जरूरतों से अधिक जगह और सामग्री पर अधिकार जमाये तो सब का निर्वाह कैसे हो!

एक मिसाल लीजिए। एक घर में दस आदमी हैं, यदि सब मिल कर रहें तो सब के लिए काफी से ज्यादह जगह है, भोजन वस्त्र आदि सामान का भी कोई कमी नहीं। खूब आराम से सब का निर्वाह हो सकता है। परन्तु जब हर एक आदमी अपने निजी सुख और सुविधा की सोचता है, भोजन अलग बनाना चाहता है, और उसके लिए रसोई-घर भी अलग रखता है, नहाने धोने के लिए अलग कमरा रखता है, और उसमें अलग पानी का नल लेता है, तो ऐसी बातों से कितनी असुविधा होगी, इसका सहज ही अनुमान हो सकता है। घर जायदाद आदि का बँटवारा होने पर गृहस्थों की हालत की कितनी ख़राब हो जाती है, यह समय-समय पर अनुभव होता है।

यही बात राज्य की है। नगर-राज्यों से तरक्की करके हम राष्ट्र-राज्यों पर आये। पर हमारी पुरानी संकीर्णता ने हमारा पिंड न छोड़ा। विज्ञान ने उन्नति की, मनुष्य के मस्तिष्क के विकास का परिचय मिला। परन्तु मनुष्य का हृदय उसके साथ न बढ़ा, वह प्रगति में पीछे रह गया। इसका दुष्परिणाम हमारे सामने है, हर आर्थिक क्षेत्र में कुव्यवस्था है,

मानव जाति भयंकर कष्ट उठा रही है । इसका अन्त करना आवश्यक है ।

अर्थनीति के मुख्य भेद ये हैं—(१) उपभोग या खपत, (२) उत्पत्ति या पैदावार, (३) विनिमय, व्यापार और मुद्रा, (४) वितरण या बँटवारा । पहले खपत के सम्बन्ध में विचार करें ।

खपत—आश्चर्य का विषय है कि अधिकांश अर्थशास्त्री पैदावार पर तो खूब विस्तार से लिखते हैं, पर खपत की चर्चा बहुत कम करते हैं—यद्यपि खपत और पैदावार में, कारण और कार्य का सम्बन्ध है । मनुष्य तरह तरह के पदार्थों का उपभोग करना चाहते हैं, इसलिए उन्हें पैदा किया जाता है । जिन चीजों का आदमी इस्तेमाल नहीं करते, उन्हें पैदा भी नहीं किया जाता । इससे खपत का महत्व साफ जाहिर है । परन्तु जब कि चीजों को पैदा करने के उपाय सोचने के लिए बहुत मेहनत की जाती है । खपत के उद्देश्य और विधि की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता । अध्ययन किये बिना ही लोग अपने को इस विषय का पूर्ण ज्ञाता समझ लेते हैं । अनेक आदमी थोड़ी देर के स्वाद के लिए खट्टी, चटपटी, मसालेदार खाते हैं, चटकीले, भड़कीले वस्त्र पहिनते हैं जो उनकी तन्दुरुस्ती के लिए हानिकर होते हैं । कितने ही युवक या विद्यार्थी अपनी दूसरी जरूरतों को पूरा करने में कंजूसी करते हुए भी सिनेमा, नाटक आदि में पैसा लुटाते रहते है; बहुत से मजदूर अपना और अपने परिवार का पेट काट कर मादक वस्तुओं के उपभोग में, अपनी गाढ़ी कमाई का खासा भाग नष्ट कर डालते हैं । स्त्रियाँ मेले तमाशों में जाकर चटक-मटक की निकम्मी चीजें खरीद लाती हैं, फिर चाहे गृहस्थी की दूसरी जरूरतें पूरी हों या न हों, या उनके लिये ऋण लेना पड़े । इससे हमारी खपत सम्बन्धी अविवेकता स्पष्ट है ।

आजकल आदमी खपत का उद्देश्य विषय-सुख और विलासिता मानते हैं । विषय-सुख का मतलब यह है कि इस समय सुख मिल

जाय, चाहे पीछे उससे कष्ट ही क्यों न हो। इसके लिए गरीब लोग अपने खाने-पीने में तंगी करके फैशन और शौकीनी में फंस जाते हैं। आज-कल जनता में प्रायः यह विचार धारा फैली हुई है कि नित्य नयी आवश्यकताओं की वृद्धि होती रहनी चाहिए। यही कारण है कि अनेक मादक और दूसरे अनावश्यक और अनुपयोगी पदार्थों की मांग बढ़ती जाती है—शराब, तमाखू, चाय, कहवा, अफीम, पान, तरह-तरह के मसालों आदि का संसार भर में बहुत अधिक इस्तेमाल किया जाता है। कितनी भूमि, कितना श्रम, कितनी पूँजी इनकी पैदावार में लगती है? इसका नतीजा होता है, जनता के स्वास्थ्य, शक्ति और आयु का ह्रास। अगर आदमियों का रहन-सहन सादा हो, उनकी जरूरतें कम हों तो वे उस हानि से सहज ही बच सकते हैं, जो विषय-सुख के लिए उठानी पड़ती है।

जब विषय-सुख के कारण आदमी ऐसी चीज को पसन्द करता, जो बहुत कीमती हो तो उस उपभोग को विलासिता कहते हैं। ऐसा उपभोग धनवान लोग करते हैं। कीमत अधिक होने से साधारण वस्तु भी विलासिता की वस्तु बन जाती है। भारतवर्ष में आम को साधारण फल माना जाता है, लेकिन जब इंगलैण्ड के आदमी उसे अपने यहाँ मंगाते हैं तो उसकी कीमत बहुत बढ़ जाती है। धनवान लोगों को कीमत की क्या परवाह! वे ऐसे पदार्थों के उपभोग में ही अपनी शान समझते हैं, जो दूर देशों से आते हों, जो बेमौसमी हों, जो मंहगी होने के कारण आम लोगों को सुलभ न हों। इंगलैण्ड अमरीका आदि की तो बात ही क्या, भारतवर्ष में कितने ही खाने पीने तक के पदार्थ दूर देशों से डिब्बों में वैज्ञानिक पद्धति से रखे हुए आते हैं। यहाँ विवाह शादी आदि अनेक दावतों में चालीस चालीस तरह के पदार्थ देखे गये हैं। पहनावे का भी विषय कम चिन्तनीय नहीं। एक एक साड़ी या सूट कई कई सौ रुपये तक के होते हैं। शौकीन धनी लोगों के सजा शृङ्गार का क्या ठिकाना! उनका अधिकतर समय है ही किस बात के लिए! बहुत

सी जगह लोगों के भोजन और कपड़े के लिए बेशुमार प्राणियों को हर रोज़ हत्या की जाती है, और कितने ही आदमी केवल इस काम में लगे रहते हैं कि वे अपने यहाँ के या दूर-दूर के थोड़े से विलासिता-प्रेमियों की जीभ के स्वाद या पोशाक की सजधज के लिए पशु पक्षियों को मारते रहें।

हमें खास विचार यह रखना चाहिए कि चीजों के इस्तेमाल से हमें अधिक से अधिक टिकाऊ सुख संतोष और तृप्ति मिले। इसलिए हमें विषय-सुख और विलासिता के पीछे न पड़ना चाहिए। दिखावे; शौकीनी या फैशन की चीजों का इस्तेमाल छोड़ दिया जाय, और ऐसी चीजों का इस्तेमाल भी जहाँ तक हो कम किया जाय, जिनसे हमारी कार्य-कुशलता तो कम बढ़ती है और खर्च बहुत अधिक होता है, जैसे मामूली मजदूर के लिये साइकल। कुछ चीज़ों का इस्तेमाल अनावश्यक होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से किया जाता है, जैसे विवाह-शादी और जन्म-मरण सम्बन्धी बहुत सा खर्च। इसे जहाँ तक हो घटाने की कोशिश करनी चाहिये। मादक पदार्थों का सेवन आदमी देखा-देखी करने लगते हैं; फिर उनकी आदत पड़ जाती है। हर देश में सरकारी और गैर-सरकारी प्रयत्न ऐसा होता रहना चाहिए कि नागरिकों की आदतें बचपन से ही अच्छी पड़ें, और इन बातों में धन नष्ट न हो।

सारांश यह कि आर्थिक आवश्यकताओं पर रोक थाम रहनी चाहिए। जीवन-रक्षा और निपुणतादायक पदार्थों का उपयोग काफी किया जाना चाहिए, बनावटी चीजों का इस्तेमाल कम करना चाहिए। हम दूसरों के हित की अवहेलना न करें, समाज में सब को सुखी बनाते हुए हम सुखी रहें

उत्पत्ति या पैदावार—ऊपर बताया जा चुका है कि बहुत से आदमियों के रहन-सहन में दिखावा, कृत्रिमता या शौकीनी अधिक होती है। उन्होंने अपनी ज़रूरत बहुत बढ़ा रखी हैं। इसलिये राष्ट्रों की बहुत सी ताकत ऐसी चीज़ें पैदा करने में लगती हैं, जो जरूरी या उपयोगी

नहीं होती। आदमियों के जीवन में समय और सादगी हो तो यह ताकत बचाई जा सकती है, और इससे दूसरे हितकर या फायदे के काम किये जा सकते हैं।

खासकर इस समय विविध राष्ट्रों के आपस में मुकाबले या प्रतियोगिता के कारण पैदावार के काम में बड़ी बाधा पड़ रही है। कितने ही देश ऐसी ऐसी चीजें बनाने की फिक्र में रहते हैं, जिनके लिए उनके पास कुदरती साधन या सुविधाएँ नहीं होती। मिसाल के तौर पर इंगलैण्ड और जापान कपड़े का धन्धा चलाते है, हालांकि उनकी हद में या उनके नज़दीक के किसी देश में भी रूई पैदा नहीं होती; स्काटलैण्ड जूट की बोरियाँ बनाता है, और वह जूट पूर्वी बंगाल पाकिस्तान जैसे दूर के देश से मंगाता है। आज दिन संसार की इस अर्थ-व्यवस्था में कोई ठीक क्रम या योजना नहीं है। हर राष्ट्र को गरम देशों से कच्चा माल झपट लेना है, और अपनी पूँजी लगाने के लिये नये-नये बाजार या मंडियाँ ढूढनी हैं, और इसलिए उसे उपनिवेश और अधीन राज्य प्राप्त करने हैं। कभी कभी कुछ चीजों की जरूरत से ज्यादह पैदावार हो जाती है, और मूल्य गिर जाता है। कभी आदमियों को चीजों की कमी और मंहगाई का कष्ट उठाना पड़ता है। पैदावार केवल नफे के लिये की जाती है। अगर किसी चीज़ के पैदा करने में नफा नहीं रहता तो उसे बनाया ही नहीं जाता, चाहे वह कितनी ही जरूरी क्यों न हो अक्सर दूर-दूर के धनी लोगों के लिए विलासिता का सामान तैयार किया जाता है, जबकि देश के गरीब आदमी ऐसी चीजों के लिये भी बिलखते रहते हैं, जो जिन्दगी कायम रखने के लिए जरूरी हैं। उत्पत्ति के लिए आवश्यक होने पर भी पूँजी हमेशा अपने स्थान पर नहीं ठहरती; जब उसे दूर देशों से नफे की गन्ध आती है, वह वहाँ की सस्ती और असङ्गठित मजदूरी से लाभ उठाने के लिए उड़ जाती है।

मौजूदा हालत में कई कोठियाँ या कम्पनियाँ एक ही चीज

तैयार करती हैं। इसका नतीजा होता है—प्रतियोगिता या मुकाबला, सामान की बरबादी, ऊपरी खर्च का बढ़ना, कभी रोजगार की भरमार और कभी रोजगार की इतनी कमी कि बेकारी फैल जाय; बेईमानी का व्यवहार, झूठ, मुकदमेबाज़ी, धोखेबाजी, निराशा और आत्महत्या। पूँजीपति अपने नफ़े के वास्ते कोकेन और अफ़ीम पैदा करते हैं जिनसे लोगों का स्वास्थ्य नष्ट होता है; वे युद्ध का सामान बड़े पैमाने पर तैयार करने में संकोच नहीं करते, जिससे राष्ट्रों के जन धन का नाश होता है।

इन सब बातों का अन्त होना चाहिए। हमें केवल उन्हीं चीजों की उत्पत्ति करनी चाहिए जो समाज के लिए हितकर हों; हमें अपना हित सारे समाज के हित से अलग न समझना चाहिए। यही नहीं; जरूरत है कि अधिकाधिक आदमी अपने निजी स्वार्थ को छोड़ कर अपनी मेहनत पूँजी या भूमि का लाभ मानव समाज़ को पहुँचावें; वे ऐसी चीजें बनायें और ऐसे अविष्कार या अनुसंधान करें जिनसे चाहे उन्हें कुछ आमदनी न हो पर समाज की मौजूदा जरूरतें पूरी हों। अनेक देशों में थोड़े से साधु-संत, महात्मा, लेखक, शिक्षक, चिकित्सक आदि अपना जीवन मानव समाज के अर्पण करते रहते हैं; अच्छा हो, हम अपने सब साधन विश्व-राज्य को सौंप दें, और विश्व-राज्य के निरीक्षण और नियंत्रण में समस्त मानव समाज की जरूरतों को नजर में रख कर माल पैदा किया जाय; संसार भर के खेतों, बगीचों, खानों, जंगलों, और कारखानों आदि का प्रबन्ध व्यापक दृष्टि से हो, जिस से सभी नागरिकों को भोजन वस्त्रादि मिले, जिसके लिए आज दिन करोड़ों आदमी चिन्तित रहते हैं, और जिसे कितने ही पर्याप्त मात्रा में नहीं पा सकते।

उत्पादन में सहकारिता के सिद्धान्त का ज्यादह से ज्यादह उपयोग किया जाय। बिजली आदि की शक्ति खूब बड़े परिमाण में पैदा करके उसे जगह जगह पहुँचाया जाय। ऐसा होने पर बड़े बड़े कारखाने

कायम करने की खास जरूरत न रहेगी; मजदूरों के तंग, गंदे अस्वास्थ्यकर स्थानों में रहने, धन का असमान बँटवारा होने नगरों की संख्या और उनकी आबादी बढ़ने आदि की समस्याएँ पैदा न होंगी, छोटे-छोटे घरेलू उद्योग धंधों के बढ़ने और फैलने के लिए मैदान बढ़ेगा, और दुनिया सब आदमी स्वतन्त्रता-पूर्वक अपना काम करते रहेंगे

विनिमय और व्यापार—यहाँ तक हमने चीजों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार किया है। जो माल पैदा किया जाय, उसे लोगों को उचित मूल्य में और शुद्ध रूप में देना, जिससे उन्हें किसी तरह का धोखा या हानि न हो, और उनकी आवश्यकताओं की अच्छी तरह पूर्ति हो, कुछ कम महत्व का काम नहीं है। यह एक बड़ा सेवा-कार्य है। पर आज-कल की अवस्था में व्यक्तियों के समान राष्ट्र भी इस दिशा में अपने कर्तव्य का पालन नहीं करते। वे अपने अपने स्वार्थ-साधन में लगे रहते हैं। व्यापार के नाम पर धोखाधड़ी और लूट-खसोट होती है। माल बेचनेवाले आदमी दूसरे लोगों को तरह-तरह से धोखा देते हैं, उसी तरह राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों की आँखों में धूल झोंकने में कुछ बुराई नहीं समझते। हर राष्ट्र चटकीला भड़कीला, कम टिकाऊ, माल तैयार करके दूसरे देशों का धन अपहरण करना चाहता है। वह दूसरे देश वालों को शौकीन, नशेबाज और लड़ाकू बनाने में ही अपना लाभ समझता है, क्योंकि इस तरह वह उनके हाथ अपनी विलास-सामग्री, मादक पदार्थ और शस्त्रास्त्र बेच सकता है।

इस समय राष्ट्रों को दूसरों के हिताहित से कुछ प्रयोजन नहीं। हर राष्ट्र अपने पड़ोसी का कुछ विचार किये बिना ही अपने आपको धनवान बनाने की कोशिश करता है। यदि वह दूसरों के बारे में कुछ सोचता है, तो उन्हें गरीब बनाने, और उन्हें चूसने की ही बात सोचता है। हर राष्ट्र औद्योगिक और उन्नत देशों से आने वाले माल पर टैक्स बैठाता है, जिससे उस की उस प्रकार की वस्तुओं को संरक्षण मिले; इस तरह वह व्यापार के स्वतंत्र क्रम में बाधा डालता है। हर राष्ट्र अधिक से

अधिक माल दूसरे देशों के हाथ बेचना, और दूसरों का कम से कम खरीदना चाहता है। कोई यह नहीं सोचता कि यदि सभी माल बेचने वाले हों, तो खरीदेगा कौन ! बेचने और खरीदने का संग-साथ है, परन्तु इन राष्ट्रों की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। ये अपना माल बेचना चाहते हैं, दूसरे का खरीदना नहीं चाहते। यह स्वार्थपूर्ण नीति साम्राज्यवाद की सगी बहिन है, जिसका नतीजा यह कि युद्ध महायुद्ध और विश्व-युद्ध होकर रहते हैं। इस विषय मे पहले भी लिखा जा चुका है।

विनिमय और व्यापार के सिलसिले में मुद्रा या सिक्कों के बारे में भी कुछ विचार होना ज़रूरी है। जब कि राज्य छोटे-छोटे हों, और हर राज्य का अपना अलग सिक्का हो तो व्यवहार में कितनी कठिनाई होती है, यह सब जानते हैं। एक यात्री ज्यों ही अपने राज्य की सीमा पार कर के दूसरे राज्य में दाखिल होता है, उसे अपने सिक्कों का विनिमय दूसरे राज्य के सिक्कों में कराना होता है; तब ही वह वहाँ ज़रूरी चीज़ खरीद सकता है। इस राज्य से आगे बढ़ने पर फिर उसके सामने सिक्के की समस्या खड़ी होती है। ऐसे राज्यों के व्यापारियों और सरकारों को भी निरंतर मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। परन्तु यदि इन सब राज्यों का एक संघ बन जाय या सब राज्य एक बड़े राज्य के अंग बन जायँ तो यह कठिनाई हट जाती है।

एक राज्य चाहे जितना बड़ा हो, उसमें मुद्रा की विभिन्नता से होने वाली कठिनाइयां नहीं रहतीं। कुछ राज्यों के आपसी समझौते से उन सब राज्यों के आपसी व्यवहार की मुद्रा की समस्या हल हो जाती है। जनवरी १९४४ में 'अमरीका में छपे हुए नोट' शीर्षक लेख में श्री आर० एल० स्टिफन्स ने लिखा था कि संयुक्तराज्य अमरीका में बहुत से चार स्वतन्त्रता-नोट छापे गए हैं। चार स्वतन्त्रताओं—भाषण-स्वतन्त्रता धार्मिक स्वतन्त्रता, अभाव से स्वतन्त्रता और भय से स्वतन्त्रता—के प्रतीक ये नोट विभिन्न देशों में भेजे जाएँगे जिस देश में इस्तेमाल के

लिए ये नोट भेजे जायंगे उस देश का नाम इन पर अंकित रहेगा। एक ही तरह का नोट विभिन्न देशों में इस्तेमाल होगा। यह फरक होगा कि किसी पर लिखा रहेगा—'फ्रान्स में जारी किया गया' और किसी पर रहेगा—'नारवे में जारी किया गया' इत्यादि। सब नोटों पर लिखा रहेगा—'एलाइड मिलिटरी करेन्सी' जिसका अर्थ हुआ मित्र राष्ट्रों के सैनिक नोट। चारों तरह की स्वतन्त्रताओं का नामोल्लेख पुश्त के चार कोनों पर किया रहेगा। ये नोट खास कर सेना के लिए होंगे।"

इससे पाठकों को विश्व-मुद्रा के सम्बन्ध में अनुमान करने में बहुत कल्पना शक्ति लगानी नहीं पड़ेगी। ये नोट अमरीका में छपे थे भावी नोट विश्व-राज्य की राजधानी में छपेंगे, जिसके सम्बन्ध में हमने अपना विचार दूसरी जगह प्रकट किया है। इन नोटों का नक्शा उस समय के कलाकार तय करेंगे। फिर भी यह कहा जा सकता है कि एक ही तरह के नोट संसार भर में चलेंगे। उन में यह फरक तो होगा कि जिस-जिस देश में वे काम आवेंगे, उस-उस का नाम उन पर अंकित रहेगा, पर उस समय के देश (विश्व-राज्य के प्रान्त) बड़े-बड़े होंगे। इन नोटों पर चार स्वतन्त्रताओं की बात छपी थी किन्तु आजकल की व्यवस्था के अनुसार इन शब्दों का अर्थ सब देशों की जनता के लिए बराबर नहीं है, यह स्वतन्त्रताएँ केवल गोरे रंग वालों के लिए, या प्रबल राष्ट्रों या उनके साथियों के लिए हैं, दूसरे राष्ट्र इनसे वंचित हैं। भावी नोटों के समय यह हालत न रहेगी। सम्भव है उनमें एक तरफ बीच में एक शब्द 'मानवता' अंकित रहे, और दूसरी ओर चार कोनों पर लोकतंत्र, आजादी, बराबरी और बंधुत्व छपा रहे, जो विश्व-राज्य के चार आदर्शों के प्रतीक हों इन नोटों पर ज़ो 'मित्र-राष्ट्रों के सैनिक नोट' छपा है, वह उस समय अनावश्यक हो जायगा, क्योंकि वे नोट संसार भर के सब देशों के निवासियों के लिए होंगे, और वे सभी आपस में मित्र होंगे, शत्रु या अमित्र कोई होगा ही नहीं। फिर, जनता अहिन्सा का व्यवहार करने वाली होगी, और उसे सैनिकों की जरूरत न रहेगी। इसलिए वे

नोट इन नोटों की भांति खासकर सेना को देने के लिए न होकर सारी जनता के व्यवहार के लिए होंगे।

बँटवारा—बँटवारे का मतलब धनोत्पत्ति के विविध साधनों के मालिकों में उनकी आमदनी या प्रतिफल बांटना है। इस समय भूमि वाले को लगान, मेहनत करने वाले को वेतन या मजदूरी, पूँजी वाले को सूद, और साहस करने वाले या जोखिम उठाने वाले को मुनाफा मिलता है। आजकल की अवस्था में भूमि, पूँजी और साहस तीनों का अधिकारी एक वर्ग है, और दूसरे वर्ग के पास केवल अपनी मेहनत रहती है। भूमि और पूँजी पर कुछ लोगों का व्यक्तिगत अधिकार होने से धन के बँटवारे में बड़ा अनर्थ हो रहा है। जमींदार, तालुकेदार, पूँजीपतियों और कारखाने वालों के अनुचित कारनामे और अन्याय जग जाहिर हैं। बड़े बड़े धर्मात्मा बनने, दान-पुण्य करने और हरि कीर्तन कराने वाले साहूकारों के यहां जगह-जगह चरबी के घी का व्यापार होते पाया गया है। उन्हें कसाईखाने और वेश्यालय चलाने में भी कोई संकोच नहीं होता। वे गरीब विधवाओं, बेकारों और मजदूरों से गंदे और तङ्ग मकानों का भी किराया खूब कसकर वसूल करते हैं। वे अपने खराब जहाजों को इसलिए चलता कर देते हैं कि उन्हें बीमें की भारी रकमें मिल जायँ, बेचारे नाविकों की जान भले ही जाय।* वे लगान या कर्ज की किस्त न चुका सकने वाले गरीब किसानों की फ़सल और पशु तक नीलाम करवा डालते हैं। वे हज़ारों और लाखों मज़दूरों को सता-सता कर उन से इतना अधिक काम लेते हैं कि वे बेचारे जल्दी ही अपनी जान से हाथ धो डालते हैं। वे अपनी सरकारों को राष्ट्रीय युद्ध के समय रुपया भी, सूद की

*ऐसी भी घटनाएँ सुनने में आयी हैं कि पुरुष ने अपनी स्त्री का एक भारी रकम का बीमा करा दिया, और पीछे कुछ रहस्यपूर्ण उपायों से उसे मरवा दिया, जिससे बीमे की रकम अनायास ही मिल जाय।

निर्धारित दर पर, उधार देते हैं, जब कि उनके कितने ही देश-बन्धु अपनी जान होम देते हैं। वे दूसरे देशों को खुले-आम या लुक-छिप कर हथियार और दूसरी युद्ध-सामग्री बेचते हैं, चाहे वे यह भी जान लें कि शस्त्रास्त्र खरीदने वाला देश निकट भविष्य में उनके ही राष्ट्र से युद्ध छेड़ने वाला है।

इस तरह का पूँजीवाद मानव जाति की बहुत सी योग्यता और प्रतिभा का अपहरण करता और सभ्यता की प्रगति को रोकता है। आजकल साहित्य, विज्ञान या कला आदि की उच्च शिक्षा पाने के लिए रुपया जरूरी है, योग्यता या बुद्धि नहीं। पैसे वाले परिवारों के बालक कूढ़ मगज होते हुए भी दूर-दूर के विश्वविद्यालयों में पहुँचते हैं, और निर्धनों के हजारों होनहार लड़के ऐसे अवसरों से वंचित रहते हैं। प्रकृति देवी अच्छे-अच्छे मस्तिष्क बहुत काफी तादाद में पैदा करती है, पर पूँजीवाद उनमें से बहुत कम का उपयोग होने देता है। इस तरह यह पद्धति आध्यात्मिक और मानसिक हत्या की दोषी है।

पूँजीवाद समाज की आर्थिक जरूरतों को पूरा नहीं कर सकता। इसका फल व्यापक बेकारी होती है। संयुक्तराज्य अमरीका नया महाद्वीप है; वहाँ भूमि और मेहनत दोनों सुलभ हैं। यह आशा की जा सकती है कि वहाँ लोगों को रोटी कपड़े की कमी न होगी। परन्तु पूँजीवाद ने प्रकृतिके इस भंडार कोभी बेकारों और भूखों की बस्ती बना डाला है। वहाँ के बेकारों की तादाद डेढ़ दो करोड़ तक पहुँच जाती है। *

लाखों नागरिक इतनी दरिद्रता का जीवन व्यतीत करते हैं कि उनकी मामूली ज़रूरतें भी पूरी नहीं हो पाती, या उन ज़रूरतों को पूरा (करने के लिए उन्हें राज्य की ओर से कायम किये हुए दरिद्रालयों 'पुअर-हाउस') या समाज के दान धर्म आदि का आसरा तकना

* यह बात उस देश की है, जो स्वाधीन है, फिर पराधीन देशों में इस तरह के पूंजीवाद से कितनी हानि हो सकती है, यह आसनी से समझ में आ सकता है।

पड़ता है। इस तरह दूसरों को चूसने वाली श्रेणी के आदमी मज़दूरों और किसानों की मेहनत पर फलते-फूलते रहते हैं; उनमें से कुछ की आमदनी तो अपने श्रमजीवी भाइयों से हज़ारों गुनी होती है। पाठक किसी भी देश में मिल-मालिकों और मज़दूरों की आमदनी की तुलना करके देख सकते हैं।

इस विषमता और शोषण का नतीजा यह होता है कि जब कि मुट्ठी भर आदमी विलासिता और ऐयाशी का जीवन बिताते हैं, अधिकांश जनता घोर दरिद्रता और गंदगी में दिन काटती है। श्रमजीवियों के परिवार, उनको स्त्री बच्चे कैसे तंग और अंधेरे मकानों में गुज़र करते हैं सर्दी से बचने के लिए उनके पास कितना कम सामान होता है, उनका भोजन कितना अशुद्ध, मिलावटदार, और घटिया होता है, और इन बातों के फल स्वरूप उन्हें किस तरह एक के बाद दूसरे भयंकर रोगों का शिकार होना पड़ता है, यह यहाँ विस्तार से लिखने की ज़रूरत नहीं। उनकी हालत किस्से कहानियों की कल्पना से भी अधिक आश्चर्यजनक है।

आजकल की आर्थिक व्यवस्था ने व्यक्तियों के ही भ्रातृभाव और समता को नष्ट नहीं कर रखा है, राज्यों में भी विषमता का भयंकर प्रचार कर रखा है। कुछ राष्ट्रों का बड़े-बड़े उपनिवेशों और अधीन देशों पर अधिकार है। वे उनके धन से बहुत अधिक धनवान हो गए हैं। कुछ राष्ट्र अपनी प्राकृतिक सुविधाओं के कारण भी सम्पत्तिवान होते हैं। इसके विपरीत, दूसरे देश अपनी भौगोलिक प्रतिकूलता से, या दूसरे राष्ट्रों से चूसे जाने के कारण बहुत अधिक निर्धन हैं। संसार धनी और निर्धन देशों में बँटा हुआ है। सन् १९४७ में संयुक्तराज्य अमरीका में हर आदमी की औसत सालाना आमदनी ४६४३) रु० और भारत में सिर्फ २१३) रुपए थी। यह कैसी घातक विषमता है!

धन के बँटवारे के सही सिद्धान्त समानता और बंधुत्व हैं। समानता

का अर्थ यांत्रिक या कृत्रिम समानता नहीं है, जैसे सब की बराबर आमदनी हो। सामाजिक समानता का अर्थ यह है कि सब को अपना व्यक्तित्व अपने उच्च आदर्श के अनुसार विकसित करने का, और जैसा सुखमय और पूर्ण जीवन व्यतीत करने के वे योग्य हों वैसा जीवन बिताने का, समान अवसर मिले। परिवार में इस नियम का पालन होता है; हर बालक, बालिका को उसकी आवश्यकतानुसार भोजन वस्त्र और शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाता है। इसी तरह हर व्यक्ति को अपने विकास के लिए राज्य से सब ज़रूरी चाजें और मदद मिलनी चाहिए।

पिछले वर्षों को आर्थिक स्थिति ने सब देशों में आजकल की पूँजीवादी पद्धति की व्यर्थता और बेहूदगी अच्छी तरह साबित कर दी है। ब्राजील से कहवा और अंगरेजी बन्दरगाहों से संतरे और मछलियाँ नष्ट करने का समाचार आता है। संसार में करोड़ों लोगों को भरपेट भोजन न मिलते हुए भी अमरीका में गेहूँ की फसल घटाने की कोशिश की जा चुकी है? क्यों? इसलिए कि भाव चढ़ जाय। यह क़ीमत, मजदूरी, और मुनाफे के दाव पेंच हमें कहीं का न छोड़ेंगे। इस आर्थिक विषमता को दूर करना ही होगा।

वर्तमान पूँजीवाद का अन्त कैसे हो? पहले बताया जा चुका है कि इस पूँजीवादी व्यवस्था का खास दोष यह है कि इसमें पैदावार केन्द्रित हो जाती है; पैदावार के साधनों के स्वामी राष्ट्र के कुछ इने गिने व्यक्ति होते हैं। ऐसी आर्थिक व्यवस्था को अन्त करने के दो ही उपाय हैं—(१) छोटे-छोटे घरेलू उद्योगों को बढ़ाया और फैलाया जाय (२) उत्पादन का काम व्यक्तियों द्वारा न होकर राज्य का स्वामित्व हो। कुछ सज्जन इन में से पहले उपाय को महत्व देते हैं कुछ दूसरे को। इस विषय पर बहस करने का यहाँ स्थान नहीं है। दोनों विचार-धाराओं का समन्वय हो सकता है, और गृहोद्योगवाद और समाजवाद दोनों का ठीक-ठीक उपयोग करके आजकल के पूँजीवाद को समाप्त किया जा सकता है। विश्व-अर्थनीति के लिए यह करना बहुत ज़रूरी है।

सत्ताइसवाँ अध्याय

विश्व-संघ का शासन

—:०:—

"स्वराज्य उसको कहते हैं जिसमें त मनुष्यों की सम्मति से राष्ट्र का पालन किया जाता है, और जिसका राज्य-शासन उदार और व्यापक वृत्ति से चलाया जाता है। इस स्वराज्व-शासन के लिए विशाल दृष्टि वाले, सब के साथ मित्रवत् व्यवहार करनेवाले और दिव्य ज्ञान से युक्त ये तीन प्रकार के लोग ही योग्य हैं।"

—ऋगवेद ५।६६।६

सब से अच्छा राज्य वह है, जिसमें कम-से-कम शासन हो।

पाठकों को इस अध्याय के पढ़ने में जल्दी न करनी चाहिए। इसके लिए उन्हें अपनी मनोभूमि तैयार करनी चाहिए। जिन्होंने पिछले अध्यायों को ध्यान से पढ़ा है, वे सहज ही बातों को समझ लेंगे, जिन पर हमें यहाँ विचार करना है। विश्व-राज्य या विश्व-संघ की बातें सोचने के लिए हमें अपने वर्तमान धरातल से ऊंचा उठना चाहिए, और, विश्व-राज्य के योग्य बनने की कल्पना करनी चाहिए। अपने नगर या प्रान्त की तो बात ही क्या, हम किसी भी राज्य या राष्ट्र के नागरिकों को पराया या गैर न समझें। हम सब के हितों और उचित स्वार्थों का पूरी तरह ध्यान रखें इसका यह मतलब नहीं कि हम अपने पास वालों के प्रति कर्तव्य का पालन न करे। मतलब केवल यह है कि हमारा स्थानीय प्रेम (अपने परिवार, जाति, नगर या राज्य का प्रेम) विश्व-प्रेम में बाधक न हो।

विश्व-राज्य की सरकार—विश्व-राज्य-की सरकार कैसी होगी, यानी उसके मंत्रिमंडल के सदस्य, और सभापति (विश्वपति) कैसी काबलियत वाले होंगे, इस पर विचार करने के लिए यह ध्यान में रखना ज़रूरी है कि विश्व-राज्य को कैसे काम करने हैं। आजकल शासन का मतलब दमन, हिन्सा और कूटनीति है, भावी विश्व-राज्य में उसका मतलब सेवा सहयोग और प्रेम होगा। विश्व-राज्य अपने नागरिकों, की शिक्षा और सुधार की तरफ़ सब से ज़्यादह ध्यान देगा। उनका उद्देश्य यही नहीं होगा कि नागरिक ज़िन्दा रहें, बल्कि यह होगा कि वे सुख और शान्ति से रहें। वे ऐसा जीवन व्यतीत करें, जो मनुष्यों के योग्य हो। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए स्वाभाविक है कि राज्य के मंत्री और प्रमुख अधिकारी उच्च कोटि के त्यागी और परोपकारी हों, और सब कर्मचारी विवेकी, गम्भीर और वैज्ञानिक तर्कशील। विश्व-राज्य में सबसे अधिक योग्यता उस मनुष्य में मानी जायगी, जिसमें यथेष्ट ज्ञान के अलावा सेवा और प्रेम की भावना अधिक हो। ऐसे लोग नागरिकों के उत्तम और पूर्ण जीवन व्यतीत करने में हर तरह सहायक होंगे।

विश्व-राज्य का शासन लोकतंत्र तो होगा ही, जिसका अर्थ है, जनता का शासन, जनता द्वारा और जनता के लिए। लोकतन्त्र से जनता को तरह-तरह के नागरिक गुणों का अभ्यास होता है। जानकारी, आज़ादी, आत्म सम्मान, सहिष्णुता, लोकसेवा की भावना, और राजनैतिक निर्णय की शिक्षा के लिए लोकतन्त्र सब से अच्छा विद्यालय है। इससे लोगों की बुद्धि का विकास होता है, और उन्हें जनपद या पंचायती राज्य के लिए त्याग करने की शिक्षा मिलती है। अच्छे शासन की सबसे अच्छी कसौटी धन जन की वृद्धि नहीं है, बल्कि लोगों का चरित्र और व्यक्तित्व है। सबसे अच्छा शासन वह है, जिससे पुरुष और स्त्रियाँ बहुत अच्छी बनती हैं। इस नैतिक कसौटी से लोकतंत्र सब तरह की शासन-पद्धतियों में सब से अच्छा ठहरता है।

लोकतंत्र में शासन जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा होता है। चुनाव के तरीके में इस समय कई दोष हैं, इसलिए लोकतंत्र का असली मतलब पूरा नहीं हो रहा है। इन दोषों के मुख्य कारण ये हैं:—(१) धन का गलत बँटवारा; यानी कुछ लोगों का बहुत अधिक धनी होना, और चुनाव में या कानून बनाने में गरीब लोगों का मत खरीद सकना। (२) शिक्षा की कमी, खास कर नागरिकता के भावों की कमी, जिससे बहुत से आदमी अपना फर्ज और जिम्मेवारी नहीं समझते। (३) नैतिक भावों की कमी; लोगों में स्वार्थत्याग और लोक-सेवा की भावना काफी प्रबल न होना; विश्व-बंधुत्व की भावना का विशाल मानव जाति की भलाई के लिए अपने गाँव, शहर या राष्ट्र के स्वार्थ की परवाह न करने की तैयारी कम होना। इन बातों पर पहले विचार किया जा चुका है। विश्व-संघ में इस तरह के दोष उसी तरह हट जायँगे; जैसे सूरज के उदय होने पर अँधेरा मिट जाता है।

विश्व-राज्य के हिस्से—विश्व-राज्य में शासन की दृष्टि से हर देश को एक प्रान्त मान लिया जायगा। हिन्दुस्तानी, चीन, जापान, इंगलैण्ड, जर्मनी, रूस सब विश्व-राज्य के एक एक प्रान्त होंगे। शुरू में, कोई प्रान्त बहुत बड़ा होगा, और कोई बहुत छोटा। कुछ समय बाद प्रान्तों का नया निर्माण होगा। तब उनका आधार राष्ट्रीयता न होगी, बल्कि आर्थिक या राजनैतिक सुविधा होगी। इस समय के, आपस में लड़ने वाले, कई-कई राष्ट्र उस समय आपस में मिल कर विश्व-राज्य का एक एक प्रान्त बनावेंगे। उस समय बहुत छोटे-छोटे राष्ट्रों का प्रान्तों के रूप में भी अलग अस्तित्व नहीं रह सकेगा, छोटे-छोटे टापुओं की तो बात ही क्या। प्रान्तों का नाम और संगठन सुविधा के अनुसार बदल दिया जायगा। हर नागरिक अहंकार भाव छोड़ कर इस विषय पर उदार और व्यापक दृष्टि से विचार करे।

शासन और व्यवस्थापक-मंडल—विश्व-संघ का हर प्रान्त,

खास कर प्रान्तों प्रान्तों के बीच के सब मामलों में, संघ के अधीन होगा। मुख्य सत्ता ('सावरेनटी') संघ की ही होगी। अपने भीतरी शासन में हर प्रान्त स्वाधीन या खुदमुख्त्यार होगा। उसे अपने सब नागरिकों में मानवता और विश्वबंधुता का प्रचार करना होगा, और दूसरे प्रान्तों से सहयोग का भाव रखना होगा। हर प्रान्त का शासन वहाँ के सब बालिग पुरुष स्त्रियों के वोट (मत) से चुने हुए प्रतिनिधियों की व्यवस्थापक सभा के फैसले के अनुसार होगा, और यही प्रान्तीय सभा अपने योग्य त्यागशील सेवा-भावी प्रतिनिधि चुन कर संघ की केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा के लिए भेजेगी। जिस तरह अब बम्बई, मदरास जैसे प्रान्तों के प्रतिनिधि भारत की पार्लिमेन्ट में लिये जाते हैं, वैसे ही तब भारतवर्ष के प्रतिनिधि विश्व-संघ के केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल में लिये जायँगे। इस केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल में इस समय के प्रान्तों या छोटे-छोटे देशों को प्रधानता न दी जायगी। यह नहीं होगा कि पांच करोड़ की आबादी वाले इंलैण्ड का भी एक प्रतिनिधि हो और बत्तीस करोड़ वाले का भी एक ही प्रतिनिधि हो; बल्कि संसार भर में हर एक करोड़ आबादी की तरफ़ से बराबर की तादाद में प्रतिनिधि रहेंगे। कम आबादी वाले हिस्सों को इस तरह मिला दिया जायगा कि पास पास के हिस्सों के समूह का कम से कम एक प्रतिनिधि लिया जा सके।

प्रतिनिधियों और अधिकारियों की योग्यता—संघ में कोई भी प्रतिनिधि या अधिकारी अनुदार राष्ट्रीय भावों वाला न होगा। सब मानव जाति के सामूहिक हित का ध्यान रखना अपना कर्तव्य समझेंगे। हर प्रतिनिधि के लिए सब से बड़ी योग्यता उसकी विश्वबंधुत्व की भावना होगी; वह यह अनुभव करे कि मैं मनुष्य हूँ और विश्व-नागरिक हूँ, न कि यह सोचता रहे कि मैं अंगरेज हूँ, मैं जर्मन हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं भूरा हूँ। सारे विश्व के नागरिकों को अपने परिवार के लोगों की तरह प्रेम करने वाला, और उनमें भेद भाव न

रखने वाला, उदार महामना आदमी ही विश्व-राज्य का शासन-भार संभालने योग्य हो सकता है। जरूरत पड़ने पर उसे अपने देश या जाति वालों के खिलाफ फैसला देने या काम करने में कोई संकोच या हिचकिचाहट न होनी चाहिए। वह मानवता के बीच में खड़ी हुई बनावटी दीवारों—रंग, सम्प्रदाय आदि—की परवाह करने वाला न हो। वह सब से समान सहानुभूति रखने वाला, निस्पक्ष और सत्य-प्रेमी हो।

न्याय-कार्य—विश्व-राज्य का हर प्रान्त अपने आन्तरिक शासन में स्वाधीन होगा। पर कुछ बातें ऐसी होंगी, जो सब प्रान्तों को माननी होंगी। सब का मूल मंत्र सहयोग और प्रेम होगा। न्याय या अदालत का काम बहुत सरल होगा। मुकदमेबाजी का प्रायः अभाव रहेगा: कारण इनकी बुनियाद जायदाद या रुपया पैसा है। सम्पत्ति सामूहिक हो जाने पर, और उदार शिक्षा की व्यवस्था होने पर, बहुत सा झगड़ा बखेड़ा खुद-बखुद शान्त हो जायगा। कोई वसीअत करने वाला और वसीअत का धन पाने वाला, चोर, डाकू, लुटेरा, पूँजीपति, कंगाल, हत्यारा, क़र्ज़ा लेने वाला और क़र्ज़ देने वाला, या ग़बन करने वाला, न होगा। इसलिए जेलखाना, वकील, कैद, फांसी, जज और पुलिस की भी ज़रूरत न होगी।

आजकल तरीका यह है कि जिस आदमी के बारे में अपराध करने की आशंका होती है, उसे पुलिस द्वारा गिरफ्तार कराया जाता है, और अदालत में पेश किया जाता है। जिस किसी को अपराधी द्वारा हानि पहुँचती है, वह उस दंड दिलाने की व्यवस्था करता है। इस में बदला लेने की भावना होती है। अपराधी को अपराध करने की प्रेरणा किन कारणों से हुई, उन कारणों को किस तरह दूर किया जा सकता है, और अपराधी का सुधार करने के लिए किन-किन उपायों को काम में लाना चाहिए' इन बातों की तरफ़ ध्यान नहीं दिया जाता। इसलिए एक बार दंड पाया हुआ आदमी बार बार अपराध करता और दंड

पाता हुआ पाया जाता है । श्याम ने मनोहर का खून किया तो श्याम को फाँसी की सज़ा देकर उस का खून समाज की न्याय-व्यवस्था द्वारा किया जाता है । एक की जगह दो की हत्या होती है लाभ किसी को नहीं होता । अपराध-रोग के रोगी की हत्या से अपराध-रोग का निवारण नहीं हो सकता । जब तक रोग के कीड़े मौजूद रहेंगे, रोग बना रहेगा और मौका पाकर बढ़ता जायगा । इसलिए जरूरत है कि रोग का इलाज किया जाय । विश्व-संघ में इस ओर काफी ध्यान दिया जायगा हमें अपराध-रोग को नष्ट करना है, ऐसा होने पर दंड या सजा खुद ही उठ जायगी । दंड देने की हालत में उसे देनेवाले और पानेवाले दोनों का ही पतन होता है । दोनों में पाशविकता या हैवानियत बढ़ती है । निर्दयता का नतीजा कभी अच्छा नहीं होता । जेल, कालापानी और फांसी ने जनता का सुधार न करके भारी हानि ही पहुँचाई और पहुँचा रहे हैं ।*

सेना और पुलिस—राज्य के साथ सेना और पुलिस का सम्बन्ध अटूट माना जाता है । राज्य जितना बड़ा होता है, उतनी ही अधिक सेना की ज़रूरत होती है । राज्य में नागरिकों की शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की कमी कर के भी सेना की ज़रूरत पूरी करने की ओर ध्यान दिया जाता है । आजकल का पाठक राज्य सम्बन्धी किसी योजना को ठीक नहीं समझता, जब तक उस में सेना की पूरी व्यवस्था न हो । पर यह कहाँ तक ठीक है ?

आज कल सेना की ज़रूरत इसलिए होती है कि या तो हमें दूसरे राष्ट्र के हमले का डर होता है, जिसे हमारे देश के धन दौलत का लोभ हो, अथवा, हम खुद लोभवश किसी दूसरे देश पर हमला करके उसे अपने अधीन करने की फ़िक्र में होते हैं । विश्व-सङ्घ कायम हो

*इस विषय पर विस्तार पूर्वक श्री० केलाजी की 'अपराध चिकित्सा' पुस्तक में लिखा गया है ।

जाने पर, जब उस के विविध भागों में आ[illegible] न होगी, लोभ या हिन्सा की भावना न होगी, और सब एक ही राज्य के अंग होंगे तो कौन हमला करेगा, और किस पर हमला होगा? द्वेष भाव या गैरियत का भाव न होगा, इसलिए मारने वाली सेना न होगी, फिर मुकाबला करने वाली सेना की भी क्या ज़रूरत रहेगी!

विश्व-राज्य हिन्सा द्वारा या हिन्सा के आधार पर क़ायम न होगा। प्रकृति ने मनुष्य को काम करने योग्य हाथ पाँव दिए हैं, लेकिन पैने नख, पंजे आदि नहीं दिए। इससे प्रकृति का मनुष्य को आदेश है कि काम करो, लड़ो नहीं; एक दूसरे को जख्मी न करो, किसी की हत्या मत करो। हिन्सा हमेशा न्याय और समानता की दुशमन रही है। जब सब आदमी मेहनत करें और धन पैदा करें तो कुछ लोगों को मेहनत से अलग रख कर उन्हें घातक या हिन्सक हथियार क्यों दिए जायँ! यह हथियारबन्द श्रेणी अन्त में सारे समाज को सताती और उसका शोषण करती है, चाहे उसकी स्थापना किसी भी गरज़ से क्यों न हुई हो। आज-कल की सी पुलिस और सेना कभी उपयोगी संस्थाएँ नहीं हो सकतीं। यदि सब आदमी और औरतें ईमानदारी से काम करें और शान्ति से रहें, तो चोरी या ठगी करने वाला ही कोई न होगा, जिससे रक्षा करने के लिए पुलिस ज़रूरी समझी जाती है। जब पुलिस होती है तो उसकी धाँधली और ज्यादती से लोगों की रक्षा करने के लिए हमें उसका नियंत्रण करने वाली संस्थाएँ चाहिएँ, और फिर उन नियन्त्रक संस्थाओं का नियंत्रण करने वाली संस्था चाहिए इस तरह कहीं अन्त ही होने में नहीं आता।

वर्तमान समय में पुलिस की ज़रूरत ज्यादहतर धनी लोगों की सम्पत्ति की रक्षा के लिए होती है, क्योंकि गरीब ईमानदार आदमियों के पास ऐसा कुछ नहीं होता जिसे चोर चुराना चाहे। यदि सम्पत्ति और श्रम का ठीक-ठीक बँटवारा हो जाय तो चोरों का अस्तित्व मिट जायगा। कोई बच्चा चोर पैदा नहीं होता। चोर और गठकतरे पूँजीवाद

से पैदा होते हैं। सोना और चाँदी, जवाहरात और नकदी, हीरे और मोती चोर और डाकुओं को आकर्षित करते और उनका साहस बढ़ाते हैं। इसलिए व्यक्तिगत या निजी मिलकीयत के हट जाने से, और ठीक-ठीक नैतिक शिक्षा से, यानी हर आदमी के अपनी ज़ायदाद को सब के लिए खर्च करने से, चोर डाकू न रहेंगे, तब पुलिस की भी ज़रूरत न होगी।

नागरिकता—अब हम विश्व-राज्य या विश्व-सङ्घ की नागरिकता के बारे में विचार करें। आदमी के तरह-तरह के समूह होते हैं। वंश और नाते-रिश्ते के आधार पर कुटुम्ब, कबीला, जाति आदि बनती हैं। इस तरह के समूहों से मनुष्य का सम्बन्ध अपने जन्म से होता है। दूसरे समूह आदमी अपनी इच्छा या ज़रूरत के अनुसार बना लेता है। इन समूहों के अनेक भेद हैं—धार्मिक या साम्प्रदायिक, व्यवसायिक या औद्योगिक, साहित्यिक, प्रादेशिक इत्यादि। इन तरह-तरह के समूहों में एकता या सामञ्जस्य कायम करनेवाला मुख्य सूत्र है, नागरिकता। नागरिकता की भावना का क्षेत्र दिन-दिन बढ़ रहा है, लेकिन अभी तक उसका पूरा-पूरा विकास नहीं हुआ है। पहले कहा जा चुका है कि पुराने जमाने में राज्य आम तौर पर छोटे-छोटे होते थे। कुछ तो एक-एक नगर तक ही परिमित थे। इसलिए उनकी नागरिकता का क्षेत्र बहुत सीमित था। फिर इन नगर-राज्यों में भी आम तौर पर स्त्रियों को नागरिक नहीं माना जाता था। इसके अलावा उस समय अनेक दास होते थे, जिन्हें नागरिक अधिकारों से वंचित रखा जाता था। कालान्तर में यह बात नहीं रही, इससे नागरिकता का क्षेत्र बढ़ने लगा।

धीरे-धीरे राज्यों का विस्तार बढ़ा; न केवल प्रधान नगर के नज़दीक के गाँव ही, बल्कि आस पास के दूसरे नगर भी एक ही राज्य के महत्व-पूर्ण हिस्से बनने लगे। राज्य के क्षेत्र के बढ़ने का नतीजा नागरिकता का फैलाव था। आज-कल एक-एक राज्य का क्षेत्रफल लाखों वर्गमील,

और आगादी करोड़ों है। इसलिए नागरिकता का क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है।

कुछ राज्यों ने बढ़कर साम्राज्य का रूप धारण कर लिया है। इससे नागरिकता का क्षेत्र कुछ और बढ़ा है; परन्तु मनुष्य जाति के दुर्भाग्य से, उस अनुपात में नहीं, जिसमें साम्राज्य का आकार-प्रकार बढ़ा है ; क्योंकि साम्राज्य के केवल थोड़े से ही हिस्से स्वाधीन होते हैं कितने ही हिस्से अर्द्ध-स्वाधीन और पराधीन होते हैं। स्वाधीन हिस्से के निवासियों को जो अधिकार साम्राज्य में रहते हैं, वे दूसरे हिस्सों के निवासियों को नहीं होते। साम्राज्य की नागरिकता का अर्थ लोगों के लिए उनके अपने देश की स्वाधीनता या पराधीनता के अनुसार होता है, जैसे ब्रिटिश साम्राज्य की नागरिकता का जो अर्थ केनेडा या आस्ट्रे-लिया के नागरिकों के लिए है, वह मलायावासियों के लिए नहीं। परन्तु कल्पना करो कि हर साम्राज्य के सभी हिस्सों को बराबर की स्वाधीनता प्राप्त हो तो भी असली उद्देश्य सिद्ध न होगा। क्योंकि एक साम्राज्य का नागरिक दूसरे साम्राज्य के नागरिक को पराया, गैर या शत्रु समझता है। उन्हें दुखी देखकर खुश होता है; यहाँ तक कि उन्हें नुकसान पहुँचाने में अपना गौरव या बड़प्पन मानता है। इसलिए साम्राज्य की नागरिकता का आदर्श भी मानव जाति लिये काफी नहीं है।

हमने एक नगर की नागरिकता संकीर्ण समझी, हम आगे बढ़े, राज्य और साम्राज्य की नागरिकता का भी अनुभव करके देख लिया। अब इससे आगे बढ़ने की जरूरत है। समय की पुकार है कि हर आदमी, चाहे वह किसी भी देश का हो, संसार भर का नागरिक माना जाय। वह कहीं जाय कहीं रहे, उसके उचित अधिकारों की सब जगह रक्षा हो। नागरिकों में गोरे-काले का, यूरपियन या एशियाई का, कोई भेद-भाव न हो। नागरिकता राज्य की नहीं, साम्राज्य की भी नहीं, विश्व की होनी चाहिए। इस सिद्धान्त को मानने का आशय यह है कि हमें नीचे लिखी

बातें मंजूर हैं—संसार के सब मनुष्य भाई-भाई हैं; रंग जाति, धर्म, या देश आदि का भेद-भाव ग़लत या बेजा है। ऊँच-नीच या स्पृश्यास्पृश्य की कल्पना निंदनीय है। किसी भी व्यक्ति, संस्था, समूह या देश को किसी भी बहाने अपने अधीन करना घोर अपराध है। परस्पर प्रेम, समानता और सहयोग हमारे जीवन के मूल मंत्र हैं। ऐसे भावों से युक्त नागरिकता निस्सन्देह विश्व का कल्याण करनेवाला होगी।

अधिकार और कर्तव्य—नागरिकता में अधिकारों और कर्तव्य दोनों का समावेश होता है। आज-कल के राज्यों में नागरिक अपने लिए ज्यादह से ज्यादह अधिकार हासिल करने की फिक्र में रहते हैं, फल-स्वरूप तरह-तरह के आन्दोलन होते रहते हैं। कर्तव्यों की बात प्रायः गौण रहती है, यहाँ तक कि भावी विश्व-व्यवस्था की योजना बनानेवालों के सामने भी मुख्य विषय यही होता है कि भविष्य में लोगों के अधिकार क्या होंगे। मिसाल के तौर पर सन् १९४० में इंगलैंड के मशहूर विद्वान एच० जी० वेल्ज़ ने 'लोगों के अधिकारों' के बारे में कुछ विचारपूर्ण लेख प्रकाशित कराए थे। उन्होंने कहा था कि इन अधिकारों को संसार भर के सब राज्यों में कानून का रूप मिल जावे तो विश्व-व्यवस्था बहुत सुन्दर हो जायगी। हर आदमी को अपनी शारीरिक, आर्थिक और मानसिक उन्नति के लिए काफ़ी साधन मिलेंगे, और वह सुख और शांति से जीवन बिता सकेगा। वह सब काम करने के लिए स्वतंत्र होगा, राज्य उसकी स्वतन्त्रता में किसी तरह की बाधा न डालेगा। श्री० वेल्ज ने, बहुत से और महानुभावों से; इन अधिकारों के बारे में, राय मांगी थी। उन्हे जो जवाब मिले, उनमें से महात्मा गांधी के उत्तर की ओर हम पाठकों का ध्यान खास तौर से दिलाना चाहते हैं। वह उत्तर विश्व-संघ की भावना के अनुकूल है। है। महात्मा जी ने लिखा था—

"आपका तार मिला। आपके पांचों लेख मैंने ध्यान से पढ़े हैं। मैं समझता हूँ कि आप बिलकुल ग़लत रास्ते पर हैं। मुझे विश्वास है

कि मैं मनुष्यों के अधिकारों का, आपसे अच्छा नक्शा बना सकता हूँ। लेकिन वह किस काम का? उसका संरक्षक कौन बनेगा? यदि आपका उद्देश्य प्रचार या लोकशिक्षण है, तो आपने उलटे सिरे से काम शुरू किया है। मै सच्चा रास्ता बताता हूँ। आप मनुष्य के कर्तव्यों का एक नक्शा बनाइए और मै निश्चय के साथ कहता हूँ कि अधिकार तो अपने आप उसी तरह प्राप्त हो जायेंगे, जिस तरह सर्दी के बाद बसंत आता है। यह मेरा अनुभव-सिद्ध अभिप्राय है। एक युवक की हैसियत से मैंने अपने अधिकार जमाने की कोशिश की, पर तुरन्त ही मैंने पाया कि अधिकार जैसी कोई चीज़ मेरे पास नहीं। मुझे खुद अपनी पत्नी तक पर कुछ अधिकार हासिल नहीं, इसलिए मैंने अपनी, पत्नी, बच्चों, मित्रों साथियो और समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य खोजना और उसे पूरा करना शुरू किया। फल-स्वरूप आज देखता हूँ कि मेरे हक़ इतने विशाल हैं कि संसार में शायद ही किसी आदमी के हो।"

वास्तव में विश्व-राज्य का काम तभी ठीक तरह चलेगा, जब लोगों में कर्तव्य पालन की भावना भरपूर होगी। इस समय न सर्वसाधारण को, खासकर अन्याय के सन्मुख, अपने ठीक ठीक 'कर्तव्य' की शिक्षा दी जाती है, और न जिन व्यक्तियों या समूहो को आर्थिक या राजनैतिक सत्ता प्राप्त है, वे अपने असली कर्तव्य पालन की ओर ध्यान देते हैं। नतीजा आपसी कलह और कुव्यवस्था होनेवाला ही ठहरा। इसका उपाय यही है कि शुरू से लोगों में कर्तव्य-पालन की भावना पैदा की जाय घर में और बाहर बालकों की शिक्षा का यह आवश्यक अंग हो। इस विषय में विशेष पहले लिखा जा चुका है। जब हम अपने जीवन में संसार भर के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा करने का कार्यक्रम रखेंगे तब विश्व-राज्य के शासन में वे कठिनाइयां या उलझने आने का प्रसंग ही न रहेगा, जिनका आजकल सब तरह के राज्यों को सामना करना पड़ रहा है। विश्व-राज्य एक महान परिवार होगा, जिसके सदस्य एक दूसरे के प्रति प्रेम और सहयोग

का भाव रखेंगे। सुसंस्कृत परिवार में हर व्यक्ति दूसरे की आवश्यकताओं का ध्यान रखता है। विश्व-राज्य रूपी परिवार में भी ऐसा ही होना चाहिए।

विश्व-राजधानी—राज्य होगा तो उसकी राजधानी भी चाहिए। पर विश्व-राज्य की राजधानी आजकल की राजधानियों से उसी तरह अलग ढङ्ग की होगी, जैसे विश्व-राज्य आजकल के राष्ट्र-राज्यों से अलग ढंग का होगा। विश्व-राजधानी में ऊँचे और विशालकाय राजभवनों की जरूरत न होगी, जिनमें जनता की गाढ़ी कमाई की असंख्य सम्पत्ति लगी हो, न वहाँ पुलिस और सेना का ही आतंक होगा, जिसके नागरिकों के मन में भय भरा रहे। शासकों के ऐश्वर्य का प्रदर्शन वहाँ न मिलेगा। वह राजधानी त्यागशील सेवा-भावी कार्यकर्ताओं के अनुरूप शान्त वातावरण में होगी। वहाँ जाने वाले आदमी के मन में विलासिता या वैभव के भावों का उदय न होगा, बल्कि उसमें संयम और सादगी के विचार जागेंगे, उसका हृदय राग द्वेष आदि से मुक्त होकर विश्व-सेवा के लिए तत्पर होगा। इसलिए वहाँ के कार्यकर्ताओं को यह तो कभी शिकायत ही न होगी कि राजधानी का स्थान हमारे देश से बहुत दूर है, या यहाँ हमारे भाई बंधु नहीं रहते। वे कार्यकर्ता सभी जगह अपनेपन का अनुभव करेंगे, और, विज्ञान की सहायता से आने जाने के साधनों की उन्नति होने से दूरी की समस्या तो संसार से बहुत कुछ उठ ही जायगी।

रहा यह कि वह राजधानी होगी किस जगह। राष्ट्र-संघ ने अपने प्रधान कार्यालय के लिए जेनेवा (स्विटजरलैंड) का चुनाव किया था। पर यह जरूरी नहीं कि विश्व-राज्य की राजधानी वहाँ ही हो। यह तो सब देशों के सुभीते और सब की पसन्द की बात है। लाला हरदयाल के विचार से इसके लिए यूनान का एथन्स नगर अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि आजकल की सभ्यता दूसरे नगरों की

निस्वत एथन्स की अधिक ऋणी है; संस्कृति की ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से यह नगर सब से पवित्र यात्रा स्थान है; यह पूरब और पच्छिम के बीच में है; और यह न ज्यादह ठंडा न ज्यादह गरम, बीच की आबहवा वाला है। इस विषय पर मत भेद भी हो सकता है।' श्री० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने 'राष्ट्रीयता के मूल मंत्र' में सारे मनुष्य-समाज का शासन एक ही केन्द्र से होने की बात कह कर लिखा है—"आइए! हम मिलकर आशा करें कि वह केन्द्र जगद्गुरू आर्यावर्त्त के अन्दर मनवंतर पुराण दिव्यमूर्ति हिमाचल की उपत्यका में कहीं पर होगा, जहाँ से एटलांटिक महासागर के इस और उस पार के भूखंडों पर अखंडित राज्य होगा।" लेकिन जैसा हमने ऊपर कहा है, राजधानी के बारे में हमें कोई आग्रह नहीं है; यह तो समय आने पर सब देशों के प्रतिनिधि मिल कर, अपने-अपने पक्षपात और अहंकार तथा अपनी श्रेष्ठता के संकीर्ण मानों से ऊपर उठकर, प्रेम के रंग में रंग कर, सब के सुविधा का विचार करके तय कर लेंगे।



*

अट्ठाइसवाँ अध्याय

विश्व-संघ और अहिन्सा

—:०:—

हमें राज्यों से अधिक आशा नहीं करनी चाहिए। वे एक कुचक्र में फंस गए हैं; एक दूसरे से लड़ते हैं और डरते भी हैं। हमारा काम तो आम जनता में है। हमें किसानों, मजदूरों, वैज्ञानिकों, विद्यार्थियों और शिक्षकों के पास पहुँच जाना चाहिए। आखिर, मजदूर ही हथियार बनाते हैं; वैज्ञानिक उसमें मदद करते हैं; शिक्षक और विद्यार्थी उनका समर्थन करते हैं; और भोली जनता, इसी में हमारा भला है, ऐसा मान बैठती है।

— आचार्य बिनोबा

समाज की प्रगति में तीन हालतें होती हैं। पहली हालत में ज़ंगल कानून का – हिन्सा और स्वार्थ का—दौरदौरा होता है; दूसरी में कानून और निस्पक्ष न्याय का; तीसरी में अहिन्सा और निस्स्वार्थ भाव का अधिपत्य होता है। सभ्य मानव जाति का सर्वोच्च उद्देश्य यही है।

—राधाकृष्णन

हिन्सा और पशुबल के आधार पर कायम हुए राज्यों का अनुभव हम खूब कर चुके हैं; उनका हजारों वर्ष का इतिहास हमारे सामने है। उससे हमें जान लेना चाहिए कि हिन्सा से केवल हिन्सा का ही जन्म होता है, शान्ति का नहीं। और, जब तक शान्ति की सच्ची व्यवस्था नहीं की जाती, तब तक विश्व-राज्य की स्थापन नामुमकिन है।

विश्व-राज्य कायम करने के लिए ही नहीं, उसे बनाये रखने के लिए भी अहिन्सा और प्रेम की जरूरत है। इस बात को अभी बहुत से लोग नहीं समझ पाये हैं। यह स्वाभाविक ही है। जो लोग हिन्सा के वातावरण में जन्मे, जो हिन्सा में पाले पोसे गये, जिन्होंने हिन्सा के विद्यालयों में शिक्षा-दीक्षा पाई, और जो हिंसा के राज्य में रहे, उनसे यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे जल्दी ही अहिन्सा की महान क्षमता को समझ लें, और इसे अपनाने लगें। इस बात को कुछ और अधिक साफ कर देने की ज़रूरत है, ताकि विश्व-राज्य की सब बाधाएँ दूर हो जायँ।

संसार की अधिकांश आबादी अविद्या के अंधकार में डूबी है। माता पिता बाल-मनोविज्ञान से, और बालकों को घरों में दी जाने वाली शिक्षा के सिद्धान्तों से अपरिचित हैं। निर्धन होने के कारण उनके पास बालकों के भरण पोषण के आवश्यक साधनों का भी अभाव है। वे अपनी संतान की स्वाभाविक भावनाओं और शक्तियों का विकास नहीं कर पाते। वे उन्हें हर बात में अपनी इच्छानुसार ही चलाना चाहते हैं, और, जब कभी इसमें कुछ प्रतिकूलता दिखाई देती है तो वे जबरदस्ती से काम लेते हैं। बालक यदि कम खाता है। तो माँ उसे डरा धमका कर ज्यादह खिलाना चाहती है। माँ अपने धंधे में लगनेवाली है, और बालक को नींद नहीं आती, तो माँ उसे मार पीट कर सुलाएगी। बालक के खेल-कूद मे कोई चीज टूट-फूट जाय तो माँ का थप्पड़-घूँसे उस पर पड़े बिना न रहेगा। बात-बात में बालक को माँ बाप के क्रोध और हिन्सा-भाव का शिकार होना पड़ता है।

बालक कुछ बड़ा हुआ, पाठशाला में जाने लगा। उसके अध्यापकों ने शिक्षण-कला की ट्रेनिंग भले ही, पायी हो, और, चाहे सिद्धान्त से यह भी जानते हों कि बालकों को धमकाना डराना या शारीरिक दंड देना बुरा है, पर व्यवहार में आम तौर पर

अध्यापक इस असूल को भूल ही जाते हैं। उस समय उनके मस्तिष्क में यही भाव होता है कि बालकों को ताड़ना देने में बहुत गुण हैं, और लाड़-प्यार में बहुत दोष हैं, इसलिए बालकों की ताड़ना करते रहना चाहिए। उन्हें अंगरेजी कहावत का भाव याद रहता है, जिसका अर्थ यह है कि 'छड़ी को विश्राम देना, बालक को बिगाड़ना है।' बस, अगर विद्यार्थी का किसी निरस विषय में मन नहीं लगता तो अध्यापक अपनी बुद्धि का सहारा न लेकर छड़ी का सहारा लेता है। यदि विद्यार्थी की समझ में कोई पाठ नहीं आता तो उसे छड़ी से याद कराया जाता है; अथवा, कभी-कभी उस पर कुछ जुरमाना कर दिया जाता है, यदि विद्यार्थी कोई ऐसी बात करता है, जिससे अध्यापक की अयोग्यता सूचित होती हो तो गुरू जो आगे-पीछे विद्यार्थी को दंड दिए बिना न मानेंगे। विद्यार्थी-जीवन में हमें बुद्धि, विवेक और प्रेम के बजाय दंड और जुरमाने के शासन में रहना पड़ता है, जो सब हिन्सा के अनेक रूप हैं।

विद्यार्थी स्कूलों कालिजों से छुट्टी लेकर सार्वजनिक कर्तव्य के पालन करने के लिए समाज के आश्रम में आता है। आजकल का समाज पहले से बहुत बदल गया है, पर उसकी नीति अस्पष्ट या छिपी हुई होने पर भी उसका मूल मंत्र 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' ही है। ज़मींदार, तालुकेदार या जागीदार अपने आधीन किसानों को सताते हैं; पूँजीपति श्रमजीवियों को चूसते हैं; जिसका जहाँ बस चलता है वह जबरदस्ती करने से बाज़ नहीं आता। यहाँ तक कि दया धर्म का दावा करने वाले अनेक धर्माधिकारी भी अपने-अपने धर्म का प्रचार करने के लिए लोगों को तरह-तरह के प्रलोलन देने के अलावा कभी-कभी डराने धमकाने या मार पीट करने से नहीं चूकते। सफलता-प्राप्ति के लिए बल और हिन्सा अन्तिम शस्त्र माने जाते हैं।

सबसे बड़ी और व्यापक संस्था, जिससे आदमी को काम पड़ता है, वह राज्य है। राज्य यह एलान करता है कि मैं नागरिकों के लिए

कानून और न्याय का शासन क़ायम करूँगा, 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' की नीति न चलने दूगा। परन्तु उसके इस दावे में क्या तत्व है, जब कि उसका संगठन ही ऐसा हो कि व्यवस्थापक सभाओं आदि में जमींदारों, जागीरदारों और पूँजीपतियों का बोलवाला हो; शासन में कूटनीति से काम लिया जाता हो, दूसरे राज्यों का जन धन हड़पने में हिन्सा से परहेज न किया जाता हो, जब कि युद्ध करने में उसे गौरव मालूम होता हो, और जब कि नित्य नई सन्धि करना, और प्रतिज्ञाएँ करना और नित्य ही उन्हें तोड़ना मामूली बात समझी जाती हो।

ऐसे चौमुखी हिन्सा के वातावरण में जीवन व्यतीत करनेवालों को अहिन्सा और प्रेम की शक्ति में श्रद्धा या विश्वास होना बहुत कठिन है। परन्तु वे तनिक विचार करें तो हिन्सा की असफलता उन्हें साफ़ नज़र आ जायगी। संसार का इतिहास देखिए। मानवता युद्धों के कारण कराहती रही है, सुख शान्ति हमसे दूर-दूर ही रहे हैं; बारबार जन धन की कुर्बानी करते रहने पर भी मनुष्य को शान्ति नहीं मिल पाई।

हम यह भूलते नहीं हैं कि इतिहास में कभी-कभी पीड़ित वर्ग ने हिन्सा से भी अपने अत्याचारियों के विरुद्ध सफलता प्राप्त की है; पर ऐसी मिसालों से तो इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं, जिनमें सशस्त्र युद्ध में न्याय और सत्य की पराजय हुई, और अन्यायी का बल, संगठन और अत्याचार और भी अधिक बढ़ा। फिर, सशस्त्र युद्ध में, जिसकी पराजय होती है, वह तो पराजित होता ही है; असल में देखा जाय तो जीतने वाले को भी बहुत नुकसान पहुँचता है, भले ही अपनी जीत के नशे में वह उसका विचार न करे। हमारा आशय यहाँ उस नैतिक पतन से है, जो शस्त्र-धारण और हिन्सा के साथ अनिवार्य है। अनेक बार यह देखा गया है कि जिन लोगों ने जनता की रक्षा के नाम से हथियार उठाए थे, वे ही विजयी हो जाने पर, जनता की रक्षा का ध्येय छोड़

कर, उसके भक्षक बन बैठे। जनता ने अनुभव किया कि उसके नेता, धोखा देनेवाले साबित हुए और उसी समय से जनता दूसरी क्रान्ति की तैयारी करने लगी। फ्रांस ने अठारहवीं सदी के अन्त में शासकों के अत्याचार से तंग आकर बोरबोन वंश को हटाने के लिए नेपोलियन का स्वागत किया था। नेपोलिन ने हिन्सा के जोर से लोगों की इच्छा पूरी की, बाद में वह खुद ही उन्हें तकलीफ देनेवाला बन गया। यह है हिन्सा का नतीजा। हिन्सा ने पहले सफल होकरभी आखिर में असफलता दी। इसके विरुद्ध अहिन्सा या शान्तिवाद कभी असफल नहीं होता। जब उसे प्रत्यक्ष सफलता नहीं मिलती तब भी वह अहितकर नहीं होता। वह अपने पीछे द्वेष, दुर्भावना, या बदला लेने की विरासत नहीं छोड़ता। और, अगर वह प्रत्यक्ष में सफल हो जाय तो कहना ही क्या है!

इन बातों को ध्यान में रखते हुए हमें अपना कर्तव्य निश्चित करना चाहिए, और ठीक-ठीक तय की हुई नीति से फिर विचलित न होना चाहिए। शक्ति, लोभ और घृणा से भरे हुए इस अपूर्ण समाज में हिन्सा कभी-कभी आंशिक विजय प्राप्त कर लेती है। परन्तु हमें उसके प्रलोभन में फँसकर पूर्ण और स्थायी सफलता के आदर्श को नहीं भुला देना चाहिए। हमें दूर तक की बात सोचनी है, हमें कल के बाद आने वाले दिन, परसों, और उसके बाद आने वाले दिनों के लिए, बिना हिंसा के, निर्माण कार्य करना है।

संसार में कुछ आदमी वह कार्य करते हैं, जो उनके दल के लिए अच्छा दिखाई देता है, कुछ उसे पसन्द करते हैं जो इससे बेहतर हो। हमें तो दूर तक देखकर सर्वोत्तम से प्रेम करना चाहिए, और चाहे जो हो, उस पर दृढ़ रहना चाहिए।

सब अन्यायों की जड़ संगठित हिन्सा है। युद्धों और विजयों ने मानव जाति को स्वामी और दासों में, सामन्तों और किसानों में, पूँजीपतियों और मज़दूरों में, और साम्राज्य-शासकों और प्रजाजनों में

बाँट दिया है। शुरू में कुछ आदमी विरोधी कबीलों या उपजातियों से लड़ने के लिए अलग कर दिए गए थे। ये लोग योद्धा या सिपाही कहलाने लगे। शान्ति के समय ये अपने ही समूह के आदमियों में लूट मार करने लगे। धीरे-धीरे इनका अलग दल या जाति बन गई। मामूली जनता इनकी गुलाम हो गई, वह इनकी अधीनता में रहने लगा। कुछ योद्धा दूसरे कबीलों को पराजित कर उनमें शासक, भू-स्वामि या सेनापति बन कर रहने लगे। इस लूटमार की पद्धति का मूल हिन्सा थी। सैनिकों ने किसानों और मज़दूरों को टेक्स देने के लिए मजबूर किया। इस तरह ज़ाहिर है कि हिन्सा श्रम की, यानी किसानों और मज़दूरों की, स्वाभाविक शत्रु है। इन दोनो का कभी मेल नहीं हो सकता। हिन्सा के बल पर, साधारण जनता अपने अंतिम उद्धार की आशा नहीं कर सकती! यदि हिन्सा संगठित शक्ति से पूँजीवाद को हटा भी दे तो वह जनता का नए-नए उपायों से शोषण करेगी। सैनिक लोग क्यों मेहनत करने लगे! वे तो जिस तरह हो, काम करनेवालों को, लूटने का आसान रास्ता ही पसन्द करेंगे। इसलिए हमें सब तरह सेनाएँ हटानी हैं, और सेनाओं का संगठन नहीं करना है। युद्धवाद को पूरी तरह हटाकर ही आम जनता का शोषण रोका जा सकता है।

यह ठीक है कि कभी-कभी युद्धवाद से कुछ विजय होती दिखाई देती है, लेकिन इसके बाद दूसरा संकट आ जाता है। इतिहास में इसकी मिसालें भरी पड़ी हैं। यहाँ एक मिसाल देना काफ़ी होगा। अठारहवीं सदी के आखरी हिस्से में फ्रांस की सैनिक शक्ति ने जर्मनी को सताया और नीचा दिखाया था। उससे जर्मनों को अपना राष्ट्र-बल बढ़ाने की उत्तेजना मिली, जिसका सबूत उन्होंने, अलसेस-लारेन पर अधिकार जमाकर, दिया। इस पर फ्रांस के मन में बदला लेने का भाव जागा। फ्रांस और जर्मनी का मनमोटाव बढ़ता गया। फलस्वरूप १९१४-१८ का महायुद्ध आया। उसमें विजयी पक्ष ने जर्मनी को सदा

के लिए ठंडा करने का आयोजन किया। पर हिन्सक मनोवृत्ति से शान्ति का जन्म नहीं हो सकता। जर्मनी में बदला लेने की भावना बढ़ती गयी। सन् १९१९ में शान्ति के नाम पर लगाया हुआ हिन्सा का वृक्ष १९३९ में फल लाया। हम लोगों को अपनी एक ही पीढ़ी में दूसरा विश्व-व्यापी महायुद्ध भोगना पड़ा जो पहले से कहीं अधिक विकराल विनाशकारी और अधिक फैला हुआ था। इस तरह एक युद्ध का परिणाम दूसरा युद्ध, दूसरे का परिणाम तीसरा, और तीसरे के बाद चौथा। यह सिलसिला आगे बढ़ता रहता है। इसका अन्त कैसे हो?

समय समय पर कुछ आदमियों ने युद्धवाद का विरोध किया है। शुरू में ईसाइयों को यह शिक्षा दी जाती थी कि रोम की सेना में नौकरी न करें। पादरी आरोजन ने साहस के साथ कहा था—"हमारे धर्म के शत्रु चाहते हैं कि हम राज्य के लिए शस्त्र धारण करें और आदमियों का बध करें......सम्राट को हमारी जरूरत हो तो भी हम उसकी अधीनता में युद्ध नहीं करते।"

वह सच्ची घटना कितनी शिक्षाप्रद है। रोम की विशाल रंगभूमि में दर्शकों की भीड़ थी। सम्राट तमाशा देखने वाली जनता को खुश करने के लिए कुछ योद्धाओं की, अखाड़े में, आमरण लड़ाई करा रहा था। लड़ने वालों में अपूर्व जोश था, नशा था। यह खूनी द्वन्द रोजमर्रा का तमाशा हो चला था। इसे कौन रोके! इसके विरुद्ध आवाज उठाना भी अपना उपहास कराना, लोगों की घृणा का पात्र बनना था। बड़े बड़े आदमियों में इस साधारण प्रवाह के विरुद्ध जाने का साहस न था। टेलमेंकस नाम का एक पादरी अपने स्थान से उठा और कर योद्धाओं के बीच में जा पहुँचा। दोनों ओर के शस्त्रों से से उसका शरीर छलनी छलनी हो गया। उसके प्राण पखेरू उड़ गये, पर वह अपने बलिदान से उस राक्षसी खूनी तमाशे को बन्द कर गया। भारतीय पाठक जानते हैं कि राणा प्रताप और शक्तसिंह के बीच

घातक द्वन्दयुद्ध रोकने का काम उनके पुरोहित ने अपनी जान पर खेल कर किया था।

दूसरे यूरपीय महायुद्ध में 'सोसायटी आफ फ्रेंडस' (मित्र-समाज) और कई श्रमजीवी संस्थाओं ने सिपाही की वर्दी पहिनने में हिम्मत के साथ इनकार कर दिया था—पागलों की दुनिया में ये ही थोड़े से आदमी अपनी बुद्धिमानी का परिचय दे सके और उस पर अमल कर सके। श्री रतन लाल बंसल ने यूरप के शान्तिवादियों की चर्चा करते हुए (नवम्बर १६४६ के नया हिन्द, में) बतलाया है कि "लड़ाई के जमाने में किसी अंगरेज के लिए अंगरेजों के बीच ज़र्मन जनता के लिए प्रेम-भाव और भाईचारा प्रकट करना कितना मुश्किल था। एक तरफ हर रोज जर्मन जहाज लन्दन पर बमबारी कर रहे थे और ब्रिटिश अखबार जर्मन सेना के अत्याचारों की खबरों से भरे चले आ रहे थे और दूसरी ओर उसी लन्दन में एक मामूली सा लेकिन सच्चा आदमी किसी चौराहे पर खड़ा होकर यह भाषण देने की हिम्मत करता था कि इस बमबारी और अत्याचारों के लिए हमारी सरकार भी उतनी ही जिम्मेवार है, जितनी जर्मन सरकार; और इसका इलाज सिर्फ यही है कि दोनों तरफ की जनता लड़ाई में भाग लेने से इनकार करदे। ये शान्तिवादी लोग दुश्मन समझे जाने वाले मुल्कों की जनता के लिए रेडक्रास सोसाइटियों और ना तरफदार (तटस्थ) देशों की मारफत वक्त-वक्त पर तरह-तरह के उपहार भी भेजते थे और जाहिर करते थे कि आखिर हम सब एक हैं और हमेशा एक रहेंगे। लड़ाई के बाद सैकड़ों अंगरेज़ जर्मनी में और सैकड़ों जर्मन इंगलैंड व दूसरे उन मुल्कों में गये, जिनको लड़ाई के दौरान में उनके देशों की सरकारों ने दुश्मन करार दिया था। उन लोगों ने इन मकानों की मरम्मत की जो उनके देशों के हवाई ज़हाज़ों की बमबारी ने गिरा दिए थे। अपने इन उसूलों के लिए शान्तिवादियों को कम कीमत नहीं चुकानी पड़ी। जनता से तो उनको दुश्मनों के ज़ासूस 'देशद्रोही' वगैरह गालियाँ

और कभी-कभी मार भी सहनी पड़ी, साथ ही सरकार ने भी उनको लड़ाई के खिलाफ प्रचार करने और फ़ौज में भरती न होने के जुर्म में लम्बी-लम्बी सजाएँ दीं और ऐसे लोगों को गोली भी मार दी गई।"

इस तरह शान्तिवाद बिल्कुल नयी बात नहीं है, पर इसे और अधिक हिन्सक सैन्यवाद या युद्धवाद से छुटकारा पाने का और कोई मार्ग है ही नहीं। यह ठीक है कि शान्तिवाद के समर्थकों को अक्सर गिरफ्तार करके खूब सताया जाता है, परन्तु उनके त्याग और कष्ट-सहन से लोगों को बुद्ध, महावीर और ईसा की शिक्षा याद आ जाती है, जिसे वे भूले हुए हैं। संसार को आधुनिक नरमेधों से बचाने के लिए ऐसे आत्मबली, त्यागी पुरुषों की ज़रूरत है।

दूसरे महयुद्ध ने दिखा दिया कि वैज्ञानिक और आर्थिक शक्तिवाले देश युद्ध-कार्य में कहां तक बढ़ गये हैं। कितने ही देशों ने युद्ध के अधिक से अधिक विकसित साधनों से काम लिया और मरने-मारने में किसी तरह कमी नहीं की। फिर भी वे देश अपना स्वाधीनता खो बैठे! यूरप के छोटे-छोटे राष्ट्रों ने एक-एक दिन में दस-दस पंन्द्रह-पन्द्रह करोड़ रूपये से अधिक खर्च कर डाला या फूँक डाला। जब कोई देश सैनिक तैयारी की बात करे तो इन बातों को याद रखे। कोई गरीब देश इतना धन हिन्सक सामग्री में कैसे खर्च कर सकता है! यह भी विचार करना है की हम हजारों लाखों आदमी की हत्या करें और, इतने पर भी देश की रक्षा और स्वाधीनता की गारेंटी नहीं। हमारी हिन्सा को देख विपक्षी में प्रतिहिन्सा की भावना बढ़ती जायगी। इस का अन्त कौन करे!

यह महान कार्य हमारे ही करने का है। उपाय भी सरल ही है। मनुष्य यह पक्का इरादा करले कि हम कभी हथियार न उठायँगे, कभी नहीं लड़ेंगे, और न लड़ने का व्यापार सीखेंगे। यदि हम इतना काम कर लें तो उद्देश्य सिद्ध हो जायगा। हमें व्यापक निशस्त्रीकरण की या स्थायी शान्ति के लिए सब राज्यों की संधि की इन्तजार करने की ज़रूरत नहीं है। वह सब अपने समय पर होता रहेगा पर उसके

होने से लिए यह ज़रूरी है कि हम इस समय व्यक्तिगत रूप से पहले अपने आपको निशस्त्र करदें । हम किसी के लिए भी न लड़े । हमारा मन सदैव शान्ति की बातों को सोचे, युद्ध का कभी विचार न करें । जब कुछ आदमी इस काम में अग्रदूत बन जायँगे तो वे दूसरों को भी इस काम के लिए बुला सकते हैं; जनता उनका अनुकरण करेगी । इसलिए क्यों न हम अहिन्सा का निश्चय करें ! हाँ, हमारी अहिन्सा निर्बलों या कायरों की अहिन्सा न हो, वह वीरों की अहिन्सा हो । शत्रु यह जानले कि हम उसकी अधीनता कभी स्वीकार न करेंगे । उसे यह विश्वास हो जाय कि हमारे कुछ आदमियों को मारने या हमारी भूमि के किसी भाग पर अधिकार करने से उसे कोई लाभ न होगा । इस तरह वह हम पर विजय पाने की कल्पना न करे; हम हिन्सा से बचे और उसे भी हिन्सा से बचावे । निस्सन्देह इसके वास्ते सच्चे कष्ट सहने वाले, और त्यागशील सत्याग्रहियों की जरूरत है ।

शान्ति-सेना के महत्व और शिक्षा के विषय में कुछ विचार-सामग्री देनेके लिए यहाँ महात्मा गाँधी के एक लेख के कुछ अंश का आशय दिया जाता है ।* हिन्सक के सैनिक को सब से बड़ी आवश्यकता शारीरिक बल की होती है, जिस से वह दूसरों को मारने की सामर्थ्य बढ़ा सके । इसलिए बुड्ढे, छोटी उम्र वाले, और रोगी उस से अलग रखे जाते हैं । परन्तु शान्ति-सैनिक में मुख्य गुण यह होना चाहिए कि वह अपने विश्वास के लिए प्राण न्यौछावर कर सके । यह सेना बुड्ढों, औरतों, बच्चों, अंधों, लंगड़ों और रोगियों का भी स्वागत कर सकती है । इस से स्पष्ट है कि इस सेना में अधिक जनता भाग ले सकती है । इस सेना को अस्त्रों की आवश्यकता नहीं होती, इसके सैनिकों को यह सीखना होता है कि रोगियों की सेवा किस तरह की जाय, अपनी जान जोखम में डाल कर भी दूसरों की रक्षा कैसे की जाय । शान्ति-सैनिक

* यह लेख अमरीका के 'दि कोलिअर्स वीकली' के २६ जून १९४३ के अंक में छपा था ।

किसो को भी शत्रु नहीं मानता; जो आदमी उसे शत्रु समझे उनके लिए भी उसके हृदय में प्रेम और दया होती है। वह उनके सुधार या उत्थान का इच्छुक रहता है। शान्ति-सैनिकों में बूढ़े और रोगी आदि सम्मिलित होने की बात ऊपर कही गयी है, फिर भी उन्हें जहाँ तक हो सके, अपना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य सुधारना और ठीक रखना चाहिए। अनेक बार ऐसा प्रसंग आ सकता है कि उन्हें भूख प्यास, सर्दी गरमी, वर्षा, मार पीट या दूसरी तकलीफें सहनी पड़ें। उनमें यह साहस और चतुराई भी होनी चाहिए कि लोगों को आग या बाढ़ आदि से बचा सकें और लड़ाई-दंगे के बीच में पड़ कर लड़नेवालों से शान्त रहने के लिए अनुरोध कर सकें।

हम ऐसे वातावरण में पले हैं, और हमारी विचारधारा और दृष्टि-कोण ऐसे हो गए हैं कि हमें इन बातों में विश्वास नहीं होता। इनमें हमारी रुचि नहीं है। आवश्यकता है कि हम इन पर गम्भीरता के साथ विचार करें। युद्ध मनुष्य जाति के लिए अभिशाप रूप है, इसके निवारण के लिए हर विवेकशील आदमी को भरसक उद्योग करना चाहिए। युद्ध का अन्त युद्ध के द्वारा न होगा, बल्कि हिन्सा से सर्वथा असहयोग करने और मानव प्रेम को अपनाने से ही होगा, जिसके अन्तर्गत एक आवश्यक बात यह है कि ऐसा करने में जो भी कष्ट हम पर आवे, उसे शान्ति और गम्भीरता से सहन किया जाय। यदि मृत्यु का भी स्वागत करना पड़े तो वह सहर्ष किया जाय। विश्व-राज्य की स्थापना तथा सुरक्षा केवल इच्छा से या कहने मात्र से न होगी, इसके लिए ठीक-ठीक कृति चाहिए।

हर युग की कोई एक ज्वलन्त समस्या और एक सर्वोच्च प्रगतिशील आन्दोलन होता है। संसार के भिन्न-भिन्न देशों में कभी बौद्ध, ईसाई या हिन्दू कहलानेवालों पर संकट आया, कभी नास्तिकों का जीवन दूभर रहा, कभी मादक द्रव्य निषेध करनेवालों को कष्ट झेलने पड़े, कभी अपने को प्रजातन्त्री या समाजवादी कहना एक मुसीबत मोल लेना रहा।

इन लोगों को विद्रोही कह कर इन्हें किस तरह सताया गया, उसकी रोमांचकारी कथाओं से इतिहास के पन्ने रँगे पड़े हैं। आज दिन प्रगति और प्रतिक्रिया के बीच की स्पष्ट रेखा शान्तिवाद है। युद्ध मानव जाति का सबसे अधिक घातक और भयंकर शत्रु है। यदि हम इस सम्बन्ध में अपना कर्तव्य पालन न करें तो चाहे हम और कई छोटे-मोटे कार्य कर गुज़रें, हम मानवता के अग्र भाग से पीठ दिखानेवाले ही रहेंगे।

—:o:—

उन्नीसवाँ अध्याय

हमें क्या करना चाहिए ?

अगर कोई आदमी अपने स्वप्नों की दिशा में विश्वास के साथ आगे बढ़ता रहे, और ऐसा जीवन व्यतीत करने की कोशिश करता रहे, जैसा कि उसने सोच रखा है तो उसे वह सफलता मिलेगी, जिसकी मामूली समय में आशा नहीं की जा सकती। —थोरो

हमने इस किताब को पढ़ा संसार में हर रोज लड़ने झगड़नेवाले और भयंकर हत्याकांड रचनेवाले जुदा-जुदा राज्यों की जगह एक विश्व-राज्य हो तो क्या ही अच्छा! क्या हम उसमें कुछ सहायता कर सकते हैं। हम विश्व-राज्य के लिए क्या करें? जिन असूलों से विश्व-राज्य का निर्माण होता है, उन्हें फैलाने और उन्नति देने के लिए हमारा क्या कर्तव्य है?

पहली बात तो यह है कि हमारे अन्दर आशा, विश्वास और उमंग होनी चाहिए। विश्व-राज्य का निर्माण उसी तरह निश्चित या तय है, जैसे आधी रात के घोर अंधकार के बाद सुबह की रोशनी। हाँ, उसकी कल्पना ऐसे लोग नहीं कर सकते, जो रात के अंधकार से घबरा

गये हो। आम लोगों का उसमें विश्वास नहीं होता। जिस युग में हम रह रहे हैं, वह साम्राज्यों के आपसी महायुद्धों की भयंकर घटनाओं और उनके दुष्परिणामों से ओत प्रोत है। संसार की जनता बेहद कष्ट भुगत रही है। जब कि लोगों के प्रिय जनों और प्रिय वस्तुओं का विनाश हो रहा हो तो लोगों का दुखी और परेशान होना स्वाभाविक है। पर यह ठीक नहीं है। विचारवान आदमी को धीरज और गम्भीरता से काम लेना चाहिए। चहुँ ओर की निराशा के वातावरण में भी आशा का परित्याग न करना चाहिए; और, चाहे जैसी परिस्थिति हो, हमें अपने कर्तव्य-पथ पर दृढ़ता के साथ आगे बढ़ते रहना चाहिए।

विश्व-राज्य के काम में एक बड़ी बाधा साम्राज्यवाद है, जो युद्धों के बल पर जिन्दा रहता है। संसार हिन्सा कांड से त्राहि त्राहि कर रहा है। इसका अन्त करने की बहुत सख्त जरूरत है। इसके लिए मानवता-प्रेमी हृदय चाहिएँ, जो खुशी-खुशी अपना बलिदान करने को तैयार हों, उत्सुक हों। दुनिया की सब सरकारें एक दिन निशस्त्र होंगी, पर अभी दुविधा में पड़ी हैं। यही मौका है कि हम लोग व्यक्तियों की हैसियत से अपना कर्तव्य पालन कर दिखायें। किसी को आगे बढ़ना होगा। वह आगे बढ़नेवाले हम ही क्यों न हों! हमें अपने निजी जीवन पर पूरा अधिकार और आजादी है। कोई हमें खेत और खलिहान में, दफ्तर और कारखाने में, जेल और फांसी के तख्ते पर भी शान्तिवाद के असूल पर अमल करने से नहीं रोक सकता, हम नम्रता से, पर दृढ़ता और अभिमान से यह कह सकें कि हमारे दिल से, और हमारे घर से युद्ध सदा के लिये उठ चुका है; परमात्मा करे, यह सब के दिलों और सब के घरों से निकल जाय। बस विश्व-राज्य का रास्ता साफ हो जायगा।

बहस करने वालों का यह सवाल बना ही रहता है कि विश्व-राज्य का निर्माण कब होगा। इसका जवाब यही है कि इसके लिये कुछ परिस्थितियां जरूरी हैं। उन परिस्थितियों का जल्दी या देर

में आना हमारी कोशिशों पर निर्भर है। मानव समाज की प्रगति का हिसाब अंकगणित के प्रश्नों के उत्तर की तरह झटपट और गिन कर नहीं दिया जा सकता। उसमें कमीबेशी की गुंजायश रहती है। यदि सब विचारशील लोग इस काम में जुट जांय, दूरदर्शी और व्यापक दृष्टिकोण वाले महानुभावों के आदेशों का पूरा-पूरा लाभ उठाया जाय, उनके नेतृत्व और पथप्रदर्शन का ठीक ठाक उपयोग किया जाय तो हजारों वर्ष में होनेवाला काम कुछ दशाब्दियों में ही पूरा हो सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चाहे जब हो, विश्व-राज्य का कायम होना लाजमी है। कुछ लोग कह दिया करते हैं कि अगर कोई काम निकट भविष्य में होने वाला नहीं है तो हम उसका विचार, या उस दिशा में कोशिश क्यों करें। परन्तु यह दृष्टि क्षुद्र दृष्टि है। हम उस माली का दृष्टान्त अपने सामने रखें, जो पेड़ लगाता रहता है, यह जानते हुए भी कि इन से छाया और फल उसके जीवन-काल में न मिलेंगे, पर अगली पीढ़ी के काम आयेंगे। हम निष्काम भाव से विश्वबंधुत्व और विश्व-राज्य के पौधों को सींचते रहें, समय आने पर मानव समाज उनके फलों और छाया से लाभ उठाएगा।

हम यह अच्छी तरह समझलें कि हमारे लिये विश्व-राज्य का निर्माण करने के लिए कोई देवता या फ़रिश्ते नहीं आवेंगे। दूसरे लोक के प्राणी आकर यह काम कर भी जायँ तो हमें उससे फ़ायदा नहीं होगा। व्यायाम या वायु-सेवन दूसरा आदमी करे, और स्वास्थ्य हमारा सुधरे, यह कैसे हो सकता है। अपने लिए कल्याण-कारी विश्व-राज्य का निर्माण हमें ही करना है। जिन परिस्थितियों में उसकी स्थापना होगी, उन्हें पैदा करना हमारा ही काम है। हम सोचें कि क्या हमने इस दिशा में आगे बढ़ना शुरू कर दिया है। कुछ महानुभावों ने हमें समय-समय पर मार्ग दिखाया है, और इस समय भी कुछ विभूतियाँ हमारे कार्यक्रम का साफ साफ चित्र हमारे सामने रख रही है। दुर्भाग्यवश हमने उनकी बात सुनने और विचारने से

बहुत दरजे तक इनकार कर रखा है, और कहीं-कहीं उनकी आवाज़ आप लोगों तक न पहुंचने देने की भी व्यवस्था कर रखी है। पर समय आ रहा है, हमें अपनी भूल स्वीकार करनी होगी, इस तरह के विचारकों का संदेश सुनने के लिए उनके पास दौड़ना पड़ेगा हम सच्चे हृदय से उनके आदेश का पालन करें और विश्व-शान्ति और विश्व-राज्य का निर्माण करने में सहायक हों।

हम यह समझ लें कि विश्व-राज्य के अभाव में जो स्थिति है; वह असह्य है। उसमें परिवर्तन होना जरूरी है। यह बात छोटे और बड़े, पुरुष और स्त्री, बच्चे और बूढ़े, किसानों और मज़दूरों, दूकानदारों और कारीगरों सब के दिल में बैठाई जाय और लोकमत तैयार किया जाय। हर मनुष्य अपने आपको विश्वबंधुत्व और विश्व-राज्य की भावना का प्रचारक समझे।

विद्यार्थियों को चाहिए कि वे ज्ञान प्राप्ति के साधनों में यात्रा का भी पूरा-पूरा महत्व समझें; संसार के विविध देशों की यात्रा करें, उनकी भाषाएँ सीखें, विश्व-साहित्य का अवलोकन करें, दूसरे देशों के निवासियों से मेलजोल बढ़ावें, और इस तरह अपने आपको और और अपने साथियों को विश्व-नागरिकता के योग्य बनावें। विद्यार्थियों को इतिहास पढ़ते समय विशेष सावधान रहने की जरूरत है। वे ऐसे इतिहास की भूलभुलैयों में न पड़ें, जो संकीर्ण राष्ट्रवादी लोगों ने लोभ या मोहवश तैयार किये हैं। वे विश्व-इतिहास का मनन करें। वे पिछली शताब्दियों की उन महान क्रान्तियों और संस्थाओं का हाल पढ़ें और सोचें, जिन्होंने भिन्न-भिन्न कौमों का कायाकल्प करके मानवता के लिये कोई विशेष आदर्श प्रदान किया है। हम उन महापुरुषों का जीवनचरित्र पढ़ें, जिन्होंने मनुष्य-जाति के उत्थान में अपने आराम, स्वास्थ्य और जीवन तक को बलिदान कर दिया है। उन्होंने अपने त्याग के बल से बड़े-बड़े सिंहासनों को हिला दिया है।

त्याग की अनुपम शक्ति के सामने साम्राज्यों और पूँजीपतियों की सेनाएँ काम नहीं कर सकती। त्याग सब अत्याचारों का अंत कर सकता है। बस, त्याग की मांग है, धन का त्याग, स्वास्थ्य का त्याग, प्रिय जनों का त्याग और जीवन का त्याग।

आवश्यकता है कि विश्व-शान्ति और विश्व-राज्य हमारे जीवन का लक्ष्य हो। हम इसके लिए मरने को तैयार रहें, इससे बढ़ कर बात यह है कि हम इसी के लिए जीवित रहें। इसके आधारभूत सिद्धान्तों का हम अपने दैनिक जीवन में अभ्यास करें। हम सब को अपना भाई और साथी मानें; यह न हो कि अपने आप को दूसरों से ऊँचा समझें। हम न धनवानों की खुशामद या चापलूसी करें, और न गरीबों से घृणा करें। विलासिता और शौकीनी से हम दूर रहें। हमारा रहन-सहन सादा हो, सबके प्रति हम सहनशील हों, और अपनी राय दूसरों पर जबरदस्ती न लादें। धर्म या राजनीति में जिनसे हमारा मत भेद है, उनके भी अधिकारों का हम आदर करें हममें अपनी ही स्वतंत्रता के लिए उत्साह न हो, हम सबकी स्वतंत्रता की चिन्ता करें, तभी हम विश्व-राज्य की पताका फहराने वाले अग्रदूत हो सकेंगे।

क्या लेखकों और कवियों को भी उनका कर्तव्य याद दिलाने की आवश्यकता है? अनेक लेखकों को अपनी शक्ति का पता नहीं होता। वे धनवानों या सत्ताधारियों के इशारे पर कलम चलाते हैं, घृणा द्वेष और कायरता का वातारण बनाए रखने में सहायक होते हैं। वे अपने पाठकों और श्रोताओं को नवयुग का संदेश नहीं सुनाते, वे इस सृष्टि में कोई गहरा परिवर्तन करने की बात कहते हुए झिझकते हैं। लेखक-भाइयो! तुम पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की चाकरी में कब तक निमग्न रहोगे! तुम्हारे लिए विश्व-राज्य के निर्माण का महान कार्य प्रतीक्षा कर रहा है। इधर-उधर की अनावश्यक और हानिकर बातों को छोड़ कर, विश्वबन्धुत्व का संदेश सुनाने में लग जाओ, अपने लेखों और पुस्तकों में इसी भावना को ओतप्रोत कर दो। तुम कहानीकार

हो या उपन्यासकार, नाटककार हो या काव्य-रचयिता, तुम्हारी हर रचना का मूल मंत्र किसी-न-किसी रूप में विश्व-राज्य की चर्चा हो। तुम बालकों के लिए लिखो या बूढ़ों के लिए, पुरुषों के वास्ते लिखो चाहे स्त्रियों के लिए; याद रखो तुम्हें अपने पाठकों के लिए विश्व-राज्य का महान आदर्श पेश करना है।

यही बात हर अध्यापक, हर उपदेशक, और हर सुधारक को करनी है।

—:o:—

तीसवाँ अध्याय

आत्म-निर्माण

जब व्यवहारों और विचारों में हमारे नेता समाज के पुनर्निर्माण की कोशिश करें तो होशियारी से उन सब प्रणालियों को नष्ट कर देना चाहिए, जो आत्माओं को तुच्छ बनाती हैं, और उनका विनाश करती हैं। उन्हें सब से पहले मनुष्य की आत्मा की उन्नति में पूरी सहायता देनी चाहिए। —सर्वपल्ली राधाकृष्णन

व्यक्ति अपना आत्म-निर्माण करे, संस्था उसमें से आप फूटेगी, और ऐसी ही संस्था स्थायी होगी। —वीरेन्द्र कुमार

पिछले अध्याय में इस बात पर विचार किया गया है कि विश्वराज्य का निर्माण करने के लिए हमें क्या करना चाहिए, उससे भी अधिक महत्व का विषय यह है कि उसके लिए हमें ख़ुद कैसा बनाना चाहिए।

यह बात हृदय में भली भांति धारण करने की है कि हमें संस्थाओं को बनाने से अधिक ध्यान स्वयं अपने आपको बनाने की ओर देना चाहिए। आजकल के युग को संस्था-युग कह सकते हैं। नित्य नई संस्थाएँ बनती हैं। जो आज बनती है, वह कल टूट जाती है। कोई स्थिर नहीं रहती। बात यह है कि इन संस्थाओं के निर्माण करनेवालों में संस्था के प्रति यथेष्ट श्रद्धा, भक्ति, धुन या लगन नहीं होती; वे उसके

नहीं हो रहते। वे बहुधंधी होते हैं, उन्हें अनेक काम करने की चिन्ता होती है, उनमें से कोई एक काम यदि न भी चला तो उन्हें विशेष परवाह नहीं होती, उन्हें उसका अभाव असह्य नह होता। जब संस्थापक का यह हाल हो तो सहायक और सहयोगियों की तो बात ही क्या!

इमर्सन ने कहा है कि 'हर बड़ी संस्था और कुछ नहीं, केवल किसी एक व्यक्ति की लम्बी परछाई है।' संस्थापक का ही चरित्र संस्था में दिखाई पड़ता है। उसके गुण अपने सजातीय गुण वाले दूसरे लोगों को उसकी ओर खींचते हैं। इस तरह एक प्रकार के गुण, कर्म, स्वभाव वाले कुछ व्यक्तियों का सङ्गठन होता है, और ये अपने प्रभाव से दूसरे ऐसे ही कार्यकर्ताओं का सहयोग प्राप्त करते हैं। यह क्रिया उत्तरोतर आगे बढ़ती है, और संस्था का निर्माण हो जाता है। अब यदि केन्द्र में ठीक-ठीक प्रकाश और दृढ़ता नहीं है; हिचकिचाहट, संकोच, शिथिलता, धुंधलापन आदि मौजूद हैं तो ज्यो-ज्यों केन्द्र से आगे बढ़ते जायँगे, अवस्था अधिकाधिक बिगड़ती जायगी। यदि राजधानी में काम क्रोध लोभ मोह का आधिपत्य है, तो दूर-दूर के प्रान्तो में जो भी अन्धकार हो, सो कम है। जिन जीवाणुओं के अन्दर जीवन और ओज नहीं, वे उर्वरा या उत्पादक जीवाणुओ के जन्मदाता कैसे हो सकते हैं!

हमें संस्था बनाने का चाव होता है। हम चाहते हैं कि किसो तरह हमारा भो नाम पाँच सवारो में लिखा जाय। लोग जानलें कि हम में भो कुछ है। बस, हमें यह दिखाने भर की ही फ़िक्र होती है; किसी आदर्श, उद्देश्य या सिद्धान्त-पालन की हमें चिन्ता नहीं होती। हम दूसरो को धोखा देने का प्रयत्न करते रहते हैं। यदि हम सच्चे हृदय से अपनी जाँच करें तो स्पष्ट है कि हमारी इच्छा काम करने की नहीं होतो, केवल यह होती है कि हमारो गिनतो काम करनेवालो में होने लगे। मिसाल के तौर पर हम साहित्यिक बनना नहीं चाहते; उसके लिए जो साधना या तपस्या का जीवन चाहिए, उस से हम कोसो दूर रहते हैं, हम तो चाहते हैं कि किसी दूसरे की कृति या दूसरे के श्रम के सहारे

हमारे नाम से चीज छप जाय. और हम लेखक गिन लिए जायँ। हम कवि के रूप में प्रसिद्ध होना अवश्य चाहते हैं, और इसलिए ऐसे कवि-सम्मेलन में भाग लेने को तैयार रहते हैं जहाँ हमें ख्याति या अच्छी दक्षिणा मिले। वहाँ हम कृषकों या अकाल-पीड़ितों का क्रन्दन भी खूब सुर ताल से सुनावेंगे। परन्तु वास्तव में हम कवि हृदय नहीं चाहते; कवि बनकर दिन रात अपनी आँखों के सामने आनेवाले दीन दुखियों के कष्टों से पीड़ित होते रहना हमें पसन्द नहीं। हम धर्मात्मा बनना नहीं चाहते, क्योंकि यदि वास्तव में धर्मात्मा होंगे तो हमें अपने दीन-हीन भाइयों के दुख दारिद्रय को दूर करने में अपनी समस्त सम्पत्ति लगा देनी होगी, और हमें उनसे अधिक सुखमय जीवन का व्यतीत करने का अधिकार न होगा। यह बात हमारे वश की नहीं। हम तो किसी मंदिर, अनाथालय, आदि में कुछ चन्दा दे देना चाहते हैं, बशर्ते कि वहाँ हमारे नाम का पत्थर लग जाय, या रिपोर्टों या पत्रों में हमारे दान धर्म की विज्ञप्ति की जाय।

किसी खास वाद, धर्म या 'इज्म' में हमें श्रद्धा या भक्ति नहीं। कांग्रेसवाद, गांधीवाद समाजवाद आदि जिस वाद से हमारा स्वार्थ सिद्ध हो, वही हमें प्रिय है। इस समय समाजवादी होने से प्रतिष्ठा पाने की आशा है; बस, खास तरह की पोशाक पहन कर चिन्ह धारण कर, या खास नारे लगाकर, हम समाजवादी 'कामरेड' कहलाना पसन्द करते हैं, पर क्या हम कभी सोचते हैं कि समाजवादी को अपने पास धन सम्पत्ति जोड़ कर रखने की इजाज़त नहीं होती, जब कि देश में अनेक आदमियों को अपने जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक भोजन वस्त्र का भी अभाव हो। समाजवादी की कोई व्यक्तिगत पूँजी, भूमि, जायदाद आदि नहीं होती।

हम विश्व-निर्माण की बातें करने में पीछे नहीं रहते, और सच पूछो तो हमें अपने की ही फ़िक्र रहती है। किस प्रकार हम अधिक से अधिक कीर्ति' यश, सम्पत्ति और सुविधाएँ प्राप्त कर सकें, यही हमारा एकमात्र

लक्ष्य होता है। हम अच्छे से अच्छे सिद्धान्तों की चर्चा करते रहेंगे, पर उससे हमारे किसी स्वार्थ पर आंच न आनी चाहिए।

भला, ऐसे आदमियों से विश्व-निर्माण कैसे होगा? विश्व-राज्य को बातूनी और पाखंडी, घमंडी या अहंकारी व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं। ये उसके नागरिक होने के योग्य नहीं होते। विश्व-राज्य को ज़रूरत है, उन शुद्ध निष्कपट सच्चरित्र हृदयवान सज्जनों की, जिन्होंने काम क्रोध लोभ मोह को जीत लिया हों या जो जीतने का हृदय से प्रयत्न कर रहे हों; जिन्होंने केवल प्रमाणपत्र प्राप्त करने के लिए ही पुस्तकों को कंठ करने या परीक्षाएँ पास करने का कष्ट न उठाया हो, बल्कि जो सांसारिक माप दंड के अनुसार अशिक्षित कहे जाते हुए भी वास्तव में सुशिक्षित हों; जिन्होंने दूसरों पर या प्रकृति पर विजय पाने की अपेक्षा स्वयं अपने ऊपर विजय प्राप्त करने की साधना की हो, और जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को वश में रखने का निश्चय किया हो।

जिन लोगों का चरित्र-निर्माण ठीक रीति से नहीं हुआ है, और जिन्होंने इन्द्रिय-संयम का अभ्यास नहीं किया है, उन की सब शिक्षा दीक्षा व्यर्थ है। वे अपने ज्ञान विज्ञान और शक्ति का सदुपयोग करेंगे, इसका कोई भरोसा नहीं रहता। नीतिकार के शब्दों में उनकी विद्या विवाद के लिए, धन मद या अहंकार के लिए, और शक्ति दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के लिए होती है।* ऐसे लोग किसी भी संस्था या विधान का अनर्थ कर डालते हैं। ऐसे लोगों के कारण ही जनतंत्रवाद असफल कहा जा रहा है, इन्होंने साइन्स अर्थात् विज्ञान को हिन्सा का साधन बना डाला है, ये समाजवाद को भी ठीक तरह काम न करने देंगे। इसलिए इद्रिय-संयम और साधु स्वभाव की अत्यन्त आवश्यकता है, जिससे विद्या का उपयोग विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हो, धन दूसरों की सहायता

* विद्या विवादाय, धनं मदाय, शक्तिः परेषां पर पीड़नाय।
साधोरसाधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय, दानाय च रक्षणाय॥

के लिए हो, और शक्ति दूसरों की रक्षा के काम में आए।

विश्व-राज्य का नागरिक बनने में चरित्र सम्बन्धी थोड़ी सी त्रुटि भी बहुत घातक हो सकती है।

महाभारत-युद्ध के मूल में यह छोटी सी बात थी कि जब दुर्योधन को पांडुओं के विलक्षण महल में जल की जगह स्थल का, और स्थल की जगह जल का भ्रम हुआ तो द्रौपदी ने व्यंग पूर्वक कह डाला कि अंधे की संतान अंधा ही होती है। चरित्र की छोटी-छोटी बातों का कैसा भयंकर दुष्परिणाम होता है! तनिक सी चिंगारी बड़े बड़े भवनों को भस्म कर डालती है! वास्तव में इन बातों को छोटो समझ कर इनकी अवहेलना करना बड़ी भूल है। श्री० शिवनन्दन प्रसाद जी एम० ए० ने ठीक लिखा है "किसी एक द्रौपदी के कुछ असावधान शब्द, किसी एक मंथरा की प्रतिशोध भावना, किसी एक शूर्पनखा की उद्दाम वासना, ऐसी घटनाओं को जन्म देने में समर्थ हैं, जो संसार भर पर अपना प्रभाव डाल सकती हैं, मानव जाति का संहार कर सकती हैं। यदि हम चाहते हैं कि युद्ध न हुआ करे, विश्व-शान्ति के उन्मुक्त आकाश में संग्राम के काले बादल न छाया करे तो हमें भौतिक जीवन की समस्याओं की ओर ही नहीं, अन्तर्जगत् की ओर भी दृष्टि डालनी होगी; क्योंकि इस बाह्य विश्व की सारी घटनाएँ आन्तरिक संसार की छाया मात्र हैं; निराकार भावनाओं, धारणाओं और विचारों के साकार रूप हैं। आज के महायुद्ध का दानव विज्ञान और कल कारखानों द्वारा प्रसूत नहीं है—इन जड़ वस्तुओं में इतनी क्षमता नहीं कि विश्वव्यापी युद्धों को जन्म दे। वर्तमान महायुद्ध के मूल में मानव हृदय की वह अतृप्त लालसा है, वह दुर्दमनीय धन-लिप्सा और अधिकार की प्यास है, जो अपना भीषण रूप पूँजीपतियों की संगठित संस्थाओं के द्वारा (जिसे साम्राज्य कहते हैं) दिखला रही है।*

इससे आत्म-निर्माण और चरित्र गठन का महत्व स्पष्ट है।

---

* 'मानव धर्म' अक्तूबर १९४३।

व्यक्तियों में यह बात जितनी अधिक होगी, उतना ही उनकी संस्थाएँ अधिक सुन्दर, महान और स्थायी होंगी। विश्व-राज्य के लिए इसकी आवश्यकता और उपयोगिता और भी अधिक है। जो व्यक्ति काम क्रोध आदि मन के विकारों को वश में कर लेता है, वह तीनों लोकों में विजय प्राप्त कर सकता है; अर्थात् कोई कार्य उसकी शक्ति से बाहर नहीं रहता। ऐसे ही व्यक्तियों से विश्व-राज्य संगठित होगा। इस लिए स्वामी राम के शब्दों को जरा बदल कर, हमें यह कहना है —

विश्व राज्य के लिए आवश्यकता है :—

निर्माताओं की—दूसरों का निर्माण करने वालों की नहीं, वरन् स्वयं अपना निर्माण करने वालों की।

योग्यता—जिन्होंने प्राप्त की है, विश्वविद्यालय की डिगरियाँ नहीं, परन्तु अपने अहंकार और वासन पर विजय।

आयु—ब्रह्मानन्द की युवावस्था (सांसारिक गणना के हिसाब से वह चाहे पन्द्रह वर्ष की हो, या पिछत्तर अस्सी वर्ष की हो क्यों न हो)

वेतन—आत्म-संतोष।

प्रार्थना-पत्र भेजो—'भिक्षादेही' के शब्दों में नहीं, परन्तु अधिकारपूर्ण फैसले के साथ विश्व के स्वामी को—अपने आप को।

अन्त में निवेदन है कि इस रचना के पाठक और श्रोता आत्म-सुधार और आत्म-निर्माण करते हुए विश्व-राज्य के नागरिक बनने के लिए अधिकाधिक योग्यता का परिचय दें। चाहे उन्हें राष्ट्र-राज्य में रहना पड़ रहा हो, परन्तु वे अपने विविध कर्तव्यों के पालन में भावना विश्व-राज्य की ही रखें। वे यह समझलें कि हम तो अभी से विश्व-राज्य या विश्व-संघ के नागरिक हैं, और हमारा लिखना, पढ़ना, शिक्षा, व्यापार, राजनीति आदि सब कार्य इस दृष्टि से होगा कि वह विश्व-नागरिक द्वारा, विश्व-राज्य के लिए है। जिस प्रभु, परमात्मा खुदा; 'गाड' या किसी दूसरी बड़ी शक्ति या सत्ता में हमें विश्वास है, वह हमें इस सत्कार्य के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन दे। शुभम्

परिशिष्ट—१

संयुक्तराष्ट्र

इस पुस्तक के ग्यारहवें अध्याय में संयुक्तराष्ट्र के विषय में कुछ बातें कही गई है। यहाँ इस संस्था का सङ्गठन तथा इसकी एजन्सियों का कुछ विशेष परिचय दिया जाता है। इसका संचालन उस चार्टर या घोषणा-पत्र के अनुसार होता है, जिस पर २६ जून १९४५ को इसके उस समय के ५० राष्ट्र-सदस्यों ने सानफ्रांसिस्को में हस्ताक्षर किए थे।

उद्देश्य—इस संस्था के उद्देश्य ये हैं:—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना, जनता के समान अधिकारों और आत्मनिर्णय के आधार पर राष्ट्रों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाना, शान्ति-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए अन्य उपाय करना; अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय समस्याओं को सुलझाने में सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से मानव-अधिकारों तथा जाति, भाषा, धर्म अथवा स्त्री-पुरुष के भेदभाव से रहित सब के मूल अधिकारों के प्रति सम्मान उत्पन्न करना, और, इन उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु राष्ट्रों के कार्य में सामंजस्य स्थापित करने के लिए एक केन्द्र-रूप कार्य करना।

संयुक्त-राष्ट्र की नींव इन सिद्धान्तों पर रखी गई:—

सब राष्ट्र-सदस्य सार्वभौम-शक्ति-सम्पन्न और समान हैं।

सब राष्ट्र चार्टर के अनुसार अपने कर्तव्यों का सद्भावना से पालन करने के लिए वचन-बद्ध हैं।

सब राष्ट्र अपने झगड़ों का शान्तिमय तरीके से इस प्रकार फैसला करने के लिए वचन-बद्ध हैं, जिससे किसी प्रकार शान्ति सुरक्षा और न्याय के भंग होने का भय न हो।

अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में कोई राष्ट्र-सदस्य किसी प्रदेश या किसी देश की राजनैतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध न शक्ति का प्रयोग करेगा और न उसकी धमकी देगा और न ऐसा आचरण करेगा जो संयुक्त-राष्ट्र के उद्देश्यों से विपरीत होगा।

जब चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्र कोई कार्रवाई करेगा तो सब राष्ट्र-सदस्य उसे सब प्रकार की सहायता देने के लिए वचन-बद्ध हैं। और वे किसी ऐसे देश को सहायता नहीं देंगे, जिसके विरुद्ध संयुक्त-राष्ट्र शान्ति और सुरक्षा के लिए कोई कार्रवाई कर रहा हो।

शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए जहां तक आवश्यक होगा, यह संस्था व्यवस्था करेगी कि जो देश सदस्य नहीं हैं, वे भी चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करेंगे।

शान्ति-रक्षा के लिए जब तक आवश्यक न होगा संयुक्त-राष्ट्र उन मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा, जो किसी देश के आन्तरिक कार्य-क्षेत्र में आते हैं।

संयुक्त-राष्ट्र के सदस्य सभी शान्तिप्रिय देश हो सकते हैं, जो चार्टर द्वारा निर्धारित कर्तव्यों को स्वीकार करते हैं और जिनको यह संस्था इन कर्तव्यों के पालन करने के उपयुक्त समझती है।

संयुक्त-राष्ट्र का कार्य-क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के सारे क्षेत्र के समान विस्तृत है, इसलिए इसकी व्यवस्था विभिन्न विभागों के रूप में है। चार्टर ने संयुक्त-राष्ट्र के छः प्रमुख विभाग बनाए :—

१—साधारण सभा, (जनरल असेम्बली)

२—सुरक्षा-परिषद्, (सिक्यूरिटी कौंसिल)

३—आर्थिक और सामाजिक परिषद्
(सोशल एन्ड इकनामिक कौंसिल)

४—संरक्षण-परिषद्, (ट्रस्टीशिप कौंसिल)
५—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, (इन्टरनेशनल कोर्ट आफ़ जस्टिस)
६—सचिवालय, (सेक्रेटेरियट)

साधारण-सभा—संयुक्त-राष्ट्र का प्रमुख विचारणीय विभाग साधारण सभा है। अब तक बनाई गई संस्थाओं में से यह संस्था मानव-पार्लिमेंट के समान है। इसका अधिवेशन साल में एक बार होता है और इस चार्टर के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत सभी विषयों पर विचार करने का अधिकार है। इसे संयुक्त-राष्ट्र के दूसरे विभागों के अधिकार और कर्तव्य के सम्बन्ध में भी विचार करने का अधिकार है। राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक सांस्कृतिक और शिक्षा तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने के उद्देश्य से यह सभा स्वयं कार्यारम्भ कर सकती है अथवा संयुक्त-राष्ट्र के दूसरे विभागों तथा सदस्य-राष्ट्रों के पास अपनी सिफारिशें भेज सकती है।

साधारण-सभा में सभी राष्ट्र-सदस्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है और प्रत्येक राष्ट्र को एक मत देने का अधिकार है, यद्यपि वह साधारण-सभा के अधिवेशनों में ५ प्रतिनिधि तक भेज सकता है। सामान्य विषयों में साधारणतः सभा का निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत से लिया जाता है और महत्वपूर्ण विषयों के निर्णय के लिए दो तिहाई मतों की आवश्यकता होती है। ये निर्णय संयुक्त-राष्ट्र के दूसरे विभागों तथा सदस्य-राष्ट्रों के पास सिफारिशों के रूप में भेजे जाते हैं।

सुरक्षा-परिषद् के विचाराधीन विषय या विवाद पर साधारण-सभा बहस तो कर सकती है परन्तु अपना मत उस समय तक नहीं प्रकट कर सकती, जब तक कि उसकी मांग परिषद न करे।

दूसरे विभागों के कार्यों और कर्तव्यों पर विचार करने का अधिकार प्राप्त होने के कारण साधारण-सभा का संयुक्त-राष्ट्र में महत्वपूर्ण स्थान है। सुरक्षा-परिषद् सहित संयुक्त-राष्ट्र के सभी विभाग अपनी वार्षिक और विशेष रिपोर्ट साधारण-सभा को देते

हैं। सभा इन रिपोर्टों पर विचार करती है। सुरक्षा-परिषद् के ६ अस्थायी सदस्यों, आर्थिक और सामाजिक परिषद् के १८ सदस्यों और संरक्षण-परिषद् के आवश्यक सदस्यों का निर्वाचन साधारण-सभा करती है।

सुरक्षा-परिषद् और साधारण-सभा अलग-अलग मत निर्णय करके अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों को चुनती हैं। सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर सभा नये सदस्यों को ग्रहण करती है और प्रधान सचिव (सेक्रेटरी जनरल) को नियुक्त करती है जो सचिवालय (सेक्रेटेरियेट) का प्रबन्ध करता है।

संयुक्त-राष्ट्र का आर्थिक नियन्त्रण साधारण-सभा के हाथ में है, क्योंकि यह बजट को स्वीकार करता है और सदस्य-राष्ट्रों में व्यय को बांटती है। संयुक्त-राष्ट्र का व्यय सदस्य-राष्ट्रों के चन्दे से चलता है।

सुरक्षा-परिषद्—सुरक्षा-परिषद् के ११ सदस्यों में से ४ स्थायी सदस्य हैं और ६ साधारण-सभा द्वारा निर्वाचित होते हैं। सदस्य-राष्ट्रों ने शान्ति और सुरक्षा-व्यवस्था का कार्यभार इस परिषद् पर डाला है। अपने कर्तव्यपालन में सुरक्षा-परिषद् सदस्य-राष्ट्रों की ओर से कार्य करती है, जिन्होंने इसके निर्णय को मानना और उनका पालन करना स्वीकार कर लिया है।

पांच स्थायी सदस्य ये हैं:—चीन, फ्रांस, रूस, इंगलैंड और संयुक्तराज्य अमेरिका। अस्थायी सदस्य दो वर्ष के लिये साधारण-सभा द्वारा चुने जाते हैं। उनका तुरन्त ही पुनः निर्वाचन नहीं हो सकता।

सुरक्षा-परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक मत होता है। कार्यक्रम-सम्बन्धी विषयों का निर्णय ११ सदस्यों में से ७ सदस्यों के बहुमत से हो सकता है। मूल विषयों के सम्बन्ध में भी निर्णय के लिए ७ मतों की ही आवश्यकता होती है, लेकिन इनमें से ५ मत

स्थायी सदस्यों के होने जरूरी हैं। इस प्रकार यदि एक भी स्थायी सदस्य किसी विषय में असहमत हो तो उसका निर्णय नहीं हो सकता। इसे आम तौर पर निषेधाधिकार या 'वीटो' कहा जाता है। जब परिषद किसी विवाद में शान्ति-पूर्ण समझौते की कोशिश करती है तो कोई सम्बन्धित देश उसमें मत नहीं दे सकता।

शान्ति-व्यवस्था के लिए लगातार सावधानी रखना जरूरी है और इस सिलसिले में सुरक्षा-परिषद् को कभी तुरन्त ही कोई निर्णय करना पड़े, इसलिए इसका अधिवेशन स्थायी होता है और इसकी बैठक पखवाड़े में कम से कम एक बार अवश्य होती है। यदि परिषद् चाहे तो इसकी बैठकें मुख्य कार्यालय के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी हो सकती हैं।

सुरक्षा-परिषद् किसी भी ऐसे विवाद या स्थिति की जांच कर सकती है, जिससे दो या अधिक देशों के बीच आपसी संघर्ष बढ़ने की सम्भावना हो। ऐसे विवाद या स्थिति की सूचना परिषद् को इसके सदस्य, सदस्य-राष्ट्र, साधारण-सभा अथवा प्रधान सचिव (सेक्रेटरी जनरल) दे सकते हैं और कुछ हालतों में वे राष्ट्र भी दे सकते हैं, जो संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नहीं हैं।

सुरक्षा-परिषद शान्तिमय तरीके से समझौते की सिफारिश कर सकती है और कुछ हालतों में तो समझौते की शर्तें भी निर्धारित कर सकती हैं।

जब शान्ति भंग होने की आशंका हो अथवा शान्ति भंग हो गई हो अथवा जब आक्रमण हुआ हो, तो सुरक्षा परिषद सुरक्षा और शान्ति की पुनः स्थापना के लिए जरूरी कार्रवाई कर सकती है। इसके अन्तर्गत यातायात, आर्थिक और कूटनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद किया जा सकता है और यदि आवश्यकता हो वायु, जल तथा स्थल सेनाओं का प्रयोग भी किया जा सकता है।

सुरक्षा-परिषद की मांग पर और विशेष समझौतों के अनुसार-

संयुक्त राष्ट्र के सब सदस्य शान्ति तथा-सुरक्षा कायम रखने के लिए सैन्यबल तथा अन्य आवश्यक सुविधाओं देने के लिए चार्टर द्वारा वचनबद्ध हैं। (इन विशेष समझौतों के सम्बन्ध में अभी बात-चीत करनी है।)

सुरक्षा-परिषद् के अधीन एक सैन्यदल-समिति (मिलिटरी स्टाफ कमेटी) है, जिसमें पांचों स्थायी सदस्यों के चीफ आफ स्टाफ या उनके प्रतिनिधि रहते हैं। ये परिषद् को सैनिक विषयों के सम्बन्ध में परामर्श और सहायता देते हैं।

साधारण सभा ने जनवरी १९४६ में अणु-शक्ति समिति (एटामिक एनर्जी कमीशन) स्थापित की थी, जो सुरक्षा-परिषद् के निर्देशों के अनुसार कार्य करती है।

फरवरी १९४७ में सुरक्षा-परिषद् ने शस्त्रीकरण (कन्वेशनल आर्मामेंट) के सम्बन्ध में भी एक कमीशन की स्थापना की थी।

आर्थिक और सामाजिक परिषद्—साधारण सभा के आधीन आर्थिक और सामाजिक परिषद् है। इसका उद्देश्य संसार को अधिक समृद्धिशाली स्थायी और न्यायपरायण बनाना है। यह परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ, समाज, संस्कृति, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा इनसे सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषयों तथा मानव-अधिकारों और मूल स्वतन्त्रता का अध्यन करती है और इन पर अपनी रिपोर्ट और सिफ़ारिशें प्रस्तुत करती है। साधारण-सभा के लिए यह परिषद् इन विषयों के सम्बन्ध में नियमों के मसविदे तैयार करती है। जब आवश्यकता होती है, यह परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को भी बुलाती है। आवश्यकतानुसार सुरक्षा-परिषद् को यह सूचना तथा सहायता भी देती है। साधारण सभा की अनुमति से यह अपने अधिकार-क्षेत्र में सदस्य-राष्ट्रों के लिए सेवा-कार्य की व्यवस्था भी करती है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् के १८ सदस्यों का निर्वाचन साधारण-सभा द्वारा किया जाता है और कार्य के अनुसार समय-समय

पर इसके अधिवेशन बुलाए जा सकते हैं। परिषद् में निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत से होते हैं।

संयुक्त-राष्ट्र की स्थापना से पूर्व विशेष समस्या-सम्बन्धी कई अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं कार्य कर रही थीं। इनमें से कुछ तो कितने सालों से काम कर रही हैं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ जिसकी स्थापना १६१६ में की गई थी और दूसरी संयुक्त-राष्ट्रीय खाद्य और कृषि-संस्था जिसकी स्थापना द्वितीय महायुद्ध के बाद हुई थी। आर्थिक और सामाजिक-परिषद् का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि इन विशेष संस्थाओं का सम्बन्ध संयुक्त-राष्ट्र से बाक़ायदा स्थापित किया जाय और इनके कार्यों में समीकरण उत्पन्न किया जाय।

विशेष समस्याओं तथा विषयों के लिए नई-नई संस्थाओं की आवश्यकता हो सकती है। ऐसी दशा में आर्थिक और सामाजिक परिषद् इनकी स्थापना के लिए प्रारम्भिक कार्य करेगी।

अपने कार्य-संचालन में आर्थिक और सामाजिक परिषद् विशेष कार्यों के लिए कमीशन भी नियुक्त कर सकती है। विशेष विषयों-सम्बन्धी ये छोटे-छोटे कमीशन अन्तर्राष्ट्रीय-क्षेत्र में विशेषज्ञ के समान हैं और अपनी सम्मति परिषद् को देते हैं। आवश्यकतानुसार परिषद् नए कमीशन की नियुक्ति कर सकती है।

विशेष संस्थाओं के प्रतिनिधि आर्थिक और सामाजिक परिषद् की बैठकों में भाग ले सकते हैं, परन्तु इन्हें मताधिकार प्राप्त नहीं हैं। परिषद् गैर-सरकारी संस्थाओं से परामर्श प्राप्त करने की व्यवस्था भी कर सकती है।

संरक्षण-परिषद्—जो देश अभी तक स्वाधीन नहीं हुए थे, उनके सम्बन्ध में चार्टर की एक धारा के अनुसार दो सिद्धान्तों की घोषणा की गई है। इनमें कहा गया है कि इन प्रदेशों के निवासियों के हित सर्वोपरि हैं। जो सदस्य-राष्ट्र इन देशों का शासन-प्रबन्ध करते हैं, वे इन प्रदेशों के सम्बन्ध में कुछ विशेष कर्तव्य स्वीकार करते हैं। ये

कर्तव्य हैं—राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षण प्रगति के लिए व्यवस्था करना, दुराचारिता को दूर करना, अच्छा व्यवहार करना, स्वायत्त शासन का विकास करना, अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शान्ति को सुदृढ़ बनाना और क्रियात्मक कार्यों को प्रोत्साहन देना।

इस घोषणा के अनुसार राष्ट्र-सदस्य जो गैरस्वाधीन प्रदेशों का शासन-प्रबन्ध करते हैं, वे प्रधान सचिव (सेक्रेटरी जनरल) को इन प्रदेशों की स्थिति के सम्बन्ध में रिपोर्ट देंगे। विश्लेषण के बाद ये रिपोर्टें साधारण-सभा तथा अन्य विभागों के सामने विचारार्थ प्रस्तुत की जाती हैं, ताकि संसार को इन प्रदेशों की प्रगति के सम्बन्ध में पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त होती रहे।

चार्टर ने इन प्रदेशों की निगरानी और शासन-प्रबन्ध के लिए संरक्षण-प्रणाली की व्यवस्था की है। जब कोई राष्ट्र-सदस्य किसी प्रदेश को इस प्रणाली के अन्तर्गत देना चाहता है, तो उसे संरक्षण सम्बन्धी समझौता करना होता है। समझौते द्वारा उस राष्ट्र-सदस्य, किसी अन्य राष्ट्र-सदस्य अथवा संयुक्त-राष्ट्र को उस प्रदेश का शासन-भार सौंपा जा सकता है। जिन देशों पर इसका असर पड़ता है, उन्हें समझौते की शर्तें स्वीकार होनी चाहिए और साधारण-सभा की अनुमति प्राप्त होनी चाहिए। सामरिक प्रदेशों के सम्बन्ध में सुरक्षा-परिषद् की अनुमति लेनी चाहिए।

संरक्षण-परिषद् अपना कार्य साधारण-सभा की अधीनता में करती है। इसमें वे सदस्य-राष्ट्र होते हैं :—(१) जो संरक्षित प्रदेशों का प्रबन्ध करते हैं, (२) सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्य जो संरक्षित प्रदेशों का प्रबन्ध नहीं करते; और (३) इतने निर्वाचित सदस्य जिनसे पहले दो प्रकार के सदस्यों में समानता रहे, ये सदस्य तीन साल के लिए साधारण-सभा द्वारा चुने जाते हैं।

संरक्षण-परिषद् उन रिपोर्टों पर विचार करती है, जो शासन प्रबन्ध करतेवाले राष्ट्र पेश करते हैं। यह परिषद् संरक्षित प्रदेशों सम्बन्धी

प्रार्थना पत्रों पर विचार करती है, और समय-समय पर इन प्रदेशों के निरीक्षण के लिए व्यवस्था करता है, तथा संरक्षण-समझौते के अनुसार अन्य कार्य भी करती है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में १५ न्यायाधीश हैं। न्यायाधीश पृथक्-पृथक् देशों के हैं और उन्हें सुरक्षा परिषद् तथा बड़ी असेम्बली चुनती है। न्यायालय के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यों में एक यह भी है कि वह बड़ी असेम्बली तथा सुरक्षा परिषद् को माँगे जाने पर परामर्श दे। इसकी बैठकें हालैंड के हेग शहर में होती हैं।

'इस न्यायालय का कार्य कानून द्वारा संचालित होता है, जो संयुक्तराष्ट्र की घोषणा का एक अंग है। इसलिए संयुक्तराष्ट्र के प्रत्येक सदस्य की पहुँच इस न्यायालय तक है। प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र यदि वह वादी अथवा प्रतिवादी है तो न्यायालय के निर्णय को मानने के लिए वचनबद्ध है।

सचिवालय संयुक्तराष्ट्र का विशाल प्रबन्ध कार्य सचिवालय द्वारा संचालित होता रहता है। इसका काम दूसरे विभागों द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार कार्यक्रम की व्यवस्था करना है। सचिवालय का प्रमुख कर्मचारी प्रधान सचिव है, जिसे सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर असेम्बली, नियुक्त करती है। सचिवालय का कार्य आठ विभागों में विभक्त है। ये क्रमशः (१) सुरक्षा परिषद्, (२) आर्थिक, सामाजिक, (३) संरक्षण, तथा अधीन देशों की जानकारी, (४) कानून (५) सार्वजनिक जानकारी, (६) सम्मेलन, (७) सामान्य, सेवाओं, और प्रबन्ध तथा (८) अर्थ सम्बन्धी कार्यों से सम्बन्ध रखते हैं। सचिवालय के कर्तव्य पूर्ण रूप से अन्तर्राष्ट्रीय हैं। इसका प्रत्येक सदस्य चाहे वह किसी भी राष्ट्र का हो, अन्तर्राष्ट्रीय कर्मचारी है।

सदस्य राष्ट्र— संयुक्तराष्ट्र के सदस्य-राष्ट्र इस समय ये हैं :—

१—अफगानिस्तान
२—अर्जेंटाइना
३—आइसलैंड
४—आस्ट्रेलिया
५—इक्वेडर
६—इंगलैंड
७—ईराक
८—ईरान
९—एथियोपिया
१०—एलसालवाडोर
११—कनाडा
१२—कोलम्बिया
१३—कोस्टारीका
१४—क्यूबा
१५—ग्वाटियाला
१६—चिली
१७—चीन
१८—जेकोस्लेविया
१९—टर्की
२०—डेनमार्क
२१—डोमिनिकन प्रजातंत्र
२२—दक्षिण अफ्रीका यूनियन
२३—नार्वे
२४—निकारागुआ
२५—नेदरलैंड
२६—न्यूज़ीलैंड
२७—पनामा
२८—पाकिस्तान
२९—पेरू
३०—पैरागुए
३१—पोलैंड
३२—फिलिपाइन
३३—फ्रांस
३४—बर्मा
३५—वायलो रूसी सोवियत समाजवादी प्रजातंत्र
३६—वेलजियम
३७—वोलिविया
३८—ब्राज़ील
३९—भारत
४०—मिश्र
४१—मेक्सिको
४२—यमन
४३—युगोस्लाविया
४४—यूक्रेन
४५—यूनान
४६—यूरूगोए
४७—लक्समवर्ग
४८—लिवेरिया
४९—लेबनान

५०—वेजुएला
५१—साउदी अरब
५२—सिरिया
५३—सोवियत समाजवादी प्रजातंत्रों का यूनियन
५४—संयुक्तराज्य अमरीका
५५—स्याम
५६—स्वीडन
५७—हेटी
५८—होंडूरस

संयुक्तराष्ट्र की एजंसियाँ—संयुक्तराष्ट्र ने विविध क्षेत्रों में काम करने के लिए कुछ संस्थाओं से समझौता कर रखा है। इनका क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय होता है, और ये खास-खास विषयों का निश्चित कार्य करती है। इनमें से कुछ के बारे में मुख्य-मुख्य बातें आगे दी जाती हैं:—

(क) अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संस्था—इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय कदम उठा कर मज़दूरी की अवस्था सुधारना उनके ज़ीवन के धरातल को ऊंचा करना तथा उन्हें आर्थिक और सामाजिक स्थिरता प्रदान करना है। इसकी स्थापना ११ अप्रैल १६१६ को हुई थी, जब इसका विधान वार्साई की सन्धि के रूप में स्वीकार किया गया था। इसकी सबसे बड़ी अधिकारी शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कान्फ्रेंस है। इसकी वार्षिक बैठक होती है। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय मजदूरों सम्बन्धी सूचनाओं को इकट्ठा करता तथा उन्हें प्रचारित करता है। यह सरकारों को मजदूर-कानून बनाने में मदद करता है। इसका कार्यालय केनेडा के मांटरियल शहर में है।

(ख) खाद्य और कृषि संस्था—इस संस्था का उद्देश्य, जैसा कि एटलांटिक चार्टर में कहा गया है, संसार में ऐसी शान्ति स्थापित करना है कि सब देशों के लोगों को अभाव से दूर रहते हुए स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन बिताने का आश्वासन प्राप्त हो। इसके कार्य ये हैं; समस्त खाद्य और कृषि सम्बन्धी पदार्थों की पैदावार और बटवारे को उन्नत कर इसमें सुधार करना तथा देहाती लोगों की अवस्था उन्नत करना। यह संस्था १६ अक्तूबर १६४५ को स्थापित की गई थी। मुख्य कार्यालय वाशिंगटन में है।

(ग) शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति संस्था—इसका उद्देश्य राष्ट्रों में सहयोग पैदा कर शान्ति और सुरक्षा के कार्य में हिस्सा बंटाना है ताकि लोगों में न्यायानुसार शासन के लिए भावना तथा मानवीय अधिकारों के और बुनियादी स्वतन्त्रताओं के लिए प्रेम पैदा हो सके। इसकी स्थापना १६ नवम्बर १९४५ को हुई, जबकि लन्दन में तेतालीस राष्ट्रों की एक कान्फ्रेंस ने इसका विधान स्वीकार किया। इस संस्था का कार्य यह है:—संसार के सब देशों में आपस की जानकारी बढ़ाने के कार्यों में सहयोग देना, लोकप्रिय शिक्षा और संस्कृति के प्रचार के लिए लोगों को प्रोत्साहन देना और ज्ञान को बनाए रखना बढ़ाना और फैलाना। इसका मुख्य कार्यालय पैरिस (फ्रांस) में है।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संस्था—इसका उद्देश्य नागरिक उड्डयन सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन, तथा इस विषय के नियमों और धरातलों की स्थापना करना है। यह संस्था अप्रेल १९४७ में स्थापित की गई थी। उस समय तक अट्ठाइस राष्ट्र ७ दिसम्बर १९४४ को शिकागो की नागरिक हवाई कान्फ्रेंस में तैयारी की हुई अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन सम्बन्धी प्रथाओं को स्वीकार कर चुके थे। प्रधान कार्यालय मांटरियल (केनेडा) में है।

(च) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक—इसका उद्देश्य सदस्य देशों के क्षेत्रों के पुनर्निर्माण और विकास में सहायता देना है। इस कार्य के लिए उत्पादक कार्यों में लम्बी मोहलत के लिए पूँजी लगाने की सुविधाएँ दी जाती हैं। इस बैंक का एक उद्देश्य यह भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संतुलित ढंग पर हो, लेनदेन की विषमता दूर हो! यह बैंक २७ दिसम्बर १९४५ को कायम हुआ, जबकि जुलाई १९४४ में हुई ब्रिटेन वुड्स कान्फ्रेंस में तैयार किए गए नियमों और समझौतों को २८ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने स्वीकार किया। बैंक का प्रधान कार्यालय वाशिंगटन में है।

(छ) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष—इस कोष का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सहयोग चालू रखना, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार करना, विनिमय को स्थिर रखना और उसके प्रतिस्पर्द्धा भरे उतार-चढ़ाव को रोकना है। यह कोष अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के साथ २७ दिसम्बर १९४५ को स्थापित किया गया था।

(ज) विश्व-स्वास्थ्य संस्था—इसका उद्देश्य संसार भर के लोगों को स्वास्थ्य के ऊंचे से ऊंचे धरातल पर पहुँचाना है। इसका विधान २२ जुलाई १९४६ को अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य कान्फ्रेंस द्वारा स्वीकृति किया गया था, जिसे आर्थिक और सामाजिक परिषद ने न्यूयार्क में बुलाया था। इस संस्था का प्रधान कार्यालय न्यूयार्क में है।

(झ) विश्व-डाक यूनियन—इस संस्था का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय डाक-यातायात की अनिश्चितता, गड़बड़ और बहुत अधिक मंहगाई को दूर करना है। यह संस्था ९ अक्तूबर १८७४ को बर्न (स्विटज़रलैंण्ड) में हुई एक डाक कन्वेन्शन में स्थापित की गई थी। इसका प्रधान कार्यालय वहाँ ही है।

(ट) अन्तर्राष्ट्रीय तार-संवाद यूनियन—इस का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय तार, टेलीफोन और रेडियो की अनिश्चितता और बहुत अधिक मंहगाई को दूर करना है। यह संस्था ९ दिसम्बर १९३२ को अन्तर्राष्ट्रीय तार-संवाद कन्वेन्शन की मेड्रिड में होनेवाली कान्फ्रेन्स में स्थापित की गई थी। इसका प्रधान कार्यालय बर्न (स्विटजरलैंड) में है।

विशेष वक्तव्य—'संयुक्त-राष्ट्र के सब अंगों तथा उससे सम्बन्धित विविध संस्थाओं के कार्यों का ब्योरेवार परिचय यहाँ देना नहीं है; यह तो एक अलग ही पुस्तक का, और सम्भवतः कई पुस्तकों का विषय है। यह संस्था अपने उद्देश्यों के प्रचार के लिए विविध भाषाओं में उपयोगी साहित्य तथा भाषणों द्वारा शान्ति और सहयोग के लिए लोकमत तैयार करती रहती है। इसकी शाखाएँ, कार्यकर्ता और प्रचारक देश-देश में है। भारत में इसका कार्यालय नई देहली में है।

परिशिष्ट--२

विश्व-संघ में पशु पक्षी

—:-:—

'जो सब प्राणियों को अपने समान समझता है, अर्थात् जो सब से प्यार करता है, वही ज्ञानवान है।'

इस पुस्तक में हमने विश्व-व्यवस्था पर विचार मनुष्य की दृष्टि से किया है। मनुष्य इस सृष्टि का सब से श्रेष्ठ प्राणी है, और उस पर इस बात की जिम्मेवारी है कि वह न केवल अपने सामूहिक और व्यापक हित का विचार करे, बल्कि दूसरे प्राणियों के बारे में भी उदारता और न्याय की भावना का परिचय दे। इसलिए इस बात पर विचार करना जरूरी है कि विश्व-राज्य या विश्व-संघ में पशु पक्षियों की दशा कैसी होगी। ध्यान रहे कि पशु पक्षियों के साथ मनुष्य जो व्यवहार करेगा, उसका असर केवल उन पर ही नहीं पड़ेगा बल्कि स्वयं मनुष्य पर भी पड़ेगा।

क्या पशु पक्षी भी मनुष्य के प्रेम के अधिकारी होंगे? विषय कुछ जटिल और वादग्रस्त है, फिर भी विचारने योग्य है। सभ्यता के शुरू में आदमी ने जब जंगलों को काट कर भूमि साफ की, तो उसने अनेक पशुओं को मारा। उस समय उस के सामने भोजन की बड़ी समस्या मौजूद थी, उसे खेती करने का ज्ञान नहीं था? कन्द मूल फल सब जगह और सदैव काफी नहीं मिलते थे। इसलिए जिन पशु पक्षियों का माँस वह खा सकता था, खा लेता था; और जिनका चमड़ा ओढ़ कर अपनी सर्दी का बचाव कर सकता था, उनकी खाल काम में ले आता

था। पशुओं का इस से अधिक और कुछ उपयोग वह करना ही नहीं जानता था। कुछ पशु पक्षी तो बहुत ही भयानक, जहरीले और हानिकर हैं; आदमी उनका उपयोग अभी तक नहीं जान पाया, जैसे शेर, भेड़िया सांप, मक्खी, मच्छर, दीमक आदि। जब तक आदमी की जानकारी आज कल के परिमित क्षेत्र से आगे नहीं बढ़ती, साधारण आदमी से इन प्राणियों के प्रति विशेष उदारता के व्यवहार की आशा नहीं है। परन्तु कुछ पशुओं के बारे में तो वह जान गया है कि उन्हें मार कर खाने की अपेक्षा, पाल कर रखना अधिक उपयोगी है, किसी से दूध आदि मिल सकता है, और कोई सवारी या माल ढोने आदि के काम में आ सकता है। इस विचार से आदमी ने उनको पालना शुरू किया।

प्रश्न यह है कि जो पशु प्रेम से पाले जा सकते हैं, और आदमी को किसी तरह की हानि न पहुँचा कर उसकी बहुमूल्य सेवा करते हैं, उनके प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए। मनुष्य से उदारता न सही, क्या न्याय की भी आशा न की जाय? बेचारे प्राणी हमारी शरण में आना स्वीकार करलें, और हम उनके साथ विश्वासघात करके अपने स्वार्थ या क्षणिक आनन्द के लिए उनके प्राण लेने की ताक में रहें। क्या यह काम मनुष्य को शोभा देता है? गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि की हत्या करना, क्या उनकी निर्बलता या सुशीलता का अनुचित लाभ उठाना नहीं है। वे हमें अमृत जैसा दूध दें, और हम उनके खून के प्यासे बने रहें! कैसी कृतघ्नता है! इसका तो अन्त होना चाहिए। घोड़े, गधे, खच्चर, ऊँट, कुत्ते, बैल से हम अपनी रोजी कमाते हैं तो भी इनके भोजनादि की हम यथेष्ठ चिंता नहीं करते, बोझा लादते समय हम उनकी शक्ति का विचार नहीं करते, हम उन्हें बुरी तरह मारते पीटते हैं, और उनके बीमार पड़ने पर उनको दवा-दारू का ठीक ठीक प्रबन्ध नहीं करते। क्या इनसान को ऐसा व्यवहार करना शोभा देता है?

और हम अपने मनोरंजन के लिए ही कितने निर्दयी हो जाते

हैं ! हिरण, खरगोश या लोमड़ी का शिकार, घुड़दौड़, बैलों की दौड़, सांड़ों की लड़ाई, मुर्गों या बटेरों की लड़ाई, आदि मनुष्य के काले कारनामे हैं। कितने ही आदमी ऐसी पोशाक पहनते हैं जिस में पर, खाल या चमड़ा लगाने के लिए बेशुमार जानवरों की हत्या करनी पड़ती है। भारतवर्ष में भी कितने ही आदमी मृगछाला और रेशमी कपड़े का, 'पवित्रता' की आड़ में, उपयोग करते हैं।

पशु पक्षियों के प्रश्न का, मांसाहार से बहुत सम्बन्ध है। इस समय संसार के अधिकांश आदमी मांसाहारी हैं; कुछ आदमी सभी तरह का मांस खाते हैं, और दूसरे आदमियों में से कुछ एक तरह के मांस से परहेज करते हैं, और कुछ दूसरी तरह के मांस से। जिन स्थानों की जलवायु या मिट्टी ऐसी है कि अन्न और फल काफी पैदा नहीं होते, वहां आदमियों को मजबूर होकर मांस पर गुजारा करना पड़ता है। परन्तु विज्ञान की उन्नति हो जाने से अब अन्न और फल ऐसे बहुत से स्थानों में पैदा किये जा सकते हैं, जहाँ पहले पैदा नहीं होते थे। और यह आशा है कि धीरे-धीरे उन जगहों में से भी बहुतों में इनकी पैदावार हो सकेगी, जहां अब नहीं हो पाती। इसके अलावा माल ढोने के साधनों की उन्नति हो जाने से यह बात तो अब भी मुमकिन है कि जहाँ यह चीजें पैदा नहीं हो सकतीं, वहाँ दूसरे स्थानों से पहुँचाई जा सकती हैं। आगे ज्यों-ज्यों आने-जाने के साधनों में अधिक उन्नति होगी, इन चीजों को लाने ले जाने का काम और भी आसान हो जायगा, तब उसमें इतनी मेहनत और समय न लगेगा जितना अब लगता है। तब यह काम बहुत ही जल्दी हो जाया करेगा, और लोगों को इस बात से कोई असुविधा न होगी कि कोई चीज उनके यहाँ पैदा नहीं होती, और दूसरी जगह से मँगायी जाती है। इस तरह भविष्य में आदमी को इन चीजों की कमी के कारण मांस खाने की जरूरत न रहेगी। फिर, इतिहास बतलाता है कि मांसाहार की ओर मनुष्य का झुकाव घट रहा है और मनुष्य की रुचि में सुधार हो रहा है। एक

समय था, आदमी दूसरे आदमियों को मारकर उसका मांस बड़े शौक से खाता था, और ताजा खून पीने में बड़ी शान समझता था। अब भी इस तरह के आदमियों के कुछ नमूने मिल सकते हैं, परन्तु वे आदमी ऐसे ही हैं जो सभ्य जनता से दूर एकान्त में या तो घने जंगलो में रहते हैं या पहाड़ी इलाकों में। साधारण तौर से आदमी उस जंगली हालत को छोड़ कर बहुत आगे बढ़ चुका है। आज कल का 'सभ्य' आदमी ऐसी बातों से नफरत करता है। इसी तरह आदमी का ज्ञान बढ़ जाने से अब वह बहुत से पशुओं के पालने के फायदे जान गया है; वह उन्हें मारने के बजाय उनको पालता है. और प्यार से रखता है।

आदमी को और आगे बढ़ना है। अभी वह प्रायः पशुओं का पालन इसलिए करता है कि उसे उनसे दूध मिलता है या वे खेती या सवारी करने या माल ढोने आदि के काम आते हैं। जरूरत है कि आदमी इस स्वार्थ के विचार को छोड़ कर पशुओं के प्रति अपने सच्चे प्रेम का परिचय दे।

पशु पक्षियों को पाल कर रखना भी कहां तक और किन हालतों में ठीक है! हम पशुओं को खाने पीने की चीजें दें और उनके भूख-प्यास के कष्ट को दूर करें, यह तो ठीक है, पर क्या किसी को रस्सी या जंजीर से बांध कर या पिंजरे में बंद करके रखना ठीक है? रस्सी सन की हो या सूत की, और जंजीर या पींजरा लोहे का हो या चांदी का, और चाहे सोने का ही क्यों न हो, बन्धन आखिर बंधन ही है। जो आदमी पशु पक्षियों को बंधन में रखते हैं, वे ज़रा विचार करें कि क्या वे खुद ऐसे बन्धन में रहना पसन्द करेंगे। हम उस आदमी को कैसा समझेंगे जो हमें कैद या बन्धन में रखता है? क्या हम अपनी रोटी कपड़े के लिए या दूसरे सुख के लिए पराधीन होना स्वीकार करेंगे?

आदमी आज़ाद रहना चाहता है और स्वतन्त्रता-प्रेमी होने का

दावा करता है। क्या वह यह नहीं जानता कि पशु-पक्षियों को भी अपनी स्वतंत्रता प्यारी है, और जहाँ तक उनका वश चलता है, वे मनुष्य के अधीन होना नहीं चाहते। मिसाल के तौर पर मथुरा वृन्दावन के बीच जँगल में कुछ बन-गायें यानी जँगली गायें रहती हैं। जब कभी आदमी उन्हें पकड़ने की कोशिश करते हैं तो वे दौड़ जाती हैं, और अगर कोई आदमी उनके पास पहुँच जावे तो उसे सींगों से बुरी तरह मारती हैं। आदमियों ने धोखा देकर और बहुत मुश्किल से कभी-कभी किसी बनगाय को पकड़ने में सफलता प्राप्त की है, इस तरह धीरे-धीरे उनकी संख्या अब बहुत कम रह गई है, तो भी, सैकड़ों वर्ष के घोर संघर्ष के बाद भी, कुछ बनगायें पाई जाती हैं, यह उनके स्वतंत्रता-प्रेम का अच्छा सबूत है। इसी तरह की जँगली गायें कानपुर ज़िले और दूसरी जगहों में भी पाई जाती हैं।

एक और घटना पर विचार कीजिए। एक आदमी को एक पक्षी का रंग रूप तथा आवाज़ बहुत पसन्द आई, और उसने तरह-तरह की कोशिशें करके जैसे-तैसे उसे पकड़ लिया। पक्षी को पिंजरे में रखा गया, और उसे खाने के लिए कई तरह के पदार्थ दिए गए। परन्तु पक्षी ने कोई चीज़ न खाई और भूखा ही रहा। उसके मालिक को बड़ी फ़िक्र थी; कहीं ऐसा न हो कि यह भूख से मर जाय। उसे बड़ी खुशी हुई, जब उसने देखा कि उसी पक्षी की जाति का दूसरा पक्षी वहाँ आने लगा और वह उस पक्षी को खाना खिलाने लगा। परन्तु अगले दिन मालिक को यह देख कर आश्चर्य और दुख हुआ कि उसके पिंजरे का पक्षी मर गया है। उसने एक पक्षी-विशेषज्ञ से इस विषय में पूछताछ की। अन्त में मालूम हुआ कि जो पक्षी खाना खिलाने आया था, वह पींजरे के पक्षी की माँ थी; उसे यह सहन न हुआ कि उसका बच्चा पराधीनता का जीवन बिताए, इसलिए उसने उसे ज़हरीली वस्तु खिलाकर मार डाला। यह है पक्षियों का स्वतंत्रता-प्रेम! वे अपनी संतान को पराधीन रूप में देखने के बजाय उन्हें मार डालना पसन्द करते हैं।

इससे ज़ाहिर है कि पराधीनता उनके लिए कितनी कष्टदायी है।

कई बार देखा गया है कि जो पक्षी कुछ समय पींजरे में रह चुकता है, उसमें अच्छी तरह उड़ने की शक्ति नहीं रहती। इसके अलावा, स्वतंत्र पक्षी गुलामी का जीवन व्यतीत कर चुकने वाले पक्षी को अपने समूह में रखना पसन्द नहीं करते, वे उसे जाति-बाहर कर देते हैं, और मार-मार कर उसे अपने पास से भगा देते हैं। आदमी को चाहिए कि किसी पशु पक्षी को अपने अधीन न करे, सब को स्वतंत्रता पूर्वक जीवन व्यतीत करने का पूरा आनन्द लेने दे। अपने स्वार्थ या मनोरञ्जन के लिए किसी को बंधन में रखना उचित नहीं। जो पशु पक्षी पालतू हैं, और अपनी इच्छा से हमारे पास रहना चाहते हैं, या जिनको छोड़ देने से उनकी जान के लिए कोई जोखम मालूम हो, उन्हें हम भले ही अपने पास रखें। पर और किसी को हम पालने की भी कोशिश न करें, जब कि पालने का अर्थ उन्हें उनकी स्वाभाविक स्वतन्त्रता से वंचित करना है।

कहा जा सकता है कि यदि हम गाय, भैंस आदि को न पालेंगे और बाँध कर न रखा करेंगे तो हमें दूध, दही और घी और इनसे बनानेवाली तरह-तरह की स्वादिष्ट और पुष्टिकारक चीजें कैसे मिलेंगी? और बैल, घोड़े, भैंसे या ऊंट से माल ढोने या सवारी का जो काम लिया जाता है, वह कैसे होगा। इस बारे में हमें अपने मन में साफ़-साफ विचार करना चाहिए। हम उनकी स्वतंत्रता के पक्ष में हैं या नहीं। यदि हम उनकी स्वतंत्रता सच्चे हृदय से चाहते हैं तो उसके लिए हमें अपने स्वार्थ का त्याग करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। दूध दही के अभाव में हमें इन चीज़ों का काम, विज्ञान की सहायता लेकर, दूसरी चीज़ों से निकालना चाहिए, या इनके बिना ही अपना निर्वाह करना चाहिए; इसी तरह सवारी या माल ढोने के दूसरे ढंग निकालने चाहिएँ। इसमें विज्ञान से अच्छी सहायता मिल सकती है, और भविष्य में और उन्नति होने पर वह सहायता और अधिक मिल सकेगी।

हम तो उस सुन्दर भविष्य की आशा करते हैं, जब आदमी को पशु पक्षियों के पकड़ने के लिए उन्हें तरह-तरह के कष्ट देने न पड़ेंगे, और न उन्हें बाँध कर रखने की ज़रूरत होगी। आदमी उन्हें प्रेम से अपनी ओर आकर्षित कर सकेगा। कोई पशु जब चाहे हमारे पास आवे, जब तक चाहे ठहरे, और जब चाहे चला जावे, हमें उसकी स्वतन्त्रता में बाधक न होना चाहिए। यदि हमने अपने मन में प्रेम की भावना खूब विकसित कर ली है तो पशु पक्षियों को स्वतंत्र रहते हुए भी हमारे पास आना जाना और रहना अच्छा लगेगा। अगर वे अपनी इच्छा से खुशी-खुशी हमारे पास रहें, और हम उन्हें प्यार करें तथा खिलावें पिलावें तो उनसे कुछ लाभ उठाने में भी हर्ज नहीं है; बशर्ते कि हमारा उनका सम्बन्ध एक परिवार के सदस्यों की तरह का हो, मालिक गुलाम का नहीं। हम ऐसे चित्र देखते हैं और ऐसी कथाएँ सुनते हैं कि शेर और बकरी एक घाट पर पानी पीते हैं, या शेर और गाय किसी साधु के पास एक साथ रहते हैं। ये बातें चिर काल तक केवल कल्पना में ही न रहेंगी। मनुष्य को इन्हें कार्य रूप में लाना है, इन्हें सची करके दिखाना है। वर्तमान अवस्था में, जब पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के कारण आदमी दूसरे आदमियों को आर्थिक या राजनैतिक दासता में जकड़ रहे हैं, पशुओं की स्वतंत्रता की बात कुछ अनहोनी या अजीब मालूम होगी। परन्तु हम कुछ गहरी दृष्टि से और उदारता से सोचें तो यह ऐसी बात नहीं है। सच्चे मन से प्रेम करनेवाले जब इन बातों का प्रचार करेंगे तो सहज ही और थोड़े ही समय में इसके लिए अनुकूल वातावरण हो जायगा।

यहाँ हम एक घटना का ज़िक्र करना ज़रूरी समझते हैं। कुछ समय हुआ, एक स्वयं सेवक गाँव में गया। एक घर में वह देखता है एक स्त्री अपने स्तन से एक बकरी के बच्चे को दूध पिला रही है। स्वयंसेवक के पूछने पर उस महिला ने कहा कि बकरी मर गई है, और अपने पीछे यह बच्चा छोड़ गई है; अब मैं ही इसकी मा हूँ, जैसे कि मैं

अपनी गोद के दूसरे बच्चे की हूँ। यह है, मातृप्रेम! और, यह है ऊंचे दर्जे का प्रेम, जिसकी सीमा अपनी ही जाति यानी मनुष्य-सन्तान तक परिमित न हो, बल्कि पशु पक्षियों से भी अपने का अनुभव करें।

आशा है, आदमी में प्रेम और दया की भावना बढ़ती जायगी, और वह पशु-पक्षियों के प्रति भी अपने कर्तव्य का पालन करेगा। वह उन्हें भी सुख-शान्ति से और निर्भयता से सृष्टि का आनन्द लेने देगा। जो पशु-पक्षी आज मनुष्य को शिकारी, कसाई या जेलर के रूप में देखते और उससे डरे रहते हैं, वे उसे अपना सहायक और रक्षक मानेंगे। यह विश्व-संघ या विश्व-राज्य कितना सुन्दर होगा, जब मनुष्य का आदर्श केवल मनुष्य मात्र से भ्रातृभाव न होकर प्राणी मात्र से भाईचारा होगा—जब असल में विश्वबन्धुत्व का व्यवहार किया जायगा।

—:०:—